अशोक

यदुनन्दन कपूर
एम. ए. (बी. ए. आनर्स); एम. एड.

प्रकाशक :-
कालिज बुक स्टोर्स
बड़ा बाज़ार-अलीगढ़

प्रकाशक
कालिज बुक स्टोर्स
अलीगढ़

मूल्य छः रुपया

मुद्रक
रामा कृष्णा प्रेस,
कटरा नील, दिल्ली ।

समर्पण

'नस्ति हि कमतर सव्रलोक हितेन'

के

मानवीय सिद्धान्त को

'वसुधैव कुटुम्बकम'

को

भावना पर आधारित कर

जिस

विश्व के महानतम् सम्राट तथा मानव अशोक ने

समाज से सर्व प्रथम युद्धों का

बहिष्कार कर

मानव जाति को

सुख, सन्तोष तथा प्रेम

का

संदेश दिया

उसी के जीवन तथा कृतियों की यह गाथा

अहिंसा के प्रतीक,

विश्व बन्धुत्व की भावना के समर्थक

तथा

मानवता के गौरव

आदरणीय मानव श्री जवाहरलाल नेहरू

को

सादर समर्पित

दो शब्द

मनुष्य के आदर्श महान् हो सकते हैं, उसकी भावनायें सुन्दर हो सकती है और वह स्वयं में पूर्ण हो सकता है, किन्तु अपनी भावनाओं को महान् आदर्श के रूप में संसार के सामने रखने की क्षमता सब में नहीं होती। जिस व्यक्ति में अपने महान् आदर्श तथा सुन्दर भावनाओं को व्यावहारिक स्तर पर समाज में क्रियान्वित करने की क्षमता होती है, वह व्यक्ति ही 'महान्' की उपाधि प्राप्त करने का अधिकारी होता है। विश्व के इतिहास में अनेकों ऐसे व्यक्ति हुये हैं जिन्होंने अपने कार्यों से तत्कालीन समाज तथा भविष्य का जीवन सुखमय बनाकर 'महान्' की उपाधि प्राप्त करली है; किन्तु अशोक का स्थान इन समस्त महान् व्यक्तियों से ऊंचा है। उसकी इस उच्चता का कारण उसकी वह भावनायें है, आदर्श है और वह व्यावहारिक क्रियात्मकता है, जिसे वि.व कभी भी सीमित न कर पाया। जिसकी व्यापकता को न तो क्रूर काल ही सीमित कर सका और न मानव को कृतिम भौगोलिक सीमाओं में बाँटने वाली परम्परा अथवा साम्प्रदायिकता एवम् जातीयता ही दूषित कर सकी। यही कारण है कि अशोक के जीवन तथा कृतियों का मूल्यांकन न कभी पुराना हुआ और न होगा।

आज की परिस्थितियों में जब मानव जाति युद्धों की बर्बरता, साम्प्रदायिकता तथा जातीयता के घृणित संघर्षो के परिणाम स्वरूप सिसकियाँ भर रही है, अशोक का अध्ययन अनिवार्य हो गया है। हमें आज की परिस्थितियों में अशोक का अध्ययन एक सम्राट् .तथा मानव दोनों ही रूपों में करना है। उसके समय की समस्याओं के साथ ही उस समय का राजनीतिक दृष्टिकोण भी पूर्णतया समझ लेना है। अशोक ने किस प्रकार अपने विश्व की समस्यायों को सुलझाया और उसने किस प्रकार भारत के स्वर्ण-युग का बीजारोपण किया, इन प्रश्नों का उत्तर हमें अशोक के अध्ययन से प्राप्त करना है। और अंत में यह भी देखना है कि अशोक ने जिस नीति द्वारा अपनी समस्याओं को सुलझाकर विश्व को वास्तविक शांति का मार्ग प्रदान किया, क्या वह नीति

आज की परिस्थितियों में विश्व शान्ति की स्थापना करने में हमारी सहायता कर सकती है ?

सम्राट् के रूप में 'अशोक के प्रति' साम्राज्य की विशालता का कोई भी महत्व न था। उसके स्वयं के कथनानुसार राजा का यश अथवा कीर्ति उसके साम्राज्य की सीमाओं पर निर्भर नहीं। उसका आधार और माप तो प्रजा की वह प्रगति है जो वह राजा के सुशासन से प्राप्त करती है। अशोक अपने इस कथन द्वारा राज्यों की बाह्य तथा आन्तरिक नीति के सम्बन्ध पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। अशोक के अनुसार राज्यों की बाह्य नीति, ऐसी आन्तरिक नीति पर आधारित होनी चाहिये, जिसका उद्देश्य प्रजा का हित हो। नवीन देशों की विजय और इस विजय के परिणाम स्वरूप विशाल साम्राज्यों के निर्माण को अशोक प्रजा के हितों का घातक मानता है और इसी कारण वह अपनी साम्राज्यवादी स्पृहा को मानवता के लिये बलिदान कर, कभी भी देशों की विजय के प्रति शस्त्र न उठने की प्रतिज्ञा करता है। उसका विश्वास है कि समाज से युद्ध का बहिष्कार और इसकी दृढ़ तथा निश्चित घोषणा विश्व को एक परिवारका रूप प्रदान कर देगी। विश्वास, विश्वास को जन्म देता है और प्रेम-प्रेम को। राज्यों की साम्राज्यवादी स्पृहा के अभाव में निश्चय ही मानव, मानव का विश्वास पात्र बन जायेगा और हमारी आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक समस्यायें सहज ही सुलझ जायेंगी।

मानव के रूप में अशोक विश्व बन्धुत्व की भावना पर आधारित 'नस्ति हि कमतर सव्रलोक हितेन' के सिद्धान्त का समर्थक है। मानव-कल्याण की भावना उसे प्रत्येक समय अधिक से अधिक परिश्रम करने की प्रेरणा प्रदान करती है। वह धर्म के रंगमंच से इस समस्या को भी सुलझाता है। वह धर्म को साम्प्रदायिकता के विष से विषाक्त नहीं करता, वरन् मानवीय स्तर पर प्रत्येक धर्म का मान करता हुआ धर्म द्वारा वह परिवार, सम्बन्धियों तथा मानव जाति में उचित सम्बन्धों की स्थापना का प्रयास करता है। जातीयता के नाम पर वह केवल मावन जाति में विश्वास करता है और इसी कारण वह मानव जाति के कल्याण के प्रति विभिन्न योजनाओं को क्रियान्वित भी करता है।

अशोक की सम्राट् तथा मानव के रूप में उपर्युक्त भावनायें भारत ही नहीं वरन् विश्व में राजनिति को एक ऐसा मानवीय स्तर प्रदान कर देती है, जिससे राजनीति कूटनीति के स्थान पर लोक-मंगलकारी नीति में परिणित हो जाती है। विश्व की राजनीति को यह अशोक की अपनी मौलिक देन है। आज

भी विश्व ने जिन उद्देश्यों को लेकर यू० एन० ओ० की स्थापना की है और वह जिन सिद्धान्तों का आश्रय ले विश्व में शांति की स्थापना तथा मानव जाति के विकास के प्रयासों में व्यस्त है, वे सिद्धान्त नवीन न होकर अशोक के सिद्धान्तों पर आधारित प्रतीत होते हैं। अशोक तथा यू० एन० ओ० के सिद्धान्तों का यह सादृश्य अशोक को और भी अधिक गौरव प्रदान कर देता है।

अशोक के इसी गौरव ने मुझे अशोक का अध्ययन करने की प्रेरणा प्रदान की। अध्ययन के इस प्रयास में मुझे जो भी सहायता तथा प्रोत्साहन अपने मित्र बन्धुओं से प्राप्त हुआ, उसके अभाव में सम्भवतः यह अध्ययन पुस्तक का रूप इतने शीघ्र प्रस्तुत न कर पाता। पुस्तक में मनोवैज्ञानिक स्तर पर अशोक के जीवन तथा कार्यों के आलोचनात्मक अध्ययन का जो प्रयास किया गया है, वह अशोक तथा तत्कालीन युग पर प्राप्त समस्त साधनों पर आधारित है। आवश्यकतानुसार मूल श्रोतों तथा ग्रन्थों के नामों का उल्लेख भी यथास्थान कर दिया गया है। इतिहास के विद्यार्थियों के प्रति यह पुस्तक कहाँ तक सहायक होगी, इसका निर्णय मैं विद्यार्थियों पर ही छोड़ता हूँ।

अंत में मैं परम पूज्य गुरुवर प्रो० चरण दास चटर्जी, इतिहास विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय तथा डा० राधाकुमुद मुकर्जी के प्रति भी ऋणी हूँ, जिनके चरणों में बैठ कर ही मैंने अशोक तथा भारतीय संस्कृति का अध्ययन किया और इसी अध्ययन के आधार पर यह पुस्तक लिखने का साहस कर सका। वैसे तो गुरु के ऋण से शिष्य कभी भी उऋण नहीं हो सकता, किन्तु यदि अपने इस प्रयास से मैं किसी भी अंश में अपने गुरुदेव के परिश्रम को सार्थक कर सका तो यह मेरा अहोभाग्य होगा।

६ नवम्बर १९५५

यदुनन्दन कपूर
अलीगढ़

प्रयोगित चिन्ह

शि० ले०	—	शिलाभिलेख
स्त० ले०	—	स्तम्भ लेख
लघु शि० ले०	—	लघु शिलाभिलेख
क० शि० ले०	—	कलिंग शिलाभिलेख

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ

पहला प्रकरण—साधन तथा प्रारम्भिक जीवन — १

साधन—वंश परिचय—परिवार के अन्य सदस्य—रानियाँ पुत्र तथा पुत्री—प्रारम्भिक जीवन

दूसरा प्रकरण—राज्यारोहण, तिथि तथा कलिंग-विजय — २३

राज्यारोहण की समस्या—अभिषेक की तिथि—कलिंग-विजय

तीसरा प्रकरण—साम्राज्य की सीमायें तथा विद्रोह — ३८

लेखों के प्राप्ति-स्थानों के आधार पर—उत्कीर्ण लेखों के आधार पर (योन—काम्बोज तथा गान्धार—राष्ट्रिक, भोज तथा पितिनिक—आन्ध्र—पुलिन्द—अपरन्ता—चोड—पाण्डय—सत्यपुत्र—केरलपुत्र—ताम्रपर्णी)—समकालीन यवन शासक—विद्रोह

चौथा प्रकरण—शासन-प्रणाली — ६१

प्रजातन्त्रात्मक संस्थायें तथा जनपद—प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं एवम् जनपदों के प्रति मौर्य नीति—अशोक के राज्यत्व

विषय पृष्ठ

सम्बन्धी विचार—सम्राट के रूप में अशोक की शक्तियाँ—मन्त्रि परिषद्—प्रान्तीय शासन—प्रान्तीय उपशासकों के रूप में कुमारों की शक्तियाँ—अन्य प्रान्तीय उप शासक—अशोक के अन्य कर्मचारी (युत, राजुके—प्रादेसिके—नगर-व्यवहारिक — धर्ममहामात्र —स्त्रीध्यक्षमहामात्र —व्रज भूमिक —महामात्र—अन्तमहामात्र — पुरुष —धर्मयुक्त)—अधिकारियों द्वारा दौरा—गुप्तचर विभाग—दण्ड व्यवस्था—सार्वजनिक कार्य—सैन्य व्यवस्था

पांचवाँ प्रकरण—धर्म ११७

अशोक किस धर्म का अनुयायी था ?—अशोक के बौद्ध धर्मानुयायी होने के अन्य प्रमाण—क्या अशोक संघाधीष थे ?—अशोक ने बौद्ध धर्म कब स्वीकार किया—अशोक का धर्म—धर्म का रूप—गृहस्थों के लिये अशोक के धर्म का रूप—(अपासिनवे—बहुकयाने(व्यक्तिगत—सार्वजनिक)—दय-दाने, सच, सोचये)—धर्मानुचरण का परिणाम—सामाजिक सुधार (हिंसा—भेरी-घोष—विहार यात्रा—मंगलाचार)—भिक्षुओं के प्रति अशोक के धर्म का रूप—बौद्ध संघ में अशोक का स्थान

छटा प्रकरण—धर्म का प्रचार १६६

अहिंसा की नीति—चिकित्सा (भौतिक आपत्तियाँ—दैविक आपत्तियाँ—दैहिक आपत्तियाँ)—दिव्य दर्शन—धर्म यात्रा —अन्य सार्वजनिक कार्य—अधिकारियों की नियुक्ति—धार्मिक सहिष्णुता—बौद्ध संघ की दृढ़ता (स्तूपों तथा विहारों

विषय पृष्ठ

का निर्माण—भिक्षु-संघ को आर्थिक सहायता—तृतीय बौद्ध सभा का आयोजन)—विदेशों में बौद्ध धर्म का प्रचार (भिक्षुओं की नियुक्ति)—दक्षिणी भारत में बौद्ध धर्म—सिहल में बौद्ध धर्म का प्रचार—उत्तरा पथ में बौद्ध धर्म का प्रचार—यवन देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार—सुवर्णभूमि में बौद्ध धर्म का प्रचार

सातवाँ प्रकरण—सामाजिक तथा आर्थिक जीवन २०१

समाज की रचना —पारिवारिक जीवन—धार्मिक जीवन—भोजन— आमोद-प्रमोद —नागरिक जीवन—आर्थिक जीवन (कृषि—पशुपालन—व्यवसाय—व्यापार तथा आवागमन के साधन—दास प्रथा—मुद्रा)

आठवाँ प्रकरण—कला २२६

स्तूप —पाषाणवेष्टनी —गुहाभवन —स्तम्भ —स्तम्भों की विशेषता

नवाँ प्रकरण—महान् अशोक २३६

महानता का आधार—अशोक की शक्ति—क्या वह नीति घातक थी ?—विश्व शान्ति का अग्रदूत—अशोक की व्यवहारिकता—अशोक की नीति का नैतिक आधार—अशोक का स्थान (कान्स्टेनटाइन—मार्कस् औरिलियस—एल्फ्रेड—कार्लिमेगन—ख़लीफ़ा ओमर—अकबर—सिकन्दर—सीज़र तथा नेपोलियन—निष्कर्ष
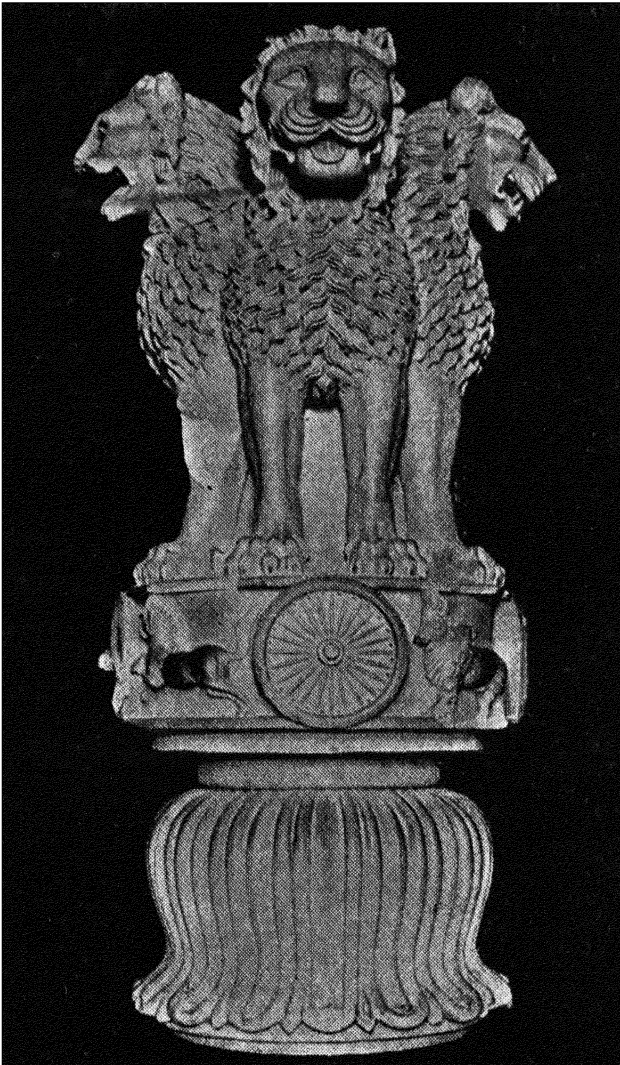
अशोक स्तम्भ

पहला प्रकरण

साधन तथा प्रारम्भिक जीवन

भारतवर्ष की दार्शनिक विचार-धारा मानवीय इतिहास लिखने के प्रयत्नों में सदैव ही बाधक रही है। भारत मे आध्यात्मिक विकास ही सदैव जीवन का मुख्य ध्येय रहा है। तिथि क्रम की अपेक्षा युग परम्परा को तथा मानवीय भौतिक घटनाओं की अपेक्षा विचार-धाराओ को ही भारतवासी महत्व देते रहे हैं। इसी दार्शनिक विचार-धारा के कारण उनके लिये ऐतिहासिक व्यक्तियों का स्थान सत्य, सिद्धान्त, रूपक आदि ले लेते थे। अतः मानवीय गाथाओं का वर्णन वे निरर्थक-अलाप ही समझते थे। इसी कारण भारत में महान् से महान् सम्राट् के इतिहास का पूर्ण परिचय प्राप्त कर लेना यदि असम्भव नही तो दुस्तर अवश्य है। न जाने कितनी महान् विभूतियाँ इस भारतीय विचारधारा के कारण आज अपना अस्तित्व तक खो चुकी है और जो दीपक के क्षीण प्रकाश के समान झिलमिला भी रही हैं वे रूढ़ियों तथा परम्पराओं पर आधारित दन्त कथाओं से इतनी उलझ गई है कि उनके विशुद्ध रूप का दर्शन तथा कार्यो का मूल्याङ्कन करना असम्भव हो गया है।

साधन :—

सम्राट अशोक भी भारतीय इतिहास की ऐसी ही उलझी हुई समस्याओं से आच्छादित पात्रों मे से एक हैं। इस महान् मानव के चारों ओर धर्म तथा समय की करवटों ने इतनी कथाओं तथा गाथाओं का सृजन कर दिया है कि उसमें से ठोस प्रमाणों के अभाव मे वास्तविकता का खोज निकालना एक अत्यन्त दुस्तर कार्य हो गया है।

महावंश, दिव्यावदान, दीपवंश, अशोकावदान तथा कल्हण रचित राज-तरंगिणी में अशोक सम्बन्धी ऐसी अनेकों कथाओं का वर्णन है जो केवल भ्रमात्मक ही नही वरन् उनमें से अनेकों कल्पना पर आधारित होने के कारण वास्तविकता का गला घोटने वाली हैं। आश्चर्य तो उन घटनाओं पर पूर्ण रूप से केन्द्रीभूत हो जाता है जो किसी न किसी रूप में प्रत्येक ग्रन्थ में अपना अस्तित्व

तो अवश्य रखती हैं किन्तु जिनका पारस्परिक विरोध समस्याओं को सुलझाने के स्थान पर उलझाने में ही अधिक सहायक होता है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि इन ग्रंथों का अशोक के इतिहास के लिये कोई मूल्य ही नहीं। यद्यपि इन ग्रन्थों के आधार पर हम किन्ही निश्चित निष्कर्षो पर अपने इतिहास को आधारित नही कर सकते और न अशोक के चरित्र तथा कार्यों का वास्तविक मूल्याङ्कन ही कर सकते हैं, फिर भी अशोक के प्रारम्भिक जीवन तथा उसके बौद्ध धर्म सम्बन्धी कार्यों पर इन ग्रन्थों मे पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो जाती है और उनमें बिखरे सत्य के कण भी कही न कही अवश्य मिल जाते हैं।

अशोक के इतिहास का वास्तविक ज्ञान तो उन शिला तथा स्तम्भ लेखों से होता है जिन पर अंकित स्वयं अशोक की वाणी आज भी उतनी साकार है जितनी उसके शासन-काल में थी। इन लेखों के अभाव मे संसार का यह महान् सम्राट अन्धकार का ही अतिथि बनकर रह जाता। अतः अशोक को अमरता और भारतीय इतिहास को गौरव प्रदान करने का श्रेय इन्ही लेखों को है।

भारतीय इतिहास में ही नही, वरन् विश्व के इतिहास में भी इन लेखों का अनूठा ही स्थान है। इन लेखों का उद्देश्य राजनीतिक या ऐतिहासिक न होकर धार्मिक और नैतिक है। धार्मिक तथा नैतिक क्षेत्र में भी ये लेख हमें अशोक के धार्मिक जीवन की कहानी नही सुनाते वरन् अशोक द्वारा जनता के आध्यात्मिक तथा नैतिक विकास के लिये दिये गये उपदेशों का महान् संदेश देते हैं।

अशोक के पहले इस प्रकार के लेखों का उद्देश्य या तो राजनीतिक रहा है और या राजाओं द्वारा अपने तथा अपने पूर्वजों की यश-गाथा के प्रचार का साधन। दैरियस के लेख इस सत्य के प्रमाण हैं। किन्तु अशोक के लेख प्रचलित परम्परा के विरुद्ध व्यक्ति के स्थान पर मानवता का दर्शन कराते है। यद्यपि इन लेखों का दृष्टिकोण आध्यात्मिक तथा धार्मिक ही रहा है फिर भी इनमें बिखरी हुई सामग्री हमें अशोक तथा तत्कालीन भारत का इतिहास लिखने मे महत्वपूर्ण सहायता प्रदान करती है।

अशोक के लेख :—

अशोक के ये लेख उसके विशाल साम्राज्य के कोने कोने में बिखरे हुये हैं। इन लेखों को दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है।

(१) शिला लेख (अशोक के साम्राज्य की सीमा पर या उसके आस पास पाये जाते हैं)।

(२) स्तम्भ लेख (भीतरी प्रान्तों में पाये जाते हैं।)

इन लेखों की भाषा प्राकृत है। उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर पाये जाने वाले शिला लेख (१४ वें शिला लेख की दो प्रतियाँ) खरोष्ठी लिपि में लिखे गये हैं। अन्य लेख प्रायः ब्राह्मी लिपि में लिखे गये हैं।

तिथि क्रम के अनुसार ये लेख आठ समूहों में विभक्त किये जा सकते हैं।

(१) दो लघु शिला लेखः—इनकी लेखन तिथि २५८ या २५७ ई० पूर्व के लगभग है।

प्रथम लघु शिला लेख सिद्धपुर, जतिंग रामेश्वर, ब्रह्मगिरि (मैसूर), रूपनाथ (जबलपुर), सहसराम (बिहार), वैराट(जयपुर), मास्की, गविमथ, पाल्की-गुण्ड, इरागुड़ी (हैदराबाद दक्षिण), तथा गुजर्रा ग्राम के निकट (मध्य प्रदेश, जिला दतिया) में पाया जाता है।

इस लेख में अशोक के व्यक्तिगत जीवन की झलक मिलती है।

दूसरा लघु शिला लेख सिद्धपुर, जतिग रामेश्वर तथा ब्रह्मगिरि (मैसूर) में प्राप्त हुआ है।

यह लेख अशोक के धर्म की परिभाषा के लिये महत्वपूर्ण है।

(२) भब्रू शिला लेख :—

इसकी लेखन तिथि भी २५७ ई० पू० के लगभग है। यह लेख वैराट (जयपुर) में प्राप्त हुआ है।

यह लेख अशोक का बौद्धधर्म के प्रति अनुराग प्रदर्शित करता है। इसमें अशोक द्वारा बौद्ध धर्म तथा संघ की शरण में जाने के वर्णन के साथ बौद्ध धर्म के सात अनुच्छेदों का उल्लेख किया गया है, जिनका अध्ययन प्रत्येक व्यक्ति के लिये लाभप्रद है। यह लेख बौद्ध धर्म के इतिहास मे प्रमुख स्थान रखता है!

(३) चतुर्दश शिला लेख :—

ये शिला लेख २५७ और २५६ ई० पू० के लगभग लिखे गये तथा निम्नलिखित स्थानों में पाये गये हैं :—

शाहबाजगढ़ी (पेशावर); मन्सेहरा (हज़ारा); गिरनार (जूनागढ़); सोपरा (थाना); कालसी (देहरादून); धौली (पुरी); जौगढ़ (गंजाम); तथा इरा-गुड़ी (हैदराबाद दक्षिण)।

इन शिला लेखों पर अशोक के शासन व्यवस्था सम्बन्धी तथा धार्मिक एवम् नैतिक आदेश व्यक्त हैं।

शिला लेख १—इसमें धर्म के प्रथम तत्व अहिंसा सम्बन्धी आदेशों का उल्लेख है।

शिला लेख २—यह लेख अशोक द्वारा मानव तथा पशुओं की चिकित्सा के लिये की गई व्यवस्था, उसके अन्य सार्वजनिक कार्यों, राज्य की सीमा तथा उसके समकालीन मित्र यूनानी राजाओं के विषय में महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है।

शिला लेख ३—इस लेख में युक्त, राजुक तथा प्रादेशिक आदि अधिकारियों के लिये राजकीय कार्यों के अतिरिक्त ग्रामों में घूमकर जनसाधारण के सम्पर्क में आने तथा उनका नैतिक स्तर ऊँचा करने सम्बन्धी अशोक के आदेशों का उल्लेख है।

शिला लेख ४—यह लेख अशोक के राजा के कर्त्तव्यों सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश डालता है। भेरी-घोष के स्थान पर धर्म-घोष द्वारा देशों की विजय करने का निश्चय तथा अशोक के अन्य सामाजिक सुधारों पर भी इस लेख से महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

शिला लेख ५—अशोक द्वारा धर्म महामात्रों की नियुक्ति, उनके कर्त्तव्यों की व्याख्या तथा उसके साम्राज्य की सीमायें निश्चित करने के लिये यह लेख अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है।

शिला लेख ६—प्रतिवेदकों की नियुक्ति, उनके कर्त्तव्यों, अशोक की कर्तव्य परायणता तथा उसकी लोक मंगलकारी अभिलाषाओं के सम्बन्ध में यह लेख अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है।

शिला लेख ७—अशोक की धार्मिक सहिष्णुता की नीति पर यह लेख महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है।

शिला लेख ८—अशोक द्वारा बिहार यात्राओं के स्थान पर धर्म-यात्राओं का आयोजन तथा उनके उद्देश्यों पर यह लेख प्रकाश डालता है।

शिला लेख ९—इस लेख में समाज के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने सम्बन्धी अशोक के आदेशों का वर्णन है। धर्म क्या है? वास्तविक दान कौन सा है? उत्सवों पर हमारा क्या कर्तव्य होना चाहिये आदि विषयों पर यह लेख महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है।

शिला लेख १०—वास्तविक कीर्ति क्या है? राजा की महानता का आधार क्या है आदि विषयों पर अशोक के विचारों का इस लेख में वर्णन है।

शिला लेख ११—इस लेख में अशोक के धार्मिक एवम् नैतिक सिद्धान्तों तथा धर्म के व्यवहारिक रूप की महत्वपूर्ण व्याख्या की गई है।

शिला लेख १२—यह लेख अशोक की धार्मिक नीति पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। देश में बिखरी विभिन्न साम्प्रदायिक शक्तियों तथा उनसे उलझी साम्प्रदायिक समस्याओं के समाधान के लिये अशोक की नीति का इस लेख में विशद वर्णन है।

शिला लेख १३—अशोक के इतिहास के लिये यह लेख सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इस लेख में अशोक द्वारा कलिंग-विजय और उसके कारण अशोक के हृदय में उत्पन्न हुई युद्धों के प्रति घृणा, उसके धर्म-विजय का निश्चय तथा इस धर्म-विजय के आधारभूत सिद्धान्तों का विशद वर्णन है। यह लेख अशोक के समकालीन यूनानी राजाओं के उल्लेख के लिये भी अत्यन्त ही महत्व-पूर्ण है।

शिला लेख १४—यह लेख समस्त शिलालेखों के प्रति अशोक के विचारों को प्रदर्शित करता है।

(४) दो कलिंग शिलालेख :—

ये लेख २५६ ई० पू० में लिखे गये थे। ये लेख धौली तथा जौगढ़ में पाये गये हैं। इन लेखों मे अधिकारियों की विशेष योग्यताओं का वर्णन है। अपने उन सिद्धान्तों के लिये भी जिनके द्वारा अशोक ने नवविजित प्रदेश कलिंग तथा सीमा पर स्थित जंगली जातियों पर शासन करने के लिये अपने अधिका-रियों को आज्ञा दी, ये लेख अत्यन्त ही महत्वपूर्ण हैं।

(५) बाराबर के तीन गुहा लेख :—

गया के निकट बाराबर नामक पहाड़ियों में ये गुह्यलेख प्राप्त हुये हैं। इन लेखों में अशोक द्वारा आजविकों को दिये हुये दानों का उल्लेख है। अशोक की धार्मिक सहिष्णुता की नीति पर ये लेख महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं।

(६) तराई के दो स्तम्भ लेख :—

ये लेख नैपाल की तराई में रुम्मनीदेई तथा निग्लिवा ग्राम में पाये गये हैं। ये स्मारक अशोक की तीर्थ यात्रा से सम्बन्धित हैं। इन स्मारकों का निर्माण २५० ई० पू० में हुआ था।

(७) सात स्तम्भ लेख :—

इनकी तिथि २४३ ई० पू० से २४२ ई० पू० तक मानी जा सकती है। ये सात स्तम्भ लेख निम्नलिखित स्थानों में प्राप्त हुये हैं।

टोपरा (अम्बाला के निकट); मेरठ; (ये दोनों स्तम्भ फीरोज़शाह दिल्ली

उठवा लाया था); कौशाम्बी (इलाहाबाद), रामपुरवा(जिला चम्पारन); लौरिया (अरराज), लौरिया (नन्दनगढ़); तथा आरा !

इन सातों स्तम्भ लेखों को प्रारम्भिक शिलालेखों का परिशिष्ट या पूरक ही समझना चाहिये । इन स्तम्भ लेखों द्वारा हमें अशोक की धार्मिक नीति, धर्म तथा नैतिक सिद्धान्तों की विवेचना, राजुक नामक पदाधिकारियों के कर्त्तव्यों की व्याख्या, तथा अहिंसा के आधार पर वर्ष में कुछ निश्चित दिनों के लिये विभिन्न पशु तथा पक्षियों की हत्या न करने सम्बन्धा आदेशों पर महत्वपूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है ।

(८) लघु स्तम्भ लेख :—

इनकी संख्या चार है । इनका लेखन काल २४२ से २३२ ई० पू० के मध्य समझा जाता है । ये लेख सारनाथ, सांची तथा कौशाम्बी में प्राप्त हुये हैं।

इन लेखों में संघ मे भेद डालने वालों के लिये अशोक द्वारा की गई दण्ड-व्यवस्था का वर्णन है । अतः इन लेखों द्वारा बौद्ध-संघ मे फूट पड़ने का संकेत मिलता है । अशोक ने किन उपायों द्वारा इस संघ भेद को रोका इस सत्य का भी परिचय हमें इन लेखों से मिल जाता है ।

अशोक की दूसरी पत्नी (राजकुमार तीवर की माता) कारुवाकी के नाम तथा उसकी दानशीलता का परिचय भी हमें चतुर्थ लघु स्तम्भ लेख से प्राप्त हो जाता है ।

वंश-परिचय :—

अशोक, मौर्य वंशीय प्रथम सम्राट चन्द्रदुप्त का पौत्र तथा बिन्दुसार का पुत्र था । चन्द्रगुप्त ने चाणक्य की सहायता से नन्द वंश का उन्मूलन कर मगध में मौर्य वंश की स्थापना की थी । सिकन्दर के सेनापति सेॅलेॅउक (Seleucus), जिसने सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसके साम्राज्य के पच्छिमी और मध्य एशिया के भाग पर अधिकार कर लिया था और जिसने सिकन्दर के भारतीय विजित प्रदेशों को जिन्हें चन्द्रगुप्त ने यूनानियों को निकाल अपने अधिकार में कर लिया था पुनः प्राप्त करने के लिये भारत पर आक्रमण किया था, उसे भी हराकर, उसके साम्राज्य के चार प्रान्तों पर भी अधिकार प्राप्त करने का श्रेय चन्द्रगुप्त को है । बिन्दुसार (जिसे स्ट्रैबो अलीट्रोकेड्स तथा अन्य ग्रीक लेखक अमित्रोकेट्स के नाम से सम्बोधित करते हैं) ने भी पिता के साम्राज्य को प्राप्त कर उसे दृढ़ बनाने में पूर्ण सफलता प्राप्त की । उसकी

अमित्रोकेट्स (अमित्रघात) अर्थात् 'शत्रुओं का संहारक' की उपाधि इस सत्य की पुष्टि करता है। बिन्दुसार के उपरान्त उसका पुत्र अशोक सिंहासनारूढ़ हुआ।

महावंश, दीपवंश, अशोकावदान तथा दिव्यावदान सभी इस सत्य से सहमत हैं कि अशोक, बिन्दुसार का पुत्र तथा चन्द्रगुप्त का पौत्र था। किन्तु न जाने किस आधार पर राजतरंगिणी का लेखक कल्हण अशोक को शकुनी का पौत्र मानता है। शकुनी कौन था इस विषय पर कल्हण कोई प्रमाणयुक्त प्रकाश नहीं डालता; ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव मे शकुनी, चन्द्रगुप्त का उपनाम भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। पुराणों में भी अशोक को चन्द्रगुप्त का पौत्र होना ही बताया गया है। अतः कल्हण के इस कथन का कोई मूल्य नही रहता।

अशोक की माता कौन थी ? इतिहास की यह एक उलझी हुई समस्या है। महावंश सतिका के अनुसार अशोककी माता का नाम 'धर्मा' था। धर्मा मौर्य वंश की थी तथा बिन्दुसार की प्रमुख रानी थी। जनसेन नामक आजविक साधु इस वंश का आचार्य था। किन्तु अशोकावदानमाला के अनुसार अशोक की माता का नाम शुभद्रांगी था। दिव्यावदान भी शुभद्रांगी को ही अशोक की माता स्वीकार करता है। दिव्यावदान के अनुसार शुभद्रांगी चम्पा नगर के एक ब्राह्मण की सुन्दरी कन्या थी। इस कन्या को देखकर ज्योतिषियों ने इसके रानी होने की घोषणा की। शुभद्रांगी से दो पुत्र होने, जिसमे एक के सम्राट तथा दूसरे के सन्यासी बनने की भविष्यवाणी भी ज्योतिपियों ने की। दिव्यावदान की कथा के अनुसार ब्राह्मण अपनी कन्या के उज्जल भविष्य के लिये व्यग्र हो उठा। उसने अन्तःपुर की रानियों की मंत्रणा से शुभद्रांगी को बिन्दुसार के राजमहल में नाइन का कार्य करने के प्रति प्रवेश करा दिया। नाइन के रूप में इस सुन्दरी ने बहुत समय तक पाटलिपुत्र के राजमहल में कार्य किया। बिन्दुसार इसकी सुन्दरता पर मुग्ध था ही और वह इसे पत्नी के रूप में स्वीकार करने के लिये भी तत्पर था, किन्तु इसका नाइन होना उसके मार्ग की सबसे बड़ी बाधा थी। एक दिन अनायास ही शुभद्रांगी के ब्राह्मण होने का भेद खुल गया और तुरन्त ही बिन्दुसार ने उससे विवाह कर उसे अपनी पत्नी बना लिया। इसी शुभद्रांगी ने अशोक तथा 'वितासोक' (जिसे सिंहली गाथायें 'तिस्य' लिखती हैं) को जन्म दिया। दिव्यावदान में वर्णित इस कथा की पुष्टि अशोकावदान माला द्वारा भी हो जाती है। अतः शुभद्रांगी को ही

अशोक की माता मानना अधिक न्यायसंगत होगा। अशोक की आजविकों के प्रति उदारता को परिणाम मानकर, महावंश सतिका में वर्णित धर्मा को, जो आजविक धर्म से प्रभावित थी, अशोक की माता स्वीकार कर लेना उचित नहीं प्रतीत होता। अशोक की उदारता यदि आजविकों के प्रति धर्मा के कारण थी तो अन्य धर्मों के प्रति उसकी उदारता का क्या कारण था ? अशोक की यह उदारता व्यक्ति विशेष पर आधारित न थी। इसका आधार तो मानवोचित लोक कल्याण की भावना थी। अतः अशोक की आजविकों के प्रति उदारता, धर्मा को उसकी माता स्वीकार कराने का कोई ठोस प्रमाण नही। महावंश के इस कथन की पुष्टि भी अन्य साधनों से नही होती। अतः शुभद्रांगी को ही अशोक की माता स्वीकार करना उचित है।

परिवार के अन्य सदस्य :—

बिन्दुसार के १०१ पुत्रों तथा १६ रानियोंका उल्लेख तो महावंश एवम् दीपवंश आदि ग्रन्थों में ही है। अतः अशोक के अन्य १०० भाइयों का होना प्रमाणित होता है। महाबोधिवंश मे वर्णित कथा के अनुसार सुशीम की अध्यक्षता मे अशोक के ९८ भाइयों ने सिहासन के लिये अशोक का विरोध किया था। महावंश तथा दीपवश मे वर्णित गाथाओं के अनुसार तिष्य अशोक का सहोदर भाई था। तिष्य सम्भवतः इस उत्तराधिकार के युद्ध से अलग ही रहा। अतः महाबोधि वंश में वर्णित अशोक के ९९ भाइयों की संख्या भी उसके १०० भाइयों का होना प्रमाणित करती है। प्रमाणों के अभाव में अशोक के भाइयों के नामों की तालिका बनाना असम्भव है। सिहल-गाथायें केवल तीन नामों का उल्लेख करती हैं। सुमन (ज्येष्ठ भाई); अशोक तथा तिष्य (अशोक का सहोदर भाई)। आश्चर्य है कि इन नामों के उल्लेख मे भी सभी ग्रंथ एकमत नही है। उत्तरी गाथाओं मे सुमन को सुशीम कहा गया है तथा तिष्य को वीतासोक। अशोकावदान माला के समान ही Si-Yu-Ki में भी तिष्य के लिए वीतासोक नाम का प्रयोग किया गया है। दिव्यावदान में भी हमें सुशीम तथा वीतासोक के ही दर्शन होते हैं।

महेन्द्र की समस्या :

उत्तरी गाथाओं के अनुसार महेन्द्र भी अशोक का सौतेला भाई था। इन गाथाओं के अनुसार इसका जीवन संयमहीन तथा उच्छृंखलताओं से पूर्ण था। प्रजा को कष्ट देना इसके लिये साधारण बात थी। मंत्रियों ने उसके इस दुर्विनीत स्वभाव के प्रति अशोक से निवेदन किया। अशोक ने उसे बुलाकर बड़े

स्नेह के साथ उसे उसके अमर्य्यादित एवम् क्रूर कार्यो को नग्न रूप से परिचित कराया। महेन्द्र ने तुरन्त ही अपना अपराध स्वीकार कर लिया और सात दिनों तक एक अंधियाली कोठरी मे समाधि लगाये बैठा रहा और अन्त में अरहत हुआ। सम्राट ने महेन्द्र के रहने के लिए पाटलिपुत्र के निकट कुछ गुफाये प्रदान की। फाहियान ने भी सम्राट के एक ऐसे ही भाई का वर्णन किया है जिसे एकान्त वास ही प्रिय था और जिसे अशोकने पाटलिपुत्र के निकट कुछ गुफायें प्रदान की थी। यद्यपि कि फाहियान ने इस राजकुमार का नाम नही लिखा है फिर भी वर्णन से उसके महेन्द्र होने का भास मिलता है।

महेन्द्र के विषय मे भी सभी ग्रन्थ एकमत नही हैं। पाली ग्रन्थ उसे तिष्य कहते हैं तथा दिव्यावदान वितासोक। चीनी ग्रन्थों मे उसे सुदत्त और सुगाम कहा गया है। इन ग्रन्थों में महेन्द्र की कथा भी कुछ दूसरे ढंग से वर्णित है। इनमें उस पर एक बौद्ध पर मर्यादाहीन आरोप लगाने का अपराध लगाया गया है। अंत मे अशोक द्वारा युक्तियों से उसे उचित मार्ग दिखाने की कथा वर्णित है। इन ग्रन्थों के अनुसार भी महेन्द्र अन्त में अरहत हुआ। अरहत होने के उपरान्त वह एक बार पाटलिपुत्र मे अशोक से मिलने आया और फिर किसी अन्य प्रदेश मे चला गया जहाँ कुछ समय उपरान्त उसे उस प्रदेश के राजा ने निर्ग्रन्थ जानकर मरवा डाला।

इन गाथाओं का अध्ययन हमारे सम्मुख कई प्रश्न उपस्थित कर देता है। क्या महेन्द्र अशोक का सौतेला भाई था? क्या महेन्द्र ही तिष्य, वितासोक तथा सुदत्त और सुगम था? महेन्द्र के विषय मे जहाँ एक ओर उपर्युक्त उत्तरी गाथाये एकमत नही हैं, वहाँ सिहली गाथायें तो हमें दूसरी ही कहानी सुनाती है। सिहली अनुश्रुति के अनुसार महेन्द्र अशोक का पुत्र था। अनुश्रुति के अनुसार जब राजकुमार अशोक अपने पिता बिदुसार के शासनकाल में उज्जयिनी का शासक नियुक्त हुआ था उस समय उसने विदिशा के एक सेट्ठी की बेटी असन्धिमित्रा से विवाह किया था। अशोक के अपनी इस पत्नी से महेन्द्र तथा संघमित्रा नामक पुत्र व पुत्री उत्पन्न हुये थे। असन्धिमित्रा प्रारम्भ में उज्जयिनी मे तथा बाद को विदिशा मे ही रहती थी। महेन्द्र ने पिता के समान बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था और अशोक द्वारा सिहल में धर्म-प्रचार के लिये भी भेजा गया था। महेन्द्र ने सिंहल जाकर सिंहल नरेश तिस्स के साथ ही उसके चलीस हजार अनुयायियों को भी बौद्ध धर्म में दीक्षित कर लिया था। सिहली अनुश्रुति के अनुसार, सिहल नरेश तिस्स के बौद्धधर्म में

दीक्षित होने के उपरान्त, उसकी पुत्री राजकुमारी अनुला ने भी अपनी ५०० सहेलियों सहित भिक्षुणी बनना चाहा। अतः सिंहल नरेश ने अशोक के पास दूत भेज कर भिक्षुणी संघमित्रा को स्त्रियों को दीक्षित करने तथा बोधि वृक्ष की एक शाखा सिहल भेजने की प्रार्थना की। अशोक ने तुरन्त ही संघमित्रा के साथ पवित्र बोधि वृक्ष की एक शाखा स्वयं अपने हाथों से काट कर सिंहल भेज दी। गाथाओं के अनुसार यह शाखा गंगा नदी के जलमार्ग द्वारा ताम्रलिप्ति पहुंची और फिर वहा से जहाज द्वारा सिहल पहुंची। अनुश्रुति के अनुसार शाखा के ताम्रलिप्ति में जहाज पर चढ़ाये जाने के समय अनेक चमत्कार हुये थे।

तिस्सने जम्बुकोल (जाफ़ना जिले में आधुनिक संबिलतुरई बन्दरगाह पर इस शाखा तथा संघमित्रा का स्वागत किया। यह शाखा सिंहल में अनुराधपुर के महाविहार में रोप दी गई जहाँ इसी शाखा से बना विशाल वृक्ष आजतक अपने जीवन की कहानियाँ सुना रहा है। संघमित्रा ने भी अपने भाई के समान सिंहल में अत्यधिक धर्मप्रचार किया। महिन्तले के निकट अम्बुस्ताल स्तूप में आज भी महेन्द्र की समाधि विद्यमान है।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर महेन्द्र का सिहल, धर्म-प्रचार के लिये जाना प्रमाणित हो ही जाता है। अम्बुस्ताल स्तूप में महेन्द्र की समाधि इसकी पुष्टि कर देती है। तामिल राष्ट्रों में भी महेन्द्र ने ही बौद्ध धर्म का प्रचार किया था, इसके भी प्रमाण हैं। सातवी शताब्दी में चीनी यात्री य्वानच्वांङ के समय में द्राविड़ देश में महेन्द्र के नाम का एक विहार था। अतः महेन्द्र का तामिल राष्ट्रों में धर्म प्रचार के लिये जाना सहज ही प्रमाणित हो जाता है। सिंहली गाथायें महेन्द्र को अशोक का पुत्र मानती हैं और यही ठीक भी प्रतीत होता है। सिंहली साहित्य मे महेन्द्र को अशोक का पुत्र लिखने का आधार किम्वदन्तियाँ नहीं किन्तु पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। सिंहल को बौद्ध धर्म महेन्द्र की ही देन है। अतः अपने इस पूज्य व्यक्ति के सम्बन्ध में जो कुछ भी सिंहली गाथाओं में लिखा गया होगा वह अत्यधिक छान-बीन के उपरांत ही लिखा गया होगा। उत्तरी गाथाओं में भी महेन्द्र को अरहत बताया गया है और उसका प्रारम्भिक जीवन संयमहीन। उसके पाटलिपुत्र के निकट गुफाओं में रहने की भी कथा उत्तरी गाथाओं में प्रस्तुत है। सिंहली गाथाओं के अनुसार भी महेन्द्र अरहत था। सम्भव है उसका प्रारम्भिक जीवन सयंमहीन भी रहा हो। अतः दोनों ही गाथायें इस विषय में एकमत हैं। उत्तरी गाथाओं की महेन्द्र के पाटलिपुत्र के निकट गुफाओं में रहने की कथा भी ठीक हो सकती है। अरहत महेन्द्र,

नगर में रहने की अपेक्षा पाटलिपुत्र के निकट गुफाओं में रहना अधिक पसन्द करेगा, इस सत्य को स्वीकार करना कठिन नही और फिर धर्म प्रचार के कार्यों में योग देने महेन्द्र का उज्जयिनी से पाटलिपुत्र पिता के निमन्त्रण पर जाना भी स्वाभाविक ही है । इस प्रकार उत्तरी तथा सिहली गाथाओं का मुख्य अन्तर महेन्द्र का अशोक के सम्बन्ध से है । उत्तरी गाथायें उसे अशोक का भाई कहती हैं और यह सिंहली गाथाओं के महेन्द्र विषयक वर्णनों को ध्यान में रखते हुये उचित नहीं प्रतीत होता । सिंहली गाथायें ही महेन्द्र के विषय में अधिक मान्य हैं । अतः महेन्द्र को अशोक का पुत्र मानना ही उचित है ।

जब हम महेन्द्र को अशोक का पुत्र स्वीकार कर लेते हैं, उस समय महेन्द्र को ही तिष्य, वीतासोक तथा सुदत्त और सुगाम कहना भूल होगी । तिष्य तथा वीतासोक जैसा कि पहले वर्णन कर चुके हैं अशोक के सहोदर भाई के ही दो नाम हैं । तिष्य (सिंहली गाथाओं के अनुसार) तथा वीतासोक (उत्तरी गाथाओं के अनुसार) । कुछ ग्रन्थ तिष्य तथा वीतासोक को भी दो भिन्न व्यक्तियों के रूप में देखते हैं, किन्तु यह उचित नहीं । सुदत्त तथा सुगाम भी सम्भवतः तिष्य के ही दूसरे नाम है ।

रानियाँ, पुत्र तथा पुत्री :—

अशोक ने अपने पाँचवें शिलालेख में अपने कई अवरोधों (अन्तःपुर) का वर्णन किया है । यह अशोक की कई रानियाँ होना प्रमाणित करता है । कई इतिहासकार शिलालेख के इस भाग का अर्थ अन्तःपुर से तो लेते हैं और इनका विभिन्न नगरों मे होना भी मानते है किन्तु यह नहीं स्वीकार करते कि इससे तात्पर्य केवल सम्राट् के उन अन्तःपुर से है जो पाटलिपुत्र से बाहर हैं । अशोक का कथन है "ये धर्म महामात्र, यहाँ तथा बाह्य दूरस्थ नगरों में मेरे (तथा) भाइयों और बहिनों के अन्तःपुर और मेरे अन्य सम्बन्धियों के यहाँ सर्वत्र नियुक्त हैं ।" (शिलालेख ५) उपर्युक्त कथन के मेरे शब्द का प्रयोग ये विद्वान् 'यहाँ' (पाटलिपुत्र) शब्द के लिये ही मानते हैं तथा भाइयों और बहिनों के अन्तःपुर का सम्बन्ध दूरस्थ नगरों से जोड़ते हैं । किन्तु यह भूल हैं । मेरे शब्द को अलग न लेकर भाइयों तथा बहिनों के साथ ही लेना चाहिये । इस प्रकार पाँचवें शिलालेख के इस भाग का अर्थ सम्राट् के स्वयं अपने भी उन अन्तःपुर से है जो उसके भाई तथा बहिनों के समान दूरस्थ नगरों में फैले हुये हैं । अशोक के दूरस्थ नगरों में स्वयं के अन्तःपुर होने का प्रमाण हमें उत्तरी तथा सिंहली गाथाओं द्वारा भी मिल जाता है । सातवाँ स्तम्भ लेख भी इसका प्रमाण है ।

अशोक की कई रानियाँ थी, यह तो निश्चित ही है और यह भी निश्चित ही है कि इन रानियों के अन्तःपुर दूरस्थ नगरों मे फैले हुये थे, किन्तु यह निश्चयात्मक रूप से नही कहा जा सकता कि अशोक की रानियों की निश्चित संख्या क्या थी ?

महावंश के अनुसार अशोक की एक रानी उज्जयिनी के निकट चैत्य-गिरी में निवास करती थी तथा महेन्द्र और संघमित्रा इसी की सन्तान थी। असन्धिमित्रा का सम्राट् की प्रधान रानी होना भी महावंश से ही ज्ञात होता है। सिहली गाथायें महेन्द्र तथा संघमित्रा को असन्धिमित्रा की सन्तान बताती हैं। सिहली गाथाओं के अनुसार जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है असन्धिमित्रा विदिशा के एक सेट्ठी की पुत्री थी तथा अशोक ने बिन्दुसार के शासन काल में उज्जयिनी का शासक नियुक्त होने पर इससे विवाह किया था । अतः अशोक के साथ असन्धिमित्रा का उज्जयिनी में रहना प्रमाणित हो जाता है। अशोक के सम्राट् होने पर असन्धिमित्रा सम्भवतः पाटलिपुत्र नहीं गई थी। वह विदिशा में ही रहती रही। अशोक के बौद्ध होने पर सम्भवतः असन्धिमित्रा भी बौद्धधर्म में रुचि रखने लगी और उसने विदिशा के निकट एक विहार का निर्माण कराया। महेन्द्र, सिहली गाथाओं के अनुसार पाटलिपुत्र से सिंहल जाते समय पहले अपनी मां असन्धिमित्रा से मिलने विदिशा गया था और उसके पास, उसी के बनवाये विहार में जो कि सम्भवतः सांची के विद्यमान बड़े स्तूप का विहार था, कुछ समय रहने के उपरांत सिहल चला गया था। अतः उज्जयिनी के निकट चैत्यगिरी मे निवास करने वाली अशोक की रानी को विदिशा कुमारी असन्धिमित्रा ही मानना चाहिये। महावंश, महेन्द्र तथा संघमित्रा को उज्जयिनी के निकट रहने वाली रानी की सन्तान बताता है तथा असन्धिमित्रा को अशोक की प्रमुख रानी। सिहली गाथायें असन्धिमित्रा को ही महेन्द्र तथा संघमित्रा की माता स्वीकार करती हैं। असंधमित्रा का उज्जयिनी तथा विदिशा मे निवास करना प्रमाणित ही है। अतः उज्जयिनी के निकट रहने वाली रानी असन्धिमित्रा ही थी और महेन्द्र तथा सन्धिमित्रा उसी की सन्तान थीं, स्वतः ही प्रमाणित हो जाता है।

लघु स्तम्भ लेख चतुर्थ से हमें अशोक की एक अन्य रानी कारुवाकी का पता चलता है। इस लेख में सम्राट् की आज्ञा है, "देवानांप्रिय की आज्ञा से सर्वत्र महामात्रों को यह कहा जाय कि यहाँ जो कुछ भी दान द्वितीय रानी ने किये हों चाहे आम्रकुञ्ज, धर्मशाला, चाहे अन्य कुछ, सबकी गणना रानी के

दान में की जाय। यह द्वितीय रानी कारुवाकी, तिवाला की माता की विनय है" ! अतः कारुवाकी अशोक की द्वितीय रानी थी।

दिव्यावदान के अनुसार तिष्यरक्षिता भी अशोक की रानी थी। विभिन्न गाथायें पद्मावती को भी सम्राट् अशोक की रानी बताती हैं। इन गाथओं के अनुसार कुणाल पद्मावती का पुत्र था तथा इसका पहला नाम धर्मविवर्धन था। कुणाल इसका उपनाम था। फ़ायहान भी इसे धर्मविवर्धन ही कहता है। इस यात्री के अनुसार धर्मविवर्धन गान्धार का शासक था। सम्प्रति इसी धर्म-विवर्धन अथवा कुणाल का पुत्र था।

अनुश्रुति मे भी अशोक के शासन काल की एक घटना कुणाल के सम्बन्ध में प्रचलित है। तक्षशिला मे विद्रोह होने पर अशोक ने स्वयं विद्रोह दबाने जाने का निश्चय किया। किन्तु आमात्यों के अनुरोध पर उसने कुणाल को भेजने का प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया। कुणाल के तक्षशिला के निकट पहुंचते ही विद्रोही निवासियों ने मार्ग को सजाकर मंगल-घट लिये हुये कुमार का स्वागत किया। उन्होंने कहा-न हम कुमार के विरुद्ध हैं, और न राजा अशोक के, किन्तु दुष्ट आमात्य आकर हमारा अपमान करते हैं,इसके उपरान्त वे कुणाल को सम्मान के साथ तक्षशिला ले गये, जहाँ वह पौर-जनपदों पर शासन करता हुआ उनका प्रिय बन गया। कुणाल अत्यन्त ही सुन्दर युवक था। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें हिमालय के कुणाल पक्षी के समान सुन्दर थी। वह अशोक का सबसे प्रिय पुत्र था। उसके तक्षशिला जाने से पहले पाटलिपुत्र में उसकी विमाता तिष्यरक्षिता उसकी आँखों तथा सुन्दर देह पर मुग्ध होगई। अशोक ने तिष्य-रक्षिता से वृद्धावस्था में विवाह किया था। तिष्यरक्षिता ने कुणाल से प्रणय याचना की जिसे कुणाल ने अस्वीकृत कर दिया। इस अपमान पर रानी कुणाल से द्वेष रखने लगी। कुणाल के तक्षशिला जाने के उपरांत तिष्यरक्षिता ने अशोक की रुग्णावस्था के समय उसकी सेवा तथा उपचार कर पुरुस्कार में राजकीय मुहर प्राप्त करली। अब उसे अपने द्वेपनिर्यातन का अवसर मिला। उसने एक कपट लेख तैयार कर तक्षशिला भेजा, जिसमें सम्राट् की आज्ञा से कुणाल की आँखें निकाल लिये जानेकी आज्ञा थी। आमात्य कुणालसे पूर्ण सन्तुष्ट थे। अतः वे इस आज्ञा के पालन में हिचकिचाये किन्तु आज्ञा पत्र प्राप्त कर कुणाल ने राजा की आज्ञा पालन करना अपना धर्म समझ अपनी आँखें निकलवा डालीं। नेत्र-विहीन कुणाल जब अपनी पत्नी काञ्चनमाला के साथ पाटलिपुत्र पहुंचा तो उसे देखकर अशोक को अत्यन्त ही दुख हुआ। उसने शीघ्र ही सब भेद

ज्ञात कर अपराधियों को कठोर दण्ड दिया । तिष्यरक्षिता को जीवित जलवा दिया गया तब उन समस्त आमात्यों तथा अधिकारियों को जो इस षडयन्त्र में थे मरवा या निर्वासित कर दिया गया । अशोक ने, जहाँ कुणाल ने आखें निकलवाई थी, वहाँ एक स्तूप का निर्माण करवाया था, जो चीनी यात्र य्वानच्वाङ्ग की भारत-यात्रा के समय विद्यमान था । दिव्यादान, में वर्णित उपर्युक्त कुणाल की कथा की पुष्टि सी० यू० की० द्वारा हो जाती है, जिसमें य्वानच्वाङ्ग ने कुणाल-स्तूप का उल्लेख किया है ।

खोतान मे प्रचलित कहानियों के अनुसार भी अशोक ने अपने एक पुत्र कुस्तन को उत्पन्न होने पर फेंकवा दिया था तथा अपने एक मंत्री यश को निर्वासित कर दिया था। इन्हीं निर्वासित व्यक्तियों ने सर्वप्रथम मध्य एशिया मे खोतान के आर्यावर्ती उपनिवेश की नीव डाली थी। चीनी तुर्किस्तान से प्राप्त आर्यावर्त्ती सभ्यता के अवशेष इसकी सम्भवतः पुष्टि करते हैं। अशोक के तेरहवें शिलालेख में आधीन जनपदों की परिगणना मे नाभक तथा नाभपंति के नाम ठीक योन-काम्बोज के उपरांत आये हैं। ब्रह्म-पुराण के अनुसार नाभक अर्थात् नाभिकपुर उत्तर कुरु में था। उत्तर कुरु थियान-शान पर्वत के ढाल पर माना जाता था। आधुनिक खोजों ने इस मत की बहुत कुछ पुष्टि कर दी है। आधुनिक खोज के अनुसार काम्बोज तथा उपरला हिन्द (चीनी तुर्किस्तान-भारतीय सभ्यता के अवशेष मिलने के कारण) एक दूसरे से मिले हुये हैं। सीता नदी की उपरली इनको काम्बोज की पूर्वी सीमा माना गया है और उसी के निचले भाग के पूर्वी प्रदेश को खोतान प्रदेश। नाभक-नाभपंति का उल्लेख शिलालेख में काम्बोज के ठीक बाद होने के कारण इसी खोतान प्रदेश को नाभक तथा नाभपंति माना गया है। उपर्युक्त धारणा के आधार पर नाभक तथा नाभपंति सम्भवतः खोतान प्रदेश के उपनिवेश थे जहाँ अशोक अपने राज्य से निर्वासित व्यक्तियों को बसने के लिये भेज देता था। सम्भवतः इन्ही व्यक्तियों ने खोतान मे भारतीय सभ्यता की नीव डाली थी।

यद्यपि कि कुणाल के निर्वासन की कहानी खोतान की परम्पराओं में कुछ दूसरे ही रूप मे दी गई है, फिर भी इतना तो प्रमाणित ही है कि कुणाल अशोक का पुत्र था। बील द्वारा अनुवादित य्वानच्वाङ्ग की जीवनी मे कुणाल के स्वयं निर्वासित हो खोतान में जा बसने का उल्लेख है, किन्तु यह भूल है। वायु पुराण कुणाल को अशोक का उत्तराधिकारी मानता है तथा उसका राज्य-काल आठ वर्ष का बताता है। अतः कुणाल का निर्वासित हो खोतान जा बसना

ठीक नहीं। अपराधी आमात्य तथा अन्य अधिकारियों के खोतान में निर्वासित हो जा बसने की बात तर्क संगत प्रतीत होती है।

अशोक की रानियों का उल्लेख करते समय उसके कई पुत्रों तथा एक पुत्री का उल्लेख किया जा चुका है। महेन्द्र, असन्धिमित्रा का पुत्र था, तिवालाकारुवाकी का तथा कुणाल पद्मावती का पुत्र था। कल्हण रचित राजतरंगिणी के अनुसार जालौका भी अशोक का पुत्र था जिसे उसने भूतेश शिव के वरदान द्वारा प्राप्त किया था। गाथाओं के अनुसार अशोक की दो कन्यायें भी थी। संघमित्रा का उल्लेख असन्धिमित्रा की पुत्री के रूप में किया ही जा चुका है। चारुमती अशोक की दूसरी पुत्री का नाम था। गाथाओं के अनुसार अग्निब्रह्मा, संघमित्रा का पति था तथा देवपाल चारुमती का पति था। महावंश में संघमित्रा तथा अग्निब्रह्मा के पुत्र सुमन का भी उल्लेख है। अशोक के पौत्रों मे केवल तीन का ही नाम निश्चयात्मक रूप से ज्ञात है १. दशरथ (नागार्जुन-गुफा लेख, विष्णुपुराण तथा मत्स्यपुराण) २. सम्प्रति (दिव्यादान तथा जैन अनुश्रुति, मत्स्य तथा विष्णुपुराण, वायु पुराण के अनुसार कुणाल के पुत्र तथा उत्तराधिकारी बन्धुपालित तथा इन्द्रपालित थे। बन्धुपालित, तथा इन्द्रपालित दशरथ तथा सम्प्रति के ही उपनाम हैं और ये दोनों कुणाल के पुत्र थे। ३. सुमन (संघमित्रा का पुत्र-महावंश)

उपर्युक्त विवरण के आधार पर अशोक के परिवार की सूची निम्नलिखित है :—

पिता	—	बिन्दुसार।
माता	—	शुभद्रांगी।
भाई	—	सुमन (सुशीम—ज्येष्ठ भाई) ; तिष्य (वितासोक-सहोदर भाई)
रानियाँ	—	असन्धिमित्रा; कारुवाकी; पद्मावती तथा तिष्यरक्षिता।
पुत्र	—	महेन्द्र; तिवाला; कुणाल, जालौका।
पुत्री	—	संघमित्रा, चारुमती।
दामाद	—	अग्निब्रह्मा (संघमित्रा का पति); देवपाल (चारुमती का पति)।
पौत्र	—	दशरथ; सम्प्रति; सुमन (संघमित्रा का पुत्र)।

प्रारम्भिक जीवन :—

विश्वस्त ऐतिहासिक प्रमाणों के प्रभाव के कारण अशोक के राज्यारोहण से पहले का क्रम बद्ध इतिहास लिखना असम्भव है। यद्यपि कि गाथाओं मे बिखरी घटनाये उसके प्रारम्भिक जीवन पर अवश्य कुछ प्रकाश डालती हैं किंतु विभिन्न गाथाओं मे एक ही घटना का विभिन्न रूपों मे वर्णन उनकी सत्यता पर अविश्वास पैदा कर देती हैं। अशोक के शिलाभिलेख तथा स्तम्भ लेख वैसे तो उसके शासन काल की कहानी ही बताते है किन्तु कही कही अप्रत्यक्ष रूप से इनके द्वारा भी उसके प्रारम्भिक जीवन पर प्रकाश पड़ जाता है।

दिव्यावदान की एक कथा के अनुसार बिन्दुसार ने चम्पा नगर के एक ब्राह्मण की रूपवती कन्या शुभद्रागी से विवाह किया था। अशोक इसी शुभद्रांगी का पुत्र था किन्तु बिन्दुसार का अपने इस पुत्र पर अधिक स्नेह न था। एक दिन बिन्दुसार ने आजीविक साधु पिंगलावत्साजीव से राजकुमारों की परीक्षा लेकर उसके बाद कौन राजा होगा बताने को कहा। साधु ने समस्त राजकुमारों को एकत्र कर उनकी परीक्षा ली। उसने अशोक को सर्वश्रेष्ठ पाया किन्तु राजा का उस पर स्नेह न जानकर उसने भय से उसका नाम लेना उचित न समझा और संकेतों द्वारा अपना तात्पर्य समझाने लगा। बाद को जब शुभद्रांगी ने साधु से राजा के उत्तराधिकारी का नाम पूछा, उसने तुरन्त ही अशोक का नाम स्पष्ट कर दिया। अतः दिव्यावदान की इस कथा से स्पष्ट है कि अशोक सर्वगुण सम्पन्न एक प्रतिभाशाली युवक था। यद्यपि कि बिन्दुसार का उस पर स्नेह न था, फिर भी वह अपनी प्रतिभा के कारण ही मन्त्रियों तथा जनता का प्रिय बनता जा रहा था। मंत्रियों के प्रिय होने की पुष्टि दिव्यावदान की ही एक गाथा से हो जाती है जहाँ उसका प्रधान मंत्री राधागुप्त तथा अन्य पांच सौ मंत्रियों की सहायता से सिंहासन पर अधिकार करना दिखाया गया है। सिंहासन का वास्तविक अधिकारी अशोक का सौतेला ज्येष्ठ भाई सुशीम था। किंतु उसके स्वभाव से मंत्रिमण्डल सन्तुष्ट न था। दिव्यावदान के अनुसार सुशीम ने एक दिन प्रधान मन्त्री खल्लाहक पर खेल मे खटका गिराकर उसे अप्रसन्न कर दिया। उसके इस कार्य से प्रधान मन्त्री को भय हो गया कि यह राजा होकर मंत्रियों पर अवश्य ही शस्त्र फेंकेगा। अतः खल्लाहक ने ५०० मंत्रियों को सुशीम के विरुद्ध भड़का दिया। किन्तु अशोक के सिंहासन पर अधिकार करने के समय दिव्यावदान राधागुप्त की सहायता का उल्लेख करता है। अतः स्पष्ट है कि

बिन्दुसार की मृत्यु के समय रामगुप्त ही प्रधानमंत्री था और सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल अशोक को सम्राट् बनाने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ था।

अशोक का पिता के शासन काल मे उज्जयिनी का शासक नियुक्त होने का उल्लेख भी सिहली गाथाये करती हैं। उज्जयिनी मण्डल से महत्वपूर्ण प्रदेश का शासक नियुक्त होना अशोक की प्रतिभा तथा योग्यता का परिचायक है। इसी अवसर पर उसका विदिशा के एक सेट्ठी की पुत्री असन्धिमित्रा से विवाह करने का भी उल्लेख सिहली गाथाये करती है। असन्धिमित्रा महावंश के अनुसार अशोक की प्रधान रानी थी। अतः स्पष्ट है कि अशोक ने प्रथम विवाह असन्धिमित्रा के साथ राजकुमार के रूप मे किया था।

तक्षशिला के शासक के रूप मे अशोक की नियुक्ति के भी प्रमाण दिव्यावदान मे विद्यमान हैं। दिव्यावदान की एक गाथा के अनुसार तक्षशिला बिन्दुसार के शासन काल में एक बार विद्रोह कर उठी। सम्राट ने तुरन्त ही पाटलिपुत्र से अशोक को सेना के साथ विद्रोह दबाने भेजा। अशोक के आने की सूचना प्राप्त कर तक्षशिला निवासी नगर से बाहर निकले और उन्होने साढे तीन योजन आगे तक का मार्ग सजाकर हाथो मे मगल घट ले अशोक का स्वागत किया। विद्रोहियों ने कहा—'न हम कुमार के विरुद्ध है न राजा बिन्दुसार के; किन्तु दुष्ट आमात्य हमारा परिभव करते हैं।' इस प्रकार अशोक की उपस्थिति ने बिना रक्तपात के ही विद्रोह को शान्त कर दिया। उत्तरापथ से अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रदेश के विद्रोह का दमन करने के लिये अशोक की नियुक्ति तथा बिना रक्तपात के ही विद्रोह के शान्त हो जाने की घटना का इतिहास मे अपना ही स्थान है। बिन्दुसार का स्नेहपात्र न होते हुये भी राज्य के उत्तराधिकारी सुशीम की उपस्थिति मे अशोक की तक्षशिला का दमन करने के लिए नियुक्ति, सिद्ध करती है कि अशोक अत्यन्त ही योग्य, वीर तथा प्रतिभावान व्यक्ति था तथा मंत्रिमण्डल उसके पक्ष मे था। उस प्राचीनकाल मे जबकि युद्धों मे विजय प्राप्त करने वाला राजकुमार ही लोक नायक बन सकता था, बिन्दुसार द्वारा सुशीम के स्थान पर अशोक की नियुक्ति अशोक के महत्व को और भी बढ़ा देती है। सम्भवतः बिन्दुसार अशोक की प्रतिभा, लोकप्रियता तथा मन्त्रिमण्डल की सम्मति की अवहेलना न कर सका और उसे अशोक की नियुक्ति करनी ही पड़ी। बिना रक्तपात के तक्षशिला का विद्रोह शाँत हो जाना तथा नगर निवासियों का स्वागत के लिए साढ़े तीन योजन आगे तक आना, अशोक की लोक प्रियता तथा उस पर राज्य के पूर्ण विश्वास का परिचायक है।

तक्षशिला में फिर कुछ काल उपरान्त विद्रोह होने पर अशोक की पूर्व अभूतपूर्व सफलता को देखते हुए भी बिन्दुसार द्वारा सुशीम की नियुक्ति सिद्ध कर देती है कि बिन्दुसार का सुशीम पर ही सर्वाधिक स्नेह था और वह उसे ही लोक-नायक तथा अपने बाद सिंहासन का अधिकारी बनाने का इच्छुक था। सुशीम में न तो अशोक के समान प्रतिभा थी और न उसे जनता का विश्वास ही प्राप्त था, तक्षशिला में उसकी असफलता से स्वतः सिद्ध हो जाता है। इस बार न तो तक्षशिला निवासियों ने मार्ग ही सजाये और न स्वागतार्थ मंगल घट ले आगे ही आये। सुशीम रक्तपात के उपरान्त महा विजयिनी मौर्य चतुरंगिणी सेना की सहायता से भी विद्रोह न दबा सका और फिर बिन्दुसार को अशोक की नियुक्ति करनी पड़ी। तक्षशिला मौर्य साम्राज्य का अंग बना रहा। तक्षशिला की घटनायें अशोक को प्रतिभावान व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करती हैं और अप्रत्यक्ष रूप से बिन्दुसार का अशोक पर स्नेह न होने तथा मन्त्रिमण्डल और जनमत का अशोक के पक्ष में होने के सत्य को सिद्ध कर देती है।

यद्यपि कि अशोक सिंहासनारूढ होने के कुछ काल उपरांत बौद्ध-धर्मानुयायी हो गया था किन्तु अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में वह बौद्ध धर्मानुयायी न था। राजतरंगिणी का लेखक कल्हण अशोक को शैव-धर्मानुयायी कहता है। कल्हण के अनुसार भूतेश शिव के उपासक अशोक ने विजयेश में दो शिव-मन्दिरों का निर्माण कराया था। किंतु महावंश अशोक को ब्राह्मण धर्मानुयायी कहता है और उसे ६०,००० ब्राह्मणों को नित्य भोजन कराने का श्रेय प्रदान करता है। महावंश के इस कथन की पुष्टि अशोक के प्रथम शिलालेख से हो जाती है। इसमें अशोक का कथन है—"पहले देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के रसोईघर में सूप (शोरवे) के लिये प्रतिदिन सैकड़ों हजारों प्राणी मारे जाते थे, पर अब जब यह धर्मलिपि लिखी गई केवल तीन प्राणी—दो मोर और एक मृग—मारे जाते हैं, वह मृग भी सदा नहीं। आगे वे तीन प्राणी भी न मारे जायेंगे।" इस लेख में वर्णित सैकड़ों हजारों प्राणियों का वध केवल परिवार के लिये होता होगा तर्क संगत नहीं प्रतीत होता। भारतीय राजाओं की प्राचीन परम्परा के अनुसार अशोक भी महावंश में कथित ६०,००० ब्राह्मणों को भोजन कराता होगा और ये बहुसंख्यक प्राणी इसीलिये मारे जाते होंगे! उपर्युक्त वर्णन से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि जीवन के प्रारम्भिक काल में अशोक ब्राह्मण धर्मानुयायी था और उसकी समस्त धार्मिक क्रियाओं में चाहे वे हिंसात्मक ही क्यों न हों, उसकी पूर्ण रुचि थी। किन्तु अशोक कट्टर ब्राह्मण धर्मा-

नुयायी न था। धार्मिक सहिष्णुता का पाठ उसने प्रारम्भ से ही पढ़ लिया था। शैव-धर्मानुयायियों के प्रति उसका प्रेम तथा उसके द्वारा शिव के दो मन्दिरों का निर्माण इस सत्य की पुष्टि करता है।

बीते समय मे राजा लोग बिहार-यात्रा के लिए निकला करते थे। उस यात्रा मे मृगया और वैसी ही अन्य मन बहलाने की बातें होती थीं।" शि० ले० ८ मे अशोक का यह कथन सिद्ध करता है कि अपने पिता तथा बाबा के समान अशोक को भी आखेट प्रिय था। यद्यपि कि आखेट का वर्णन अशोक के लेखों तथा गाथाओं मे अशोक सम्बन्धी उल्लेखों से तो नही प्राप्त होता किंतु मेगस्थनीज के चन्द्रगुप्त मौर्य सम्बन्धी विवरण से अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है। मेगस्थनीज के अनुसार चन्द्रगुप्त जब आखेट पर जाया करता था उस समय स्त्रियो की एक पर्याप्त भीड़ उसे घेरे रहती थी। स्त्रियों के उपरांत भाले वाले सैनिक खड़े रहते थे। सबसे आगे बाजे वाले होते थे। आखेट पर जाने वाली स्त्रियाँ रथ, घोड़े, तथा हाथियों पर आरूढ़ रहती थी तथा हथियारों से पूर्ण सुसज्जित रहती थी। सम्राट मंच पर से आखेट खेलते हुये तीर चलाते थे। मैदान में आखेट खेलते हुये सम्राट हाथी की ओट से तीर चलाते थे। आखेट के लिये जाते समय राजमार्ग रस्सियों से अंकित रहता था। किसी को भी इसे लांघने की आज्ञा न थी। आज्ञा के विपरीत कार्य करने वाले को मृत्यु दंड मिलता था। सम्भवतः अशोक भी इसी प्रकार अभिषेक के दस वर्ष पूर्व तक आखेट के लिए जाया करता था।

"·········और न समाज करना चाहिये, क्योकि देवताओ का प्रिय प्रियदर्शी राजा समाज मे बहुत दोष देखता है। किन्तु एक प्रकार के समाज हैं जिन्हें देवताओं का प्रियदर्शी राजा अच्छा मानता है।" शि० ले० १ में अशोक का यह कथन सिद्ध करता है कि अशोक को भी बौद्ध धर्मानुयायी होने से पहले ये समाज जिन्हें वह अब दूषित समझता है प्रिय थे।

यहाँ पर समाज शब्द का प्रयोग-समाज से क्या तात्पर्य है—यह प्रश्न उठा देता है। आजकल समाज शब्द भारतीय भाषाओं मे अच्छे अर्थ में प्रयोग होने लगा है, किन्तु पहले ऐसा नही था। महाभारत मे धनुष-युद्ध के लिए समाज शब्द का प्रयोग हुआ है तथा 'हरिवंश' मल्ल-युद्ध को समाज कहता है। खाराभेल लेख में समाज शब्द उत्सव के लिये प्रयोग किया गया है। सम्भवतः इसी आधार पर सेनार्ट समाज का अर्थ उत्सव से लेते हैं। बुलेर समाज को मेला कहते हैं। उनके अनुसार समाज के अवसर पर खान-पान-गोष्ठी भी हुआ

करती थी और माँस तथा मदिरा का प्रयोग बहुतायत से होता था। मेगस्थनीज़ ने भी चन्द्रगुप्त के समय के कुछ मनोरंजनों का उल्लेख किया है जैसे घोड़े, रथों तथा बैल-गाड़ियों की दौड, तथा हाथी, बारहसिगा, साँड़, मेढ़ा और मनुष्यों के युद्ध। सम्भवत: ऐसे अवसरो पर खान-पान-गोष्ठी भी होती होगी जहाँ माँस तथा मदिरा का प्रयोग बहुतायत से होता होगा। इन समस्त विवरणों के आधार पर हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि समाज शब्द शनैः शनैः सभ्यता के विकास के साथ अपने प्रारम्भिक रूप को त्यागता तथा आज के रूप को अपनाता चला गया। समाज (सम्+अज्) का शाब्दिक अर्थ है इकट्ठे हाँकना! सम्भवत: सभ्यता के प्रारम्भिक युग मे जब केवल एक परिवार अथवा कुल के सदस्य ही एक ग्राम में रहते थे और जब मनोरंजन के साधन पूर्णतया सीमित थे, उस समय कभी कभी विभिन्न परिवारों अथवा ग्रामों के मनुष्य एक स्थान पर एकत्र होकर मनोरंजन के साधन जुटाया करते थे। इन सामूहिक मनोरंजनों में बहुधा पशुओं तथा रथों की दौड़ एवम् लड़ाई हुआ करती थी क्योंकि उस समय के लोगों का मुख्य धन ये पशु ही थे। ऐसे अवसरों पर बहुधा बाजी भी लगाई जाती थी। इन सामूहिक मनोरंजनो को समाज नाम दिया गया। शनैः शनैः सभ्यता के विकास के साथ ग्रामो का रूप बदला। ग्रामो मे एक परिवार के स्थान पर विभिन्न परिवारों के लोग रहने लगे। नगरों का जन्म हुआ तथा राज्यों की नीव पड़ी। इसके साथ ही समाज के भी रूप मे परिवर्तन होने प्रारम्भ हुये। मल्ल-युद्ध तथा धनुष-युद्ध के मनोरंजनों को भी समाज कहा गया। राज्यों की उत्पत्ति तथा व्यवसायिक केन्द्रो के उत्थान के साथ उनकी रक्षा का उत्तरदायित्व भी बढ़ गया था। अतः जनता की रुचि युद्ध सम्बन्धी कार्यो की ओर बढ़ने लगी थी। पशु तथा रथों की दौड़ का महत्त्व कम हो गया था और उसका स्थान मल्ल-युद्ध तथा धनुष-युद्धों ने ले लिया था। ये युद्ध भी मनोरंजन तथा व्यक्तिगत शक्ति-परीक्षण के लिए होते थे और ऐसे अवसरों पर भी चारों ओर की जनता एकत्र होती थी। राज्यों की उत्पत्ति के साथ राज्य विस्तार की आकाँक्षाओं ने भी जन्म ले लिया था। अतः राज्यों का संघर्ष प्रारम्भ हुआ। दूसरे राज्यों को हड़पने वाले राजाओं के लिये विजित जनता को अधीन बनाये रखने की समस्या उठ खड़ी हुई। विजित राज्यों में अशान्ति के बहुधा दो कारण होते हैं—

(१) विजित जनता की अपने पराजित राजा के प्रति स्वामि-भक्ति।

(२) युद्धों से उत्पन्न निर्धनता। (युद्धों के समय खेती के नष्ट तथा खेती

न हो सकने के कारण तथा विजित राज्य के अधिकारियों तथा सैनिकों के राजकीय सेवा से मुक्त किये जाने के कारण)।

इस अशांति को रोकने के लिये विजयी राजाओं ने राज्य की ओर से विशाल दावतों का आयोजन किया। इन भोजों मे सहस्त्रों ही व्यक्ति नित्य भोजन प्राप्त करते थे। इनका उद्देश्य असन्तुष्ट निर्धन जनता को भोजन देकर विजयी राजा के प्रति स्वामिभक्त बनाना था। ऐसे भोजों में सम्भवतः माँस तथा मदिरा का प्रयोग भी बहुतायत से होता था। इन भोजों को भी समाज कहा गया। धीरे-धीरे इन भोजों की एक परम्परा सी पड़ गई और राजा दान के रूप में इनको स्थान देने लगे।

सभ्यता के विकास के साथ जनता की रुचि भी परिष्कृत होने लगी। हिंसात्मक मनोरंजनों के स्थान पर कलात्मक मनोरंजनों का प्रादुर्भाव हुआ। प्रेक्षागार की उत्पत्ति हुई और उनमें विभिन्न दृश्य तथा नाटक दिखाये जाने लगे। और भी विभिन्न प्रकार के धार्मिक उत्सवों तथा मेलों का आयोजन होने लगा। इन सामूहिक मनोरंजनों को भी समाज कहा गया। धीरे-धीरे समाज अपना यह प्रारम्भिक तथा संकुचित रूप त्यागता गया और आज तो इसका प्रयोग मानवीय स्तर पर होने लगा है और सम्पूर्ण विश्व ही इसके क्षेत्र में आ गया है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम प्राचीन 'समाज' को तीन रूपों में देखते है:—

(१) पशुओं और रथों की दौड़ तथा लड़ाई एवम् उन पर बाजी लगाना; पशुओं तथा मनुष्यो के युद्ध। सम्भवतः ऐसे अवसरों पर माँस तथा मदिरा का प्रयोग भी होता होगा।

(२) राजाओं की ओर से दावतें जिनमे माँस तथा मदिरा का प्रयोग बहुतायत से होता था।

(३) प्रेक्षागार जहाँ दृश्य या नाटक दिखाये जाते थे तथा अन्य सामूहिक धार्मिक उत्सव एवम् मेला।

अशोक के समय मे भी समाज अपने इन्ही तीनों रूपों में विद्यमान था। अशोक का प्रथम शिलाभिलेख इस सत्य की पुष्टि भी कर देता है। 'समाज' के प्रथम रूप में अशोक बहुत से दोष देखता है अतः वह उनका निषेध करता है। यद्यपि अशोक 'समाज' के दूसरे रूप का भी उल्लेख करता है और भविष्य में ऐसे अवसरों पर माँस का निषेध करता है किन्तु वह इसे 'समाज' के नाम

मे सम्बोधन नही करता । सम्भव है ऐसे भोजों को 'समाज' कहना मौर्य काल मे बन्द हो गया हो । किन्तु अशोक शिलाभिलेख एक मे ही ऐसे 'समाज' का उल्लेख भी करता है जिन्हे वह अच्छा मानता है। यह 'समाज' उपर्युक्त वर्णित 'समाज' का तीसरा रूप है । अशोक ने बौद्ध धर्मानुयायी होने के उपरान्त इस समाज के रूप को बदल दिया। इसका परिवर्तित रूप क्या था ? अशोक ने इसका उल्लेख स्वय ही चतुर्थ शिलालेख मे कर दिया है। विभिन्न धार्मिक दृश्यो के स्थान पर अब इनमें लोगों को विमान के दर्शन, हाथियों के दर्शन तथा अग्निस्कंध आदि अन्य दिव्य रूपों के दर्शन कराये जाने लगे ।

अत: स्पष्ट है कि अशोक भी बौद्ध-धर्मानुयायी होने से पहले हिंसात्मक वृत्तियों वाला था। प्राचीन राजकुमारो तथा राजाओ के समान ही उसके मनोरंजन के साधन तथा परम्पराये थी । वह माँसाहारी था और उसे मोर तथा हिरन का माँस अत्यधिक प्रिय था ।

दूसरा प्रकरण

राज्यारोहण तिथि तथा कलिंग-विजय

राज्यारोहण की समस्या:—

सम्राट अशोक के राज्यारोहण की समस्या भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त ही उलझी हुई समस्याओं में से है। इस समस्या के उठने का कारण अशोक सम्बन्धी भारतीय गाथाओं का विरोधी वर्णन तथा स्वयं अशोक का राज्यारोहण के चार वर्ष उपरान्त अभिषेक का होना है।

महावंश के एक वर्णन के अनुसार बिन्दुसार के सोलह रानियाँ तथा १०१ पुत्र थे। इनमें अशोक सबसे अधिक प्रतिभाशाली तथा शक्तिशाली था। बिन्दुसार की मृत्यु के बाद अशोक ने अपने १०० भाइयो को मारकर जम्बूदीप पर अधिकार कर लिया। किन्तु महावश सतिका अशोक के राज्यारोहण की दूसरी ही कहानी उपस्थित करती है। इसके अनुसार अशोक पिता द्वारा नियुक्त उज्जयिनी मण्डल का शासक था। पिता के मृत्यु शैया पर पड़े होने का समाचार सुनकर वह तुरन्त पाटलिपुत्र पहुंचा और पिता की मृत्यु होते ही उसने ज्येष्ठ भाई सुमन को मारकर राज्य पर अधिकार कर लिया।

दिव्यावदान अशोक के राज्यारोहण की कहानी दूसरे ही रूप में प्रस्तुत करता है। दिव्यावदान की गाथा के अनुसार अशोक बिन्दुसार के समस्त पुत्रों मे सबसे अधिक योग्य था किन्तु राजा का उस पर स्नेह न था। ज्येष्ठ पुत्र सुमन राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी था और राजा का उस पर स्नेह भी था। किन्तु सुमन ने अपने उद्दण्ड व्यवहार से समस्त मंत्रिमण्डल को विरोधी बना लिया था। अतः मन्त्रिमण्डल सुमन को राजा बनाने के पक्ष में न था। एक बार तक्षशिला में विद्रोह हुआ। अशोक ने जाकर विद्रोह शांत कर दिया। दूसरी बार फिर जब तक्षशिला मे विद्रोह हुआ राजा ने सुमन को विद्रोह शान्त करने भेजा। किन्तु सुमन विद्रोह शान्त न कर सका। अतः अशोक की पुनः नियुक्ति की गई।

अनायास इसी अवसर पर बिन्दुसार की मृत्यु हो गई। सिंहासन रिक्त होते ही अशोक ने प्रधान मन्त्री राधागुप्त की सहायता से सिंहासन पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार सिंहासन हाथ से निकल जाने पर सुमन ने पाटलिपुत्र पर अधिकार करने के लिये आक्रमण करने की योजना बनाई किन्तु राधागुप्त ने धोखे से सुमन को अंगारो के खड्ड मे गिराकर मरवा डाला।

महाबोधिवंश के अनुसार अशोक के अनायास ही सिंहासन पर अधिकार कर लेने के पश्चात् उसके ६८ भाइयो ने सुमन की अध्यक्षता मे पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया। युद्ध मे सुमन तथा अन्य समस्त भाई मार डाले गये और अशोक का सिंहासन पर अधिकार स्थापित हो गया।

उपर्युक्त गाथाओं का अध्ययन सिंहासन प्राप्ति के लिए संघर्ष का होना तो प्रमाणित कर ही देता है। किन्तु संघर्ष के वर्णन मे गाथाये एक मत नही हैं। उनका पारस्परिक विरोध एक ऐसी उलझन उत्पन्न कर देता है जिसे सुलझाना दुस्तर हो गया है। एक ओर तो महावंश अशोक पर ज्येष्ठ भाई सुमन सहित अपने १०० भाइयों का वध करने का कलंक लगाता है तथा दूसरी ओर महाबोधि वंश अशोक को अपने ६८ भाइयों के बध के लिये उत्तरदायी ठहराता है। किन्तु दिव्यावदान मे यह युद्ध केवल अशोक और सुशीम के मध्य हुआ बताया गया है। जहाँ महावंश बिन्दुसार के मृत्यु शैया पर होने के समय अशोक का उज्जयिनी मण्डल का शासक होना बताता है वहाँ दिव्यावदान के अनुसार बिन्दुसार की मृत्यु के समय अशोक पाटलिपुत्र में ही था और सुमन की असफलता पर तक्षशिला-विद्रोह का दमन करने के लिये (बिन्दुसार द्वारा नियुक्ति किये जाने पर) जाने को तत्पर था। इन गाथाओं के अध्ययन से दो प्रश्न उठ खड़े होते हैं :—

(१) क्या सिंहासन प्राप्ति का यह युद्ध अशोक तथा उसके अन्य समस्त भाइयों के मध्य हुआ था ? या

(२) क्या यह युद्ध केवल अशोक तथा सुमन के मध्य हुआ था ?

कुछ विद्वान तो इस संघर्ष के अस्तित्व को ही नही स्वीकार करते। वे बौद्ध धर्मावलम्बियों द्वारा अशोक को प्रदान की हुई 'चाण्डाशोक' की उपाधि को भी कोरी गप्प मानते हैं। बौद्ध धर्मावलम्बियों ने अशोक को बौद्ध होने के उपरान्त उसके कार्यों के लिये उसे धर्माशोक तथा उसके पहले के जीवन के लिये चाण्डाशोक नामों से आभूषित किया है। विद्वानों के अनुसार चाण्डाशोक की उपाधि का आधार काल्पनिक सिंहली गाथायें है जिनका निर्माण बौद्ध धर्मा-

वलम्बियो ने अशोक के प्रारम्भिक जीवन को कलुषित दिखाने के लिये किया है। साथ ही उनका उद्देश्य 'धर्माशोक' की उपाधि प्रदान कर अपने धर्म की महत्ता दिखाना भी है, जिसके द्वारा दुश्चरित्र अशोक भी धर्माशोक बन गया। विद्वानों की यह धारणा अशोक के प्रारम्भिक जीवन को कलुषित मानने के लिये तत्पर नही। अशोक के प्रारम्भिक जीवन पर सबसे बड़ा कलंक का आरोप सिंहासन प्राप्ति के लिये अपने १०० अथवा ९८ भाइयों के बध करने का है। तो क्या अशोक ने अपने इन भाइयों का बध कर सिंहासन प्राप्त नही किया ?

अशोक के शिलाभिलेख एवम् स्तम्भ लेख इस समस्या के समाधान में हमारी आंशिक सहायता अवश्य करते हैं। अशोक अपने पाँचवें शिलाभिलेख में धर्म महामात्रों की नियुक्ति के प्रति कहता है "ये धर्ममहामात्र यहाँ तथा वाह्य दूरस्थ नगरों में मेरे (तथा) भाइयों और बहिनो के अन्तःपुर और मेरे अन्य सम्बन्धियों के यहाँ सर्वत्र नियुक्त हैं।" यदि अशोक ने अपने समस्त भाइयों का बध कर दिया था तो फिर यहाँ उसके भाइयों का उल्लेख क्यों ? यहीं नही, सातवें स्तम्भ लेख मे भी अशोक अपने परिवार की हित कामना के लिये चिंतित दिखाई पडता है। "यहाँ (पाटलिपुत्र) और बाहर के मेरे अवरोधों में, वे महामात्रगण विभिन्न प्रकार के कई आनन्द देने वाले कार्यो में व्यस्त हैं तथा पुण्य कार्यो की वृद्धि के लिये मैंने आदेश दिया है कि वे रानियों के तथा मेरे अतिरिक्त, मेरे पुत्रों और अन्य देवी कुमारों के दान कार्य के लिये नियुक्त किये जायें।" बहुधा विद्वान देवी कुमारों से अशोक के पुत्रों का अर्थ ले लेते हैं किन्तु यह भूल है। अशोक ने बाहर के अन्तःपुर मे रहने वाली अपनी रानियों तथा पुत्रों का उल्लेख स्पष्टतया प्रथक कर दिया है। फिर देवी कुमारों का पुत्रों के लिये प्रयोग मान लेना तर्क संगत प्रतीत नही होता। 'देवी' शब्द का प्रयोग रानियों के लिये किया जाना भी, 'रानियों' शब्द का उल्लेख पृथक किये जाने पर उचित नही प्रतीत होता। देवी-कुमारों से तात्पर्य स्तम्भ लेख में केवल माताओं के पुत्रों से ही है और इसी रूप मे इसका अर्थ किया जाना चाहिये। बिन्दुसार की १६ रानियों का उल्लेख किया ही जा चुका है अतः अशोक की १५ विमाताओं का होना प्रमाणित ही है। अशोक इस सातवें स्तम्भ लेख में अपनी इन्हीं विमाताओं के पुत्रों (अपने सौतेले भाइयों) की हितकामना के लिये चिन्तित दिखाई देता है। अतः यह लेख भी अशोक के शासनकाल मे उसके भाइयों का जीवित होना प्रमाणित करता है। इन लेखों के अतिरिक्त अशोक के अन्य लेखों में भी उसके भाइयों तथा सम्बन्धियों के प्रति सद्भावना के भाव झलकते हैं। यही

नही महावंश आदि गाथाओं मे तिष्य (वितासोक) के अशोक के शासन काल में जीवित रहने का स्पष्ट उल्लेख है ।

उपर्युक्त प्रमाणो का अध्ययन यह तो सिद्ध कर ही देता है कि अशोक ने सिंहासन प्राप्ति के लिये अपने समस्त भाइयों का बध नही किया । तो फिर सत्य क्या है ? क्या गाथाओं का वर्णन अशोक के जीवन को बौद्धधर्मावलम्बी होने से पहले कलुषित दिखाने का ही है । कुछ विद्वान ऐसा ही विश्वास करते हैं । अपने विश्वास को पूर्णतया प्रमाणित करने के लिये ये विद्वान अशोक के उन लेखो का उल्लेख करते हैं जो मानवीय भावनाओ से ओत-प्रोत है । "समस्त लोकों का हित करने से बढ़कर करने वाला कार्य और कोई नही ।" (मानसेरा शिलाभिलेख ६); "सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं" तथा "जिस प्रकार मै अपने बच्चों के सुख का इच्छुक हूँ उसी प्रकार मैं अपनी प्रजा का सुख और हित इहलोक तथा परलोक दोनों में चाहता हूँ " (कलिंग शिलाभिलेख २); "जैसे धाय के हाथ में बच्चे को सौंप कर आदमी भरोसे से रहता है···वैसे ही मैंने जनपद के सुख तथा हित के लिये राजुक नियुक्त किये हैं ।" (स्तम्भलेख ४) धर्म क्या है ? "पाप न करना, बहुत कल्याण करना, दया, दान, सचाई तथा पवित्रता (स्तम्भ लेख २); प्राणियों को न मारना, जन्तुओं की अहिंसा, परिचितों ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति आदरपूर्ण व्यवहार, माता पिता की सेवा (शिलाभिलेख ४(: दासों और भृतकों से उचित व्यवहार, गुरुजनो की पूजा. प्राणियों के प्रति-व्यवहार मे संयम, श्रमणों और ब्राह्मणों को दान (शिलाभिलेख ६) आदि अशोक के मानवोचित उद्गारों का आधार ले विद्वान तुरन्त ही इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं कि ऐसी महान भावनाओ का क्रियात्मक प्रदर्शन करने वाला कभी भी भ्रातृघातक नही हो सकता । और फिर अशोक के शिलाभिलेखों से तो उसके शासन काल मे उसके भाइयों की उपस्थिति पूर्णतया सिद्ध ही हो जाती है ।

यद्यपि अशोक के शिलाभिलेखों मे उसके भाइयों की उपस्थिति का उल्लेख तथा उसके मानवोचित उद्गार यह सिद्ध करने मे सार्थक अवश्य है कि उसके शासनकाल में उसके भाई जीवित थे और उसका ध्येय समस्त लोकों का हित करना था किन्तु यह सिद्ध नहीं करते कि उसके समस्त भाई जीवित थे और उसके मानवोचित उद्गार भी लेखों के उत्कीर्ण होने के समय वहीं है जो पहले थे । लेखों मे भाइयों शब्द का प्रयोग बहुबचन में हुआ है किन्तु संख्या के अभाव में इसे समस्त भाइयों का द्योतक मान लेना या केवल सुमन (सुशीम) को छोड़कर अन्य समस्त भाइयों की उपस्थिति का प्रतीक मान लेना समझ में

नही आता । और फिर इसी भ्रमात्मक आधार पर सम्पूर्ण गाथाओं के वर्णन की पूर्ण अवहेलना करना भी न्याय संगत प्रतीत नही होता ।

गाथाओं से यह तो प्रमाणित ही है कि अशोक बिन्दुसार का ज्येष्ठ पुत्र नही था । ज्येष्ठ पुत्र तो सुमन (सुशीम था) । ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते सुमन ही बिन्दुसार के बाद सिंहासन का वास्तविक अधिकारी था । बिन्दुसार का अशोक पर अधिक स्नेह न होने का उल्लेख भी दिव्यावदान मे प्राप्त है । तक्षशिला का विद्रोह बिना रक्तपात के दबा देने के कारण अशोक की कीर्ति अत्यधिक बढ गई थी । सम्भवतः बिन्दुसार अशोक की इस कीर्ति से प्रसन्न न था । वह सुमन को अशोक से ऊँचा उठाने का इच्छुक था । कदाचित इसी कारण तक्ष-शिला मे दुबारा विद्रोह होने पर उसने सुमन की नियुक्ती की थी । इन घटनाओं का अध्ययन यह मानने पर बाध्य कर देता है कि बिन्दुसार सुमन को अपने बाद राजा बनाने के पक्ष मे था और सुमन को भी वास्तविक उत्तराधिकारी होने तथा पिता का समर्थन प्राप्त होने के नाते राजा बनने का पूर्ण विश्वास था । दूसरी ओर गाथाओं के अनुसार मंत्रिमण्डल अशोक के पक्ष मे था । अतः अशोक भी मंत्रिमण्डल का समर्थन प्राप्त कर सिंहासन प्राप्त करने का स्वप्न देख रहा था । इस प्रकार बिन्दुसार के बाद सिंहासन प्राप्ति के प्रति एक आन्त-रिक षड़यन्त्र चल रहा था । इस षड़यन्त्र के परिणाम स्वरूप बिन्दुसार की मृत्यु के बाद उत्तराधिकारी के युद्ध की भूमिका तैयार हो ही चुकी थी । अतः बिन्दुसार की मृत्यु होते ही इस संघर्ष का छिड़ जाना असम्भव नही प्रतीत होता । गाथाओ के अनुसार बिन्दुसार की मृत्यु के समय सुमन सेना के साथ तक्षशिला का विद्रोह दबाने गया था । अतः बिन्दुसार की मृत्यु तथा अशोक की अनाधिकार चेष्टा पर उसका स्वयं विद्रोह कर बैठना असम्भव नही । रही सेना के सहयोग की बात—सेना भी ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते सुमन को ही वास्त-विक उत्तराधिकारी मानती होगी और उसकी अध्यक्षता मे तक्षशिला जाने वाली सेना ने तो अवश्य ही उसका साथ दिया होगा । यह आवश्यक है मंत्रि-मण्डल का सहयोग अशोक को प्राप्त होने से लोकमत तथा सेना का एक भाग भी अशोक के साथ अवश्य ही रहा होगा अन्यथा अशोक को इस अनाधिकार चेष्टा में पूर्ण सफलता मिलती ही क्यो ।

जहाँ तक अशोक के अन्य सौतेले भाइयों का सम्बन्ध है, यह तो सम्भव नही प्रतीत होता कि ये सब इस भयंकर संघर्ष के प्रति उदासीन रहे हों या सभी ने अशोक के पक्ष का समर्थन किया हो । और फिर जब अशोक एक कुलीन

क्षत्रीय राजकुल की कन्या का पुत्र न होकर चम्पा के एक गरीब ब्राह्मण की पुत्री शुभद्रांगी का पुत्र था, जिसने बिन्दुसार से विवाह होने के पहले राजमहल में नाइन के रूप मे दासी का कार्य किया था, ऐसी स्थिति मे इस कारण भी कुछ राजाकुमारों का सुमन का पक्ष ग्रहण करना असम्भव नही प्रतीत होता । अशोक का साथ भी कुछ सौतेले भाइयों ने अवश्य दिया होगा । इस प्रकार अशोक के सौतेले भाइयों का भी इस संघर्ष मे भाग लेना तर्क पूर्ण प्रतीत होता है । यह भी सम्भव है कि अशोक के समस्त सौतेले भाइयों ने सुमन का पक्ष लिया हो । अतः गाथाओं का वर्णन कि संघर्ष मे अशोक के विरुद्ध उसके समस्त सौतेले भाइयों ने सुमन का पक्ष लिया गलत नही प्रतीत होता ।

किन्तु अशोक के लेखों मे भाइयों के अन्तःपुर का उल्लेख यह मानने को विवश कर देता है कि अशोक के शासन काल मे उसके कुछ भाई जीवित थे और अशोक को उनके हितों का पूर्ण ध्यान था । अतः गाथाओं में वर्णित अशोक द्वारा समस्त भाइयों के बध की कथा यदि पूर्णतया गलत नहीं तो अतिरञ्जित अवश्य प्रतीत होती है । सम्भवतः युद्ध के परिणाम स्वरूप अधिक संख्या में इनका बध हुआ होगा । अशोक की निश्चयात्मक विजय तथा सुमन के बध के पश्चात् शेष भाइयों ने सम्भवतः आत्म समर्पण कर अशोक की संरक्षता में रहना स्वीकार कर लिया होगा । इस प्रकार गाथाओं मे वर्णित उत्तराधिकार के इस युद्ध तथा परिणाम स्वरूप अशोक के सौतेले भाइयों के बध की कथा की पूर्ण अवहेलना नही की जा सकती । साथ ही समस्त भाइयों के बध की सत्यता में विश्वास भी नही किया जा सकता ।

कुछ विद्वान् अशोक की धर्म लिपियो का अवलम्ब ले उसके प्रारम्भिक जीवन को भी उतना ही ऊँचा उठाने का प्रयास कर बैठे है जितना कि उसका चरित्र बौद्ध धर्म स्वीकार करने के उपरान्त उठ गया था । उसके मानवोचित उदारों तथा भाइयों के प्रति हित कामनाओं का लेखों में दर्शन कराते हुये विद्वान् उत्तराधिकार के युद्ध को निर्मूल सिद्ध करने का प्रयास करते है । उनके अनुसार इतना दयालु सम्राट कभी भी इतना हिसक नही हो सकता कि वह अपने भाइयों का बध कर डाले । किन्तु यह तर्क उतना ही न्याय संगत है जितना कि पके मीठे फल को चख कर उसके प्रारम्भिक जीवन में भी उसी मिठास की कल्पना कर कच्चे फल को भी पके के समान मीठा मान लेना । अशोक का बौद्ध धर्मावलम्बी होने से पहले का जीवन जैसा कि प्रथम प्रकरण में बताया जा चुका है हिंसात्मक वृत्तियों से घिरा हुआ था । वह जीवन के उस भाग में न तो इतना सहृदय तथा

दयालु ही था और न इतना मानवता का पुजारी ही। उसमे महत्वाकांक्षाओं का बाहुल्य था। महत्वाकांक्षाओ मे अपने तथा पराये के अन्तर को समझने की क्षमता नही होती। वहाँ मानवता का अस्तित्व केवल अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिये ही होता है। अपने से आगे बढ़ते हुये मनुष्यों को देख उन्हे नीचे गिराने की बलवती स्पृहा सदैव अपना ताण्डव करती रहती है। अशोक मे भी इन गुणों का अभाव न था। यदि अशोक, लेखो के अशोक सा मानवता का पुजारी होता, उसके हृदय मे उसी वन्धुत्व की पुकार होती, उसी सहृदयता तथा दयालुता का बाहुल्य होता तो वह कभी सिंहासन प्राप्ति के लिये सुमन के अधिकारो पर कुठाराघात न करता। मानवता की पूजा राजा बनकर ही पूर्ण नही होती। महात्मा बुद्ध ने तो मानवता की पूजा के प्रति राज्य को बाधक मानकर उसका त्याग कर दिया था। और फिर अशोक अपनी अनाधिकार चेष्टा मे पूर्ण सफलता प्राप्त करने के उपरान्त शीघ्र ही मानवता का पुजारी नही बन गया। मानवता का पुजारी बनने मे उसे सिंहासन प्राप्त करने के उपरान्त लगभग १३ वर्ष तक हिंसा की तपस्या करनी पड़ी थी। अशोक के स्वयं कथनानुसार, "पहले देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के रसोई घर मे सूप (शोरवे) के लिये प्रतिदिन सैकड़ों हजारों प्राणी मारे जाते थे, पर अब जब यह धर्म लिपि लिखी गई केवल तीन प्राणी दो मोर और एक मृग मारे जाते हैं, वह मृग भी सदा नही। आगे वे तीन प्राणी भी न मारे जायेंगे" (शि० ले० १)। यह सैकड़ों तथा हजारों प्राणियों का बध और वह भी नित्य, क्या अहिंसा का प्रतीक है? क्या इन प्राणियों का बध केवल अशोक तथा उसके परिवार के लिये ही था? सैकडों हजारो प्राणियों का सूप तो एक विशाल नगर के लिये पर्याप्त होगा। महावंशके अनुशार अशोक नित्य ६०,००० ब्राह्मणों को भोजन कराता था। सम्भवत: इन प्राणियो का बध ६०,००० ब्राह्मणों को भोजन कराने के लिये ही होता होगा। और फिर कलिंग का भीषण रक्तपात। क्या यह भी अहिंसा का प्रतीक है? क्या स्वतन्त्र राज्य की स्वतन्त्रता का हरण दयालुता, सहृदयता तथा विश्व बन्धुत्व की कोटि मे आता है? अत: स्पष्ट है कि अशोक बौद्ध धर्मावलम्बी होने से पहले इसी हिंसात्मक विश्व का एक प्राणी था। उसका उद्देश्य इस काल मे केवल अपने स्वार्थों की पूर्ति था। इस प्रकार अशोक के इस काल के रक्तपात से पूर्ण जीवन पर, लेखों के महान् अशोक के उद्गारों तथा कार्यों द्वारा परदा डालने का प्रयास अशोक के वास्तविक चरित्र को छिपाना तथा उसके जीवन के उतार चढ़ाव का मूल्यांकन करने मे बाधाये उपस्थित करने का केवल प्रयास है। अत: अशोक के

लेख भी, जैसा कि कुछ विद्वान् सोचते हैं, उत्तराधिकार के रक्तपात से पूर्ण भयंकर युद्ध को निर्मूल सिद्ध करने मे असमर्थ हैं।

किन्तु क्या अशोक को अपने इस काल के जीवन के कार्यों के लिये चाण्डाशोक कहना उचित है? बौद्ध-धर्मावलम्बियो ने अशोक को चाण्डाशोक की उपाधि से आभूषित कर उसके बौद्ध धर्म ग्रहण करने से पूर्व के जीवन को हिंसात्मक तथा अत्यन्त ही क्रूर प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। उसे दण्ड देने के लिये एक 'नरक' के निर्माण करने का भी उत्तरदायी ठहराया गया है, जिसमे अपराधियों के साथ निरपराधी व्यक्ति भी विभिन्न यातनाओ से पीड़ित किये जाते थे। सी० यू० की० मे भी फाइहान ने इस 'नरक' का उल्लेख किया है। उसने प्राचीन प्रसाद के उत्तरी भाग में स्थित इस 'नरक' के स्थान के दर्शन किये थे। उसने इस स्थान पर कई फीट ऊँचा एक पत्थर का स्तम्भ भी देखा था। अशोकावदान में भी अशोक को कर्मचारियों तथा स्त्रियों के संहारक के रूप मे दिखाया गया है। कुछ विद्वानों ने अशोक के ऊपर लगाये गये इन आरोपो को अशोक के मानवोचित कार्यों द्वारा निर्मूल सिद्ध करने का प्रयास किया है। किन्तु यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से इन आरोपों का अध्ययन किया जाय तो इनमे सत्य की झलक अवश्य दिखाई देगी। यह तो स्पष्ट ही है कि अशोक ने सिंहासन पर अधिकार करने की अनाधिकार किन्तु सफल चेष्टा की थी। उत्तराधिकार का युद्ध भी हुआ ही था तथा देश मे सुमन का पक्ष ग्रहण करने वाले भी थे। यह अवश्य है कि अशोक को मंत्रिमण्डल का सहयोग प्राप्त था और लोकमत का भी बहुत कुछ अंश मे अशोक के पक्ष मे होना माना जा सकता है। फिर भी सिंहासन प्राप्त करने के उपरान्त देश मे विद्रोही तत्वों का अनायस ही नाश हो गया होगा मान लेना तर्क संगत प्रतीत नही होता। और यदि मान भी लिया जाये तो फिर अशोक के अभिषेक का चार वर्ष न होने का कारण समझ में नही आता। इस विलम्ब को प्रान्तीय विद्रोहों का अनुमान लगाकर स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। किन्तु ऐसे किसी विद्रोह का किन्ही भी गाथाओं मे स्पष्ट उल्लेख नही है और फिर यदि इनके अस्तित्व का केवल अनुमान के आधार पर विश्वास भी कर लिया जाय तो इन विद्रोहों को भी उत्तराधिकार के युद्ध की घटना के साथ सम्बद्ध करना चाहिये। सम्भवतः इन्हीं विद्रोही तत्वों तथा विद्रोह का दमन करने में और अपने अधिकार को दृढ़ बनाने के प्रयासों में ही अशोक ने चार वर्ष व्यतीत किये। इन विद्रोही तत्वों का क्रूरता से दमन किया गया होगा। परिणाम स्वरूप इस भयंकर रक्तपात मे अनेकों

निरपराध स्त्रियों तथा पुरुषों को भी, जैसा कि ऐसी परिस्थितियों मे हुआ करता है, विभिन्न क्रूर यातनाय दी गई होंगी। पाटलिपुत्र तथा निकट के प्रदेशों के विद्रोहियों के लिये प्रसाद के उत्तरी भाग मे एक स्थान भी सम्भवतः दण्ड देने के लिये नियत कर दिया गया होगा। बौद्ध धर्मावलम्बियों ने अहिसा के प्रतिकूल हिंसा की इस तपोभूमि को यदि 'नरक' का नाम दिया तो अपने धार्मिक सिद्धांतों के आधार पर कुछ अनुचित नही किया।

अशोक की हिसात्मक रुचि का आभास स्वय स्वीकृत सूप के लिये सैकड़ों हजारों प्राणियों के नित्य बध तथा कलिग के भीषण रक्तपात से मिल ही जाता है तथा उसके हिसात्मक मनोविनोदों पर भी 'समाज' (शि० ले० १) तथा बिहार यात्रा (शि० ले० ८) से पर्याप्त प्रकाश पड जाता है। इस प्रकार इन्ही समस्त कारणों के आधार पर बौद्ध धर्मावलम्बियों ने उसे चाण्डाशोक की उपाधि दी। यह अवश्य है कि अशोक ही केवल हिसात्मक प्रेमी शासक नही हुआ। भारतीय इतिहास के पन्ने अशोक से भी अधिक हिसात्मक वृत्तियों वाले शासकों से पूर्ण है। चन्द्रगुप्त मौर्य क्या कुछ कम क्रूर तथा हिसात्मक वृत्तियों वाला था ? राजपुत्रों को भयंकर भेडियो के समान बतलाकर अपने से दूर रखने का उपदेश देने वाला, चन्द्रगुप्त का महान गुरु, उसकी राजतन्त्री का आधार तथा भारतीय राजनीति का अमर प्रतीक चाणक्य, क्या अशोक से कम हिसात्मक था ? तो फिर बौद्धधर्मावलम्बियों ने केवल अशोक को ही क्यों चाण्डाशोक की उपाधि दी ? इसलिए नही कि अशोक की क्रूरता असीम थी—इस क्रूरता के प्रदर्शन के लिये तो उसे उस काल की परिस्थितियों ने बाध्य कर दिया था; इसके अभाव में उसका अधिकार बुलबुलों के समान क्षणिक होता—किन्तु इसलिये कि जिस मानवता के दर्शन अशोक मे बौद्धधर्मानुयायी होने के बाद होते हैं, उस मानवता की उसके प्रारम्भिक कार्यो मे झलक भी नही दिखाई देती। यदि हम अशोक को इतिहास से अलग की वस्तु मानकर, नैतिकता तथा मानवता की कोटि मे रखकर, उसके जीवन के दोनों ही भागों का अध्ययन करें तो हम अवश्य बौद्धधर्मावलम्बियों की दोनों ही उपाधियों—चाण्डाशोक तथा धर्माशोक से पूर्णतया सहमत होंगे। किन्तु यदि हम अशोक को इतिहास की एक शृंखला मानकर, उसके जीवन का अध्ययन करें, उस परिस्थित मे हम उसका मूल्यांकन उसके व्यक्तिगत कार्यों से न कर तुलनात्मक आधार पर करेंगे। इतिहास में क्रूरताओं के करुण क्रन्दन का अभाव नही। अशोक की तो क्रूरता अन्य क्रूरताओं की तुलना मे शिशु सी ही प्रतीत होगी। अतः इस दृष्टिकोण से उसे

चाण्डाशोक कहना पूर्णतया अनुचित है। यहाँ यह कहना भी अनुपयुक्त न होगा कि अशोक को महान बनाने का श्रेय उसकी इन्ही क्रूरताओं तथा हिंसात्मक वृत्तियों को है, जिनकी सिसकियों ने उसके हृदय मे छिपी मानवता को जागृत कर दिया और फिर बौद्धधर्म के अहिंसात्मक सरल उपदेशो ने उसे बौद्ध धर्म का समर्थक तथा मानवधर्म का पुजारी बना दिया।

अभिषेक की तिथि :—

प्राचीन भारत मे घटनाओं का उल्लेख करने के लिए किसी एक निश्चित तिथि-क्रम के पालन की परम्परा न थी। राजा स्वयं अपने अभिषेक के वर्ष से अपने शासन काल की घटनाओ का उल्लेख करते थे। इस परम्परा ने प्राचीन भारत का तिथियो के अनुसार क्रम-बद्ध इतिहास ज्ञात करने मे कठिनाइयाँ उपस्थित कर दी है। भारतीय साहित्य मे, इन कठिनाइयों के समाधानों के साधनों के अभाव मे, तिथियों के निश्चय के लिए, हमे विदेशी साधनों का आश्रय लेना पड़ता है। अशोक के शासन काल की तिथि के निश्चय के लिये भी हमे ऐसी ही कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। अशोक की तिथि के सम्बन्ध मे गाथायें मौन है और अशोक के शिलाभिलेख तथा स्तम्भ लेख उसके अभिषेक की तिथि से घटनाओं का उल्लेख करते है। अतः केवल भारतीय साधनों के आधार पर अशोक के शासन काल की तिथि निश्चित नही की जा सकती।

सौभाग्य से अशोक ने अपने लेखों मे अपने समकालीन यवन राजाओ का उल्लेख किया है। इन यवन शासको की ज्ञात तिथियो के आधार पर अशोक के शासनकाल की तिथियों का निर्णय किया जा सकता है। अशोक ने शिलाभिलेख १३ मे अपने समकालीन पाँच यवन शासकों का उल्लेख किया है—अन्तियोक, तुरमय, अन्तिकिन, एक तथा अलिकसुन्दर। यूनानी इतिहासकारों के अनुसार इनका समय लगभग निम्नलिखित हैं:—

सीरिया का अन्तियोक (Antiochus II Theos), २६१—२४६ ई० पू०।

मिश्र का तुरमय (Ptolemy II Philadelphos), २८५—२४७ ई० पू०।

कैरीन का मक (Magas), ३००—२५० ई० पू०।

मकदूनियाँ का अन्तिकिन (Antigonos Gonatas),
२७८— २३९ ई० पू० । तथा

अलिकसुन्दर (ऐपिरस का शासक), २७२—२५८ ई० पू० ।

. इन यवन शासकों के शासनकाल की तिथियों के अध्ययन के आधार पर यह सहज ही माना जा सकता है कि ये समस्त शासक लगभग २५८ ई० पू० के जीवित थे । ऐपिरस के शासक अलिक मुन्दर की मृत्यु २५८ ई० पू० के लगभग हुई तत्कालीन अमुविधाओं के कारण यदि इस निधन का समाचार अशोक को लगभग १ या २ वर्ष उपरान्त मिलने की संम्भावना को उचित मान लिया जाय उस दशा मे निधन के उपरान्त भी अलिकसुन्दर २५७— २५६ ई० पू० के लगभग अशोक के लिये जीवित था । इस प्रकार २५७— २५६ ई० पू० तक उपर्युक्त वर्णित समस्त शासको को अलिकसुन्दर के सहित अशोक को समकालीन मानना चाहिए । अशोक के शिलाभिलेख १३ मे इनका उल्लेख है । अत: अशोक के इस शिलाभिलेख के प्रकाशन की तिथि वही होनी चाहिये जब ये समस्त शासक जीवित थे । अतः २५७—२५६ ई० पू० के लगभग इस शिलाभिलेख का प्रकाशन हुआ होना चाहिये । अशोक के इस शिलाभिलेख का प्रकाशन उसके अभिषेक के १३ वे वर्ष अथवा १२ वर्ष उपरान्त हुआ था । अतः अशोक के अभिषेक की तिथि २७०—२६९ ई० पू० के लगभग होनी चाहिए । अशोक का अभिषेक उसके सिहासन पर बैठने के चार वर्ष उपरान्त हुआ अत: उसके सिहासन पर बैठने की तिथि २७४—२७३ ई० पू० के लगभग होनी चाहिये ।

शिलाभिलेखों पर आधारित अशोक के अभिषेक की तिथि के निर्णय की पुष्टि निम्न प्रकार से भी हो जाती है ।

यूनानी इतिहासकारों के अनुसार सिल्यूकस तथा चन्द्रगुप्त मौर्य के संघर्ष तथा सन्धि की तिथि ३०४ ई० पू० के लगभग है । चन्द्रगुप्त ने इस संघर्ष में सिल्यूकस को पराजित कर उसके साम्राज्य के चार बड़े प्रान्तों को प्राप्त किया था तथा उसकी पुत्री से विवाह कर उसके साथ सम्बन्ध स्थापित किया था । सिल्यूकस का विजेता तथा दामाद वही चन्द्रगुप्त है जिसने सिकन्दर के भारतीय आक्रमण के समय उससे तक्षशिला में भेंट कर अपने असीम साहस से उसे चकित कर दिया था । वह नन्दवंश का नाश करने के लिये सिकन्दर की सहायता चाहता था किन्तु वार्तालाप मे बात बढ़ गई और सिकन्दर ने उसे बन्दी बनाने की आज्ञा दे दी । चन्द्रगुप्त भाग निकला । इसी चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर के

भारत से कूच करते ही पंजाब में एक विद्रोह खड़ा कर दिया और सिकन्दर की मृत्यु होते ही उसने सिकन्दर के पञ्जाब स्थित भारतीय उपनवेशों पर अधिकार कर लिया। सिकन्दर की मृत्यु ३२३ ई० पू० मे हुई। अत: पञ्जाब पर चन्द्र-गुप्त मौर्य के अधिकार की तिथि भी ३२३ ई० पू० के लगभग ही ठहरती है। चन्द्रगुप्त मौर्य ने तुरन्त ही मगध पर आक्रमण कर उसे भी जीत लिया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की तिथि भी ३२३—३२२ ई० पू० के लगभग आती है।

पुराणों के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य ने २४ वर्ष तक राज्य किया और उसके पुत्र बिन्दुसार ने २५ वर्षतक। इस प्रकार चन्द्रगुप्त का शासन काल ३२३ से २९९ ई० पू० के लगभग तक ठहरता है तथा बिन्दुसार का शासनकाल २९९ से २७४ ई० पू० के लगभग तक। बिन्दुसार के उपरान्त अशोक सिहासनारूढ़ हुआ किन्तु उसका अभिषेक चार वर्ष उपरान्त हुआ, अतः अशोक के सिहासन प्राप्त करने की तिथि २७४ ई० पू० के लगभग है और उसके अभिषेक की तिथि २७० ई० पू० के लगभग।

शिलाभिलेखो के आधार पर अशोक के सिहासनारोहण तथा अभिषेक की तिथिया २७४—२७३ ई० पू० तथा २७०—२६९ ई० पू० के लगभग ठहरती हैं। पुराणो पर आधारित तिथियों तथा इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है, अत: अशोक के सिहासनारोहण की तिथि २७४—२७३ ई० पू० तथा अभिषेक की तिथि २७०—२६९ ई० पू० के लगभग ही मानी जानी चाहिये। पुराणो के अनुसार अशोक ने ३६ वर्ष शासन किया। इस प्रकार अशोक के शासन काल की तिथि २७४—२७३ से २७०—२६९ ई० पू० अभिषेक के पहले तथा २७०—२६९ से २३४—२३३ ई० पू० (अभिषेक के बाद) के लग-भग ठहरती है। अशोक के शासनकाल के ३६ वर्ष अभिषेक की तिथि से ही लिये गये हैं और यही उचित भी है।

कलिंग-विजय :—

सम्राट अशोक के शासन काल की सबसे अधिक महत्वपूर्ण घटना उसकी कलिंग-विजय है। कलिंग का युद्ध अशोक के जीवन का प्रथम तथा अंतिम युद्ध है। इस युद्ध के भयंकर रक्तपात ने अशोक के जीवन को ही बदल डाला और हिसा का पुजारी अहिसा की साकार मूर्ति बन इतिहास की अमर विभूति बन गया। इस प्रकार कलिग-युद्ध को अशोक के जीवन को दो भागों में बाँट देने का श्रेय प्राप्त है—पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध। अशोक का प्रारम्भिक जीवन पूर्वार्द्ध

(कलिंग-विजय के पहले) के अन्तर्गत आता है तथा इसके बाद का जीवन, जब अशोक धर्मघोष करते हुए दिखाई देते हैं, उत्तरार्द्ध के अन्तर्गत आता है।

कलिंग-देश बंगाल की खाड़ी के समीप महानदी और गोदावरी नदियों के मध्य स्थित एक शक्तिशाली राज्य था। ह्वेनसांग के अनुसार कलिंग प्रदेश की परिधि २०० ली थी तथा इसकी राजधानी की परिधि २० ली थी। यह एक अत्यन्त ही उपजाऊ प्रदेश था। यहाँ का व्यापार उन्नति दशा में था। यहाँ के निवासी सत्यवादी तथा वीर थे। कलिग का प्रदेश अपने भूरे हाथियों तथा कपड़े के लिये अत्यन्त ही प्रसिद्ध था। पाली में कलिगम का अर्थ कपड़ा है। सम्भवतः अपने सुन्दर कपड़ों की ख्याति के कारण इस प्रदेश का नाम ही कलिग पड़ गया।

ह्वानसॉग कलिग के सम्बन्ध में एक अनुश्रुति का भी उल्लेख करता है। प्राचीन काल में जब कलिंग अपनी उन्नति की उच्चतम सीमा पर था उस समय एक पाँच आध्यात्मिक शक्तियों वाला ऋषि समाधि लिये पवित्र मंत्रों का जाप किया करता था। कलिग की शक्ति क्षीण होने पर देश वासियों ने ऋषि का तिरस्कार किया। ऋषि ने क्रुद्ध हो श्राप दिया कि कलिग की सम्पूर्ण जनता वृद्ध, बाल, युवा सब नष्ट हो जायें। ऋषि का यह श्राप अशोक के शिलाभिलेख में दिये हुये भंयकर हत्याकाण्ड की पुष्टि करता सा प्रतीत होता है!

अशोक ने अपने अभिषेक के आठवें वर्ष कलिंग विजय किया (शि० ले० १३)। इस प्रकार कलिग-विजय की घटना २६२ ई० पू० के लगभग ठहरती है। यद्यपि शिलाभिलेख १३ कलिंग-विजय तथा उसके परिणामों पर प्रकाश डालता है किन्तु कारणों के विषय मे यह सर्वथा मौन है। सम्भवतः कलिंग पर आक्रमण के निम्न कारण थे :—

खाराभेल-लेख के अनुसार कलिंग पहले नन्द वंशीय राजाओं के अधिकार में था। चन्द्रगुप्त द्वारा नन्दवंश के उन्मूलन तथा मगध पर अधिकार करने के समय ही सम्भवतः कलिंग ने भी अपनी दासता की बेड़ियाँ काट कर स्वतंत्रता प्राप्त कर ली थी। इसके उपरान्त कलिंग दिन प्रति दिन अपनी शक्ति बढ़ाता जा रहा था। चन्द्रगुप्त के समय में ही इसकी शक्ति अत्यन्त बढ़ गई थी मेगस्थनीज का विवरण इस सत्य की पुष्टि करता है। उसके अनुसार कलिंगराज के अंग-रक्षकों में ६०,००० पैदल, १०,००० अश्वारोही तथा ७०० हाथी थे। जब कलिगराज के अंग-रक्षकों का ही इतना शक्तिशाली बल

था तब उसकी विशाल वाहिनी का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। कलिग की इस अपार शक्ति से भयभीत होकर ही सम्भवतः सिल्यूकस-विजेता चन्द्रगुप्त मौर्य ने उस पर आक्रमण नही किया। बिन्दुसार ने भी पिता की ही नीति को अपनाया। किन्तु उसने कलिग-विजय की योजनाओं का सूत्रपात कर दिया। अपनी विजयों द्वारा उसने कलिग को तीन ओर से घेर लिया। चौथी ओर समुद्र से मौर्य नौ-सेना भी उसे घेर सकती थी। सम्भवत. बिन्दुसार की इच्छा कलिग-विजय करने की थी, किन्तु काल ने उसकी यह इच्छा पूरि न होने दी। अशोक ने सिहासन प्राप्त करते ही इस समस्या की ओर ध्यान दिया। प्रथम तो कलिग मगध का एक विद्रोही प्रान्त था और उस पर अधिकार करना मौर्य सम्राट अपना कर्तव्य समझते थे तथा दूसरे मौर्य साम्राज्य की सीमाओं में केवल कलिंग ही एक स्वतन्त्र और शक्तिशाली राज्य था। इसकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई शक्ति मौर्य साम्राज्य के लिये घातक बनती जा रही थी। भय था कि कही कलिंग नव-विजित राज्यों से कूटमन्त्रणा कर मौर्य साम्राज्य के विरुद्ध भयंकर विद्रोह न खड़ा करदे।

इसके अतिरिक्त कलिग का व्यापार तथा उसकी सामुद्रिक स्थिति भी आकर्षण का एक विशेष कारण थी। कलिग जैसा कि पहले बताया जा चुका है अपने कपड़े तथा हाथियों के लिये अत्यन्त ही प्रसिद्ध था। समुद्री व्यापार का केन्द्र होने के नाते इसका धन तथा वैभव उत्तरोत्तर बढ़ रहा था।

सम्भवतः इन्ही समरत कारणों से प्रेरित होकर अशोक ने एक विशाल-वाहिनी ले कलिग-विजय के लिये कूच किया। विशाल मौर्य साम्राज्य की असीमित शक्तियाँ सफलता के लिये ताण्डव करने लगी और भयंकर रक्तपात के उपरान्त ही विजय प्राप्त कर सकी। इस भयंकर युद्ध में केवल कलिग के डेढ लाख सैनिक बन्दी बनाये गये, एक लाख आहत हुये तथा इससे कही अधिक मारे गये (शि० ले० १३) यदि केवल इस शिलाभिलेख के आधार पर ही दोनों ओर की सेनाओं की संख्या का अनुमान लगाया जाय तो आशिक रूप में इसकी विशालता का परिचय अवश्य प्राप्त हो सकता है। इस युद्ध में डेढ़ लाख सैनिक बन्दी बनाये गये तथा एक लाख आहत हुये और इससे कही अधिक मारे गये। मारे गये सैनिकों की संख्या यदि आहत संख्या से केवल तिगुनी ही मान ली जाय उस दशा मे मारे जाने वाले सैनिकों की संख्या तीन लाख होती है। इस प्रकार कलिंग देश की ही सेना का योग ५½ लाख होता है। मौर्य साम्राज्य की विशाल वाहिनी की संख्या तो इससे अवश्य ही अधिक रही होगी। यदि मौर्य-वाहिनी

की संख्या सात लाख मान ली जाय उस दशा में दोनों ओर की लड़ने वाली सेनाओं का योग लगभग १२½ लाख होना आवश्यक सा प्रतीत होता है। इन लड़ने वाले सैनिकों की परिचर्या तथा सैनिक सम्बन्धी अन्य कार्यों के लिये भी इन सैनिकों के अतिरिक्त अन्य सैनिक अवश्य रहे होंगे। यदि इन सैनिकों की संख्या केवल २½ लाख ही मानी जाय, उस दशा मे कुल सैनिकों का योग जिन्होंने इस युद्ध मे भाग लिया लगभग पन्द्रह लाख होना चाहिए। और जब केवल कलिग के ही ५½ लाख सैनिकों ने स्वतन्त्रता की वेदी पर अपनी बलि चढ़ा दी उस दशा मे मौर्य साम्राज्य के लगभग ३½ लाख सैनिकों ने भी स्वतन्त्रता-हरण के लिये प्राणों को न्योछावर किया होगा सहज ही स्वीकार किया जा सकता है। अतः इस भयकर संघर्ष ने लगभग नौ लाख व्यक्तियों का बलिदान लिया। यदि इस भयंकर बलिदान की कहानी के साथ इन व्यक्तियों के उन सम्बंधियों की करुण कहानी भी जोड़ दी जाय जो निःसहाय हो गये और जिन्हें हृदय-विदारक क्रन्दन के साथ ही गठ बन्धन कर जीवन व्यतीय करने को बाध्य होना पड़ा और यदि इन निःसहाय व्यक्तियों की संख्या केवल ३० लाख ही मानी जाय, उस दशा मे युद्ध का रौरव प्रभाव लगभग ३६ लाख व्यक्तियों पर पड़ा, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त युद्ध के परिणाम स्वरूप अन्य विभिन्न व्याधियों की कल्पना जिन्होंने देश को घेर लिया होगा सहज ही की जा सकती है तथा उससे मानवीय हानि का अनुमान भी लगाया जा सकता है!

अशोक को कलिग-विजय में सफलता तो अवश्य मिली किन्तु इस भयंकर नर-संहार ने उसके दृष्टिकोण को ही पूर्णतया परिवर्तित कर दिया। उसकी कठोरता नवनीत सी कोमल बन गई तथा उसके हृदय में छिपी मानवता जाग उठी। "जितने भी व्यक्ति कलिंग-विजय में मारे गये, आहत हुये अथवा बन्दी बनाये गये, उनका सौवाँ हजारवाँ भाग भी अब यदि मारा जाय...... तो देवताओं के प्रिय को दारुण दुःख होगा (शि० ले० १३) अशोक के इन उद्गारों में पाश्चाताप का ही क्रन्दन सुनाई पड़ रहा है। उसका अपने पुत्रों तथा पौत्रों के प्रति उपदेश भी "वे (शस्त्र द्वारा) नये देश विजय न करें और जो विजय वाण खींचने द्वारा ही हो सके उसमें भी शान्ति तथा लघुदण्डता से कार्य करें तथा धर्म द्वारा विजय को ही वास्तविक विजय माने।" (शि० ले० १३) इसी पाश्चाताप का प्रतीक है।

अशोक को उसके इसी पाश्चाताप ने महान तथा विश्व की अमर विभूति बना दिया।

तीसरा प्रकरण

साम्राज्य की सीमायें तथा विद्रोह

अशोक विश्व के इतिहास का एक ऐसा महान सम्राट हुआ है जिसके साम्राज्य को भौतिक विश्व की संकुचित सीमाओं से सीमित करने का प्रयास उस महान मानव के साथ अन्याय करना है। मानवता के स्तर से उसने जिस प्रेम तथा करुणा की ज्योति को जगाया उसने लगभग सम्पूर्ण विश्व को आलोकित कर दिया। वसुधैव-कुटुम्बकम पर आधारित उसके जीवन का उद्देश्य विश्व व्यापी शान्ति की स्थापना ही न था वरन् वह विश्व-बन्धुत्व की भावना थी जिसकी सीमा में मानव का ही नही वरन् पशु-पक्षियों का भी समान स्थान था। शक्ति के स्थान पर अहिंसा पर आधारित उसके इस आध्यात्मिक साम्राज्य की सीमाओं का निश्चय करना फिर कैसे सम्भव है ? समय के साथ वर्तमान भी अतीत बनकर धुंधला पड़ जाता है और फिर कुछ समय तक जुगनू के समान झिलमिला कर अपना अस्तित्व ही खो बैठता है। भविष्य भी वर्तमान बनकर अतीत के काले आवरण मे अपने को छिपा लेता है, किन्तु अतीत का गौरव अशोक, इस अमर परम्परा को तोड़ कर वर्तमान और फिर भविष्य का नायक बनता चला जा रहा है। काल उसके भौतिक साम्राज्य को ही नष्ट करने में समर्थ हो सका है, उसके आध्यात्मिक साम्राज्य की ओर तो उसे आँख उठाने का भी साहस नही।

अशोक के अमर आध्यात्मिक साम्राज्य की सीमाओं का निश्चय करना तो असम्भव है ही, साथ ही उसके भौतिक साम्राज्य की सीमाओं का निश्चय करना भी एक कठिन समस्या है। अशोक के लेखों के अतिरिक्त अन्य कोई भी साधन इस समस्या पर स्पष्ट प्रकाश नही डालता। अशोक के लेख भी अप्रत्यक्ष रूप से ही हमारा मार्ग-निर्देशन करते हैं। ये लेख दो प्रकार से अशोक के साम्राज्य की सीमायें निश्चित करने में हमारी सहायता करते हैं :—

१. प्राप्त-स्थानों द्वारा

२. अपनी वाणी द्वारा

इन लेखों को दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है।

(अ) शिलाभिलेख (अशोक के साम्राज्य की सीमा पर या उसके आस-पास पाये जाते हैं)

(ब) स्तम्भलेख (भीतरी प्रान्तों मे पाये जाते है)

लेखों के प्राप्ति-स्थानों के आधार पर :—

यदि इन शिलाभिलेखों के प्राप्ति-स्थानो का दिशाओं के आधार पर विभाजन किया जाय तो हमे अशोक के साम्राज्य की सीमाओं की रूप रेखा बनाने में बड़ी सहायता मिलती है।

उत्तर मे चतुर्दश शिलाभिलेखों की तीसरी प्रति कालसी नामक एक गाँव में उपलब्ध हुई है। यह गाँव देहरादून जिले में स्थित है।

उत्तर पश्चिम की ओर चतुर्दष शिलाभिलेखों की—चौथी तथा पाँचवी प्रतियाँ मानसेरा तथा शाहबाजगढ़ी नामक स्थानो मे प्राप्त हुई हैं। मानसेरा, ऐबोटाबाद मे उत्तर की ओर १५ मील की दूरी पर स्थित है तथा शाहबाजगढी पेशावर जिले के अंतर्भूत पेशावर से उत्तर-पूर्व ४० मील की दूरी पर स्थित है।

पश्चिम की ओर भी हमे इन लेखों की प्रतियाँ गिरनार तथा सोपरा नामक स्थानों मे प्राप्त हुई हैं। सौराष्ट्र (काठियावाड़) के अन्तर्भूत गिरनार या जूनागढ़ की प्रति सुदर्शन झील के ऊपर एक पाषाण पर खुदी है। इसी लेख के निकट रुद्रदमन का भी एक लेख है (१५० ई०)। इस लेख मे विदित होता है कि इस झील का निर्माण चन्द्रगुप्त मौर्य ने कराया था।

सोपरा, थाना जिले के अन्तर्भूत बम्बई के उत्तर सैतीस मील की दूरी पर स्थित है।

पूर्वी घाट की ओर भी इन लेखों की कई प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं। चतुर्दश शिला लेखों की एक प्रति मद्रास प्रान्त के कुरनूल जिले में एरागुड़ी नामक स्थान पर प्राप्त हुई है। भुवनेश्वर के निकट पुरी जिले मे धौली नमक स्थान पर भी एक शिला लेख मिला है। गंजाम जिले मे ऋषिकुल नदी के किनारे जौगढ़ नामक स्थान पर भी इन शिलाभिलेखों की एक प्रति मिली है।

पूर्व की ओर बिहार प्रान्त के सहसराम नामक स्थान पर लघु शिलाभिलेख की एक प्रति मिली है। इनके अतिरिक्त आन्तरिक प्रदेशों में भी लघुशिलाभिलेखों की प्रतियाँ मिली हैं। ये स्थान हैं—सिद्धपुर, जतिङ्ग

रामेश्वर तथा ब्रह्मगिरी (मैसूर-जिला चिहलदुर्ग) रूपनाथ (जबलपुर के निकट) बैराट तथा आबरू (जयपुर) मास्की (हैदराबाद दक्षिण)।

अशोक के स्तम्भ लेख भी उसके साम्राज्य विस्तार के निर्देशन के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। ये निम्न स्थानों पर मिले है :—

टोपरा (अम्बाला के निकट), मेरठ (ये दोनों स्तम्भ फीरोजशाह दिल्ली उठवा लाया था)। कौशाम्बी (इस स्तम्भ को अकबर इलाहाबाद उठवा लाया था)। लौरिया अरराज, लौरिया नन्दनगढ, रामपुरवा (ये तीनों स्तम्भ जिला चम्पारन मे स्थित हैं) तथा आरा।

लघु स्तम्भ लेख निम्न स्थानों पर मिले है :—

सारनाथ (बनारस), साँची तथा कौशाम्बी।

इनके अतिरिक्त दो अन्य स्तम्भ लेख (लघु) नैपाल के रुमिनिन्दी तथा निग्लिवा नामक स्थानों पर प्राप्त हुये है।

इन लेखों के आधार पर अशोक के साम्राज्य की सीमाये निश्चित करने से पूर्व उसके बनवाये स्तूपों का भी उल्लेख अत्यधिक आवश्यक है। महावश के अनुसार अशोक को चौरासी हजार स्तूप बनवाने का श्रेय प्राप्त है। फाहि-यान भी अशोक को चौरासी हजार स्तूप बनवाने का श्रेय प्रदान करता है। ह्वेनसांग ने भी अशोक के स्तूपो को देखा था। अशोक के स्तूप निम्न स्थानों पर पाये जाते हैं :—

काफिस (काफिमस्तान), जलालाबाद (उत्तर-पश्चिम मे), उदयन, ताम्रलिप्ति (बंगाल), समतट (ब्रह्मपुत्र का डेल्टा), पुरायवर्धन (उत्तरी बंगाल), कर्ण सुबर्ण (वर्दवान), वीरभूम, मुर्शिदाबाद, चोड़, तथा द्रविड़।

इनके अतिरिक्त अशोक के स्तूप नैपाल तथा काश्मीर में भी पाये जाते हैं। कल्हण की राजतरंगिणी के अनुसार अशोक काश्मीर का सम्राट था तथा उसने श्रीनगर व अन्य स्तूपों का निर्माण काश्मीर मे कराया था। अशोक को नैपाल में भी एक नगर के निर्माण का श्रेय प्राप्त है।

इन लेखों तथा स्तूपों के प्राप्ति स्थानों के आधार पर यह निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि अशोक का साम्राज्य विशाल था। उत्तर मे हिमा-लय अपने हिमाच्छादित स्वेत क्रीट से उसके साम्राज्य की सीमा को सुशोभित करता था। नैपाल साम्राज्य का अंग था। दक्षिण मे साम्राज्य की सीमाय आधुनिक मैसूर राज्य की दक्षिणी सीमा का आलिंगन करती पूर्वी तथा पश्चिमी

घाट पर समुद्र की लहरों से क्रीडा करती थीं। पूर्व की ओर साम्राज्य की सीमा ब्रह्मपुत्र तक बिस्तृत थी। उतर-पश्चिम में बिलोचिस्तान, मकरान तथा अफगानिस्तान तक का समस्त प्रदेश साम्राज्य का अंग था। काश्मीर पर अशोक का अधिकार होना राजतरगिणी से प्रमाणित है ही।

उत्कीर्ण लेखों के आधार पर :—

अशोक के साम्राज्य की सीमाये निश्चित करने के लिये उपर्युक्त साधनों के अतिरिक्त शिलाभिलेखों पर उत्कीर्ण लेख भी अत्यधिक महत्व के हैं। यद्यपि अशोक ने इन लेखों में अपने साम्राज्य की सीमाओं का प्रत्यक्ष उल्लेख नही किया है किन्तु अपने मानवोचित कार्यो के विस्तार का उल्लेख करते समय अशोक ने अपने सीमावर्ती राज्यों का उल्लेख कर दिया है और यह उल्लेख अप्रत्यक्ष रूप से साम्राज्य की सीमा सम्बन्धी समस्याओं के समाधान के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण बन गया है। अपने इन महत्वपूर्ण उल्लेखों के लिये अशोक के द्वितीय, पंचाम तथा त्रयोदश शिलाभिलेख अत्यन्त ही महत्वपूर्ण हैं।

अशोक अपने चिकित्सा सम्बन्धी कार्यो का उल्लेख करते हुये कहते है :-

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी ने अपने विजित राज्य मे तथा सीमान्त राज्यों में जैसे चोड, पांड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपर्णी, अन्तियोक नामक योन राजा और जो दूसरे उस अन्तियोक के समीप राजा हैं—सब स्थानों पर दो प्रकार की चिकित्साओं का प्रबन्ध करा दिया है—मनुष्य-चिकित्सा तथा पशु-चिकित्सा।" (शि० ले० २)

शिलाभिलेख पञ्चम मे अशोक धर्ममहामात्रों की नियुक्ति के विषय मे उल्लेख करते हुये कहते है :—

"विगत काल मे धर्ममहामात्र कभी नियुक्त नही किये गये। इसलिये मैंने अभिषेक के तेरहवे वर्ष धर्ममहामात्र नियुक्त किये हैं। ये सब सम्प्रदायों के मध्य नियुक्त है। वे धर्म की स्थापना, धर्म की उन्नति तथा धर्मानुयायियों के हित एवम् सुख के लिये नियत हैं। वे योन, काम्बोज, गाँधार, राष्ट्रिक, पेठानिकों तथा अन्य अपरान्तों के लिये नियत हैं।" (शि० ले० ५)

त्रयोदश शिलाभिलेख मे सम्राट अपनी धर्म-विजय की नीति का उल्लेख करते हुये कहते है :—

"जो धर्म की विजय है उसे ही देवताओं का प्रिय मुख्य विजय मानता है। और वह देवताओं के प्रिय को यहाँ और सभी अन्तों में छः सौ योजन तक {अषषु पि योजन शतेपु का अर्थ श्री जायसवाल 'सैकड़ों योजन परे अषों (पश्चिमी

एशिया) में करते हैं। वे अपषु को दिशावाची या देशवाची शब्द मानते हैं} जहाँ अन्तियोक नामक योन राजा है और उस अन्तियोक के परे चार राजा हैं, तुरमय नामक अन्तकिन नामक, मक नामक और अलिकसुन्दर नामक, (तथा) नीचे चोल, पांड्य, ताम्रपर्णी वालों तक, ऐसे ही इधर राजविषयों मे योन काम्बोजों में, नाभक में,नाभपन्तियों मे, भोज पितनिकों मे, अन्ध्र पुलिन्दों में प्राप्त हुआ है।" (शि० ले० १३)

उपर्युक्त लेखों का अध्ययन अशोक के साम्राज्य का विस्तार निश्चित करने में अत्यधिक सहायता प्रदान करता है। अशोक अपने साम्राज्य को विजित कहता है तथा सीमान्त राज्यों का स्वतन्त्र राज्यों के रूप में उल्लेख करता है। इन स्वतन्त्र राज्यों में दक्षिण के चोड, पांड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र तथा ताम्रपर्णी राज्यों का उल्लेख है। उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर स्थित स्वतंत्र राज्यों के शासकों का नाम भी शिलाभिलेख १३ से ज्ञात हो जाता है। ये शासक निम्न हैं :—

(१) अन्तियोक	Antiochus II Theos.
(२) तुरमय	Ptolemy II Philadelphos.
(३) अन्तकिन	Antigonos Gonatos.
(४) मक	Magas.
(५) अलिकसुन्दर	Alexander.

इन सीमान्त राज्यों के अतिरिक्त शिलाभिलेख १३ मे ही निम्न अन्य राज्यों का भी उल्लेख है :—

योन, काम्बोज, नाभक, नाभपन्ति, भोज, पितनिक, आन्ध्र तथा पुलिद इन राज्यों का उल्लेख राजविपयों के अन्तर्गत हुआ है। (शि० ले० १३)। (राजविषय शब्द के पाठ पर विद्वान् एकमत नही है। वे इस शब्द के स्थान पर विषवज्रि का पाठ सही मानकर इसे दो जनपदों का विशेष नाम मानते हैं)। शिलाभिलेखों में भी इनका उल्लेख न तो पूर्णतया विजित राज्यों के अन्तर्गत हुआ है और न स्वतंत्र सीमान्त राज्यों की श्रेणी में ही। अतः इन्हें ऐसे जनपदों की कोटि मे लेना चाहिये जो मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत होते हुए भी अपने आन्तरिक विषयों में स्वतन्त्र थे, या जो संरक्षित राज्य थे। इन राज्यों मे धर्म महामात्रों की नियुक्ति (शि० ले० ५) तथा इनका धर्म द्वारा विजित राज्यों की परिगणना में उल्लेख (शि० ले० १३) इनका संरक्षित राज्य होना ही प्रमाणित करता है। धर्म द्वारा विजित राज्यों की परिगणना में इनका

उल्लेख यह तो सिद्ध ही कर देता है कि इनकी विजय शक्ति द्वारा नही हुई थी। सम्भवत: मौर्य-शक्ति को देखकर इन राज्यों ने स्वयं ही अशोक की आधीनता स्वीकार कर ली थी और अशोक ने इन्हें साम्राज्य में मिलाकर भी इन्हें अपने आन्तरिक विषयों के लिये स्वतन्त्रता प्रदान कर दी थी।

अशोक के साम्राज्य विस्तार का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करने के लिये इन संरक्षित एवम् स्वतन्त्र सीमान्त राज्यों के निर्दिष्ट स्थानों का निश्चय करना अत्यन्त ही आवश्यक है। संरक्षित राज्यों की परिगणना में शिलाभिलेख निम्न राज्यों का उल्लेख करते है :—

योन, काम्बोज, नाभक, नाभपन्ति, भोज, पितनिक, आंध्र तथा पुलिन्द।

योन—योन, अथवा यवन राज्य से तात्पर्य अन्तियोक नामक योन राजा से नहीं है। शिलाभिलेख १३ अन्तियोक का सीमान्त शासक के रूप में उल्लेख करता है किन्तु इस योन राज्य का उल्लेख आधीन अथवा संरक्षित राज्य के रूप में किया गया है। इतना अवश्य है कि ये योन भी यूनानी ही रहे होंगे। सिकन्दर के भारतीय आक्रमण के समय भी उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर यूनानियों का उपनवेश स्थापित कर रहना प्रमाणित है ही। गौरी नदी के पश्चिम आधुनिक कोह-ए-मोर के नीचे नुसा नामक एक नगर था। सिकन्दर के आक्रमण के समय प्रारम्भ में तो इन्होंने थोड़ा विरोध किया किन्तु शीघ्र ही आधीनता स्वीकार कर ली और सिकन्दर को अपने यूनानी होने का संदेश भेजा। सिकन्दर तथा उसके सैनिकों को भी नुसा में घर की सी अनुभूति हुई थी। अत: सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व ही यूनानियों ने भारतीय सीमा पर उपनिवेश स्थापित किया होगा। महात्मा बुद्ध भी भारतीय सीमा पर रहने वाले इन यवनों से परिचित थे। महात्मा बुद्ध का आश्वलायन से कथन "क्या तुमने सुना है कि यवन, काम्बोज तथा दूसरे सीमाप्रान्तों में केवल दो वर्ण अथवा सामाजिक वर्ग हैं—आर्य एवम् दास—और आर्य दास हो सकता है तथा दास आर्य बन सकता है" यवनों का सीमा प्रान्त पर रहना ही प्रमाणित करता है। पाणिनी ने भी भारतीय सीमा पर रहने वाले यवनों का उल्लेख किया है। इनके भारतीय सीमा पर आ बसने का समय निश्चित करना एक कठिन समस्या है किन्तु इतना अवश्य है कि ये महात्मा बुद्ध के समय से पहले ही भारतीय सीमा पर उपनिवेश स्थापित कर रहा करते थे। सम्भवत: परशिया-साम्राज्य और हेलास के मध्य युद्ध होने पर आयोनियन्स (Ionians) या ग्रीक अपना देश छोड़ कर यहाँ आ बसे थे। परशियन इन्हें यवन पुकारने लगे। इस प्रकार

आयोनियन्स से यवन शब्द की उत्पत्ति हुई और बाद को तो भारतीय प्रत्येक विदेशी आक्रमणकारी को ही यवन नाम से पुकारने लगे। श्री भण्डारकर यवनों के इस उपनिवेश को काम्बोज और गान्धार के समीप कोफ़न तथा इन्डस के मध्य होना निर्धारित करते हैं।

यवनों का यह उपनिवेश भारतीय संस्कृति से अछूता रहा था, बुद्ध तथा आश्वलायन का उपर्युक्त वार्तालाप इस मत की पुष्टि करता है। सिकन्दर को भी इस प्रदेश मे आकर घर की सी अनुभूति हुई थी। यह भी इस प्रदेश की हैलनिक (Hellenic) सभ्यता का द्योतक है। अशोक का १३ वा शिलाभिलेख भी—"कोई ऐसा प्रदेश नही है जहाँ ब्राह्मण और श्रमण आदि सम्प्रदाय न हों सिवाय यवन-जनपद के"—इन यवनो को भारतीय संस्कृति से अछूता तथा हैलनिक सभ्यता का पोषक ही प्रमाणित करता है। अशोक ने बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए तीसरी बौद्ध सभा के उपरान्त एक मिशन अन्य यवन-प्रदेशों के साथ इस यवन-प्रदेश में भी भेजा था। (महावंश)

काम्बोज तथा गान्धार :—काम्बोज तथा गान्धार जनपद भी यवन-जनपद के समीप ही होने चाहिये। भारतीय साहित्य मे जहाँ कहीं भी यवन, काम्बोज तथा गान्धार का उल्लेख हुआ है, एक साथ ही हुआ है। महाभारत में इनका उल्लेख एक साथ हुआ है तथा मनु और बुद्ध भी इनके साहचर्य को स्वीकार करते हैं। अशोक के शिलाभिलेखो मे भी अधिकतर इनका उल्लेख एक साथ ही हुआ है। ये वर्णन यवन-काम्बोज तथा गान्धार जनपदो का समीप होना ही प्रमाणित करते हैं।

महाभारत के द्रोणपर्व में काम्बोज का उल्लेख है। वही काम्बोजो की राजनगरी राजपुर का नाम भी आया है। यदि यह राजपुर ह्वेनसाग द्वारा वर्णित हो-लो-शी-पू-लो है जिसे कनिंघम ने आधुनिक राजौरी स्वीकृत किया है, उस दशा मे काम्बोज आधुनिक राजौरी के आसपास का प्रदेश रहा होगा तथा इसकी सीमा में काश्मीर का उत्तरी छोर और गान्धार के उत्तर का प्रदेश पामीर तथा बदखशां तक, आधुनिक हजारा जिला तथा मानसेरा (जहाँ अशोक के चतुर्दश शिलाभिलेख की एक प्रति प्राप्त हुई है) का प्रदेश भी रहा होगा। गान्धार का प्रदेश भी काम्बोज तथा यवन जनपद के निकट ही होना चाहिये। सम्भवतः गान्धार जनपद में उस समय वर्तमान पूर्वी अफगानिस्तान, सीमान्त प्रदेश का अधिकांश भाग, पश्चिमी पंजाब तथा काश्मीर का दक्षिणी भाग सम्मिलित था।

नाभक और नाभपन्ति :—इन जनपदों के निर्दिष्ट स्थान का निर्धारण अभी तक निश्चयात्मक रूप से नही हो सका है किन्तु इस आधार पर कि शिलाभिलेख १३ में इनका नाम ठीक योन, काम्बोज के उपरान्त आया है, अनुमान किया जा सकता है कि ये जनपद काम्बोज के समीप ही होने चाहिये। पुराणों मे उत्तर कुरु के अन्तर्गत नाभिकपुर नामक नगर का उल्लेख है। उत्तर कुरु थियानशान पर्वत के ढाल पर माना जाता था। आधुनिक खोजों ने इस मत की बहुत कुछ पुष्टि कर दी है। आधुनिक खोजो के आधार पर काम्बोज तथा उपरला हिन्द एक दूसरे से मिले हुए है। सीता नदी की उपरली दून को काम्बोज की पूर्वी सीमा माना गया है और उसी के निचले भाग के पूर्वी प्रदेश को खोतान प्रदेश। यदि नाभिकपुर को नाभक की राजनगरी माना जाय उस दशा में काम्बोज के निकट इसी खोतान प्रदेश मे नाभक तथा नाभपन्ति जनपद होने चाहिये ।

राष्ट्रिक, भोज तथा पितिनिक :—शिलाभिलेख ५ मे भोज नाम का उल्लेख नही है। वहाँ केवल राष्ट्रिक, पितिनिक का उल्लेख है। वैसे ही शिलाभिलेख १३ मे राष्ट्रिक नाम छूटा हुआ है, और केवल भोज, पितनिक का उल्लेख है। अतः दोनो ही शिलाभिलेखों का अध्ययन राष्ट्रिक, भोज तथा पितिनिक तीन जनपदों के अस्तित्व को प्रस्तुत करता है। किन्तु श्री भंडारकर पितिनिक जनपद को अलग न मानकर राष्ट्रिक तथा भोज के आगे विशेषण के रूप मे प्रयोग हुआ मानते हैं। वे पितिनिक का अर्थ वंशक्रमानुगत करते हैं। उनके अनुसार राष्ट्रिक-पितिनिक एवम् भोज-पितिनिक से तात्पर्य राष्ट्रिक तथा भोज के उन शासकों से है जो वंशक्रमानुगत जनपद के शासक हैं। श्री भंडारका यह अर्थ तर्क संगत प्रतीत नही होता। इसका आधार भी ऐतिहासिक नही है। अशोक के शिलाभिलेख ऐसा कोई संकेत नही करते जिसके आधार पर पितिनिक को विशेषण मानकर इस जनपद का अस्तित्व ही मिटा दिया जाय। श्री बुलेर के अनुसार पितिनिक से अभिप्राय गोदावरी के तट पर स्थित प्रतिष्ठानपुर से है और यह मत तर्क-संगत भी प्रतीत होता है। अतः पितिनिक जनपद प्रतिष्ठानपुर तथा उसके आसपास के प्रदेश का ही नाम माना जाना चाहिये। शिलाभिलेखों मे राष्ट्रिक, भोज तथा पितनिक का उल्लेख एक साथ ही हुआ है अतएव राष्ट्रिक एवम् भोज जनपद भी पितिनिक के समीप ही होने चाहिये। सम्भवतः ये जनपद पश्चिमी घाट के समीप कृष्णा, गोदावरी तथा नर्वदा के मध्य कही स्थित थे।

आन्ध्र :—आन्ध्र जनपद दक्षिणी भारत का एक शक्तिशाली जनपद था। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में हमें इसका परिचय एक शक्तिशाली स्वतन्त्र राज्य के रूप मे मिलता है। मेगस्थनीज के अनुसार मौर्यों के बाद उस समय देश मे सबसे अधिक शक्ति आन्ध्रों की ही थी। मेगस्थनीज के इस वर्णन से यह तो स्पष्ट ही है कि आन्ध्र चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मे मौर्य साम्राज्य का अंग न था। किन्तु अशोक के शिलाभिलेख जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है आन्ध्र को अशोक क साम्राज्य का अंग घोषित करते हैं। किन्तु अशोक ने केवल कलिग-विजय ही की। इस आधार पर केवल यही अनुमान किया जा सकता है कि आन्ध्र शक्ति को बिन्दुसार ने जीत कर साम्राज्य में मिलाया था। किन्तु अशोक के शिलाभिलेख आन्ध्र को अर्ध-स्वतन्त्र जनपद के रूप में प्रस्तुत करते हैं। सम्भवत: बिन्दुसार ने आन्ध्र शक्ति को पराजित करने के उपरान्त उसका साम्राज्य मे पूर्ण विलीनीकरण नही किया और कर लेकर आधीनता स्वीकार कराने के पश्चात् आन्ध्र का शासन आन्ध्र शासक को ही सौंप दिया था। यह भी संभव है कि बिन्दुसार के अंतिम समय मे आन्ध्रों ने भी स्वतंत्र होने का प्रयास किया हो किन्तु कलिग-विजय द्वारा अशोक की शक्ति का परिचय प्राप्त कर उसने पुनः युद्ध की विभीषिका से बचने के प्रति अशोक की आधीनता स्वीकार कर ली हो और अशोक ने भी अपनी धर्म-विजय की नीति के अन्तर्गत उसका साम्राज्य मे पूर्ण विलीनीकरण न कर उसका शासन आन्ध्र शासक को ही सौप दिया हो। आन्ध्रों ने शक्ति के भयंकर तूफान से बचने के लिये ही अशोक की आधीनता स्वीकार की थी, इस मत की पुष्टि अशोक की मृत्यु के पश्चात् ही आन्ध्रों द्वारा एक शक्तिशाली एवम् दीर्घजीवी साम्राज्य की स्थापना से हो जाती है।

अशोक के समय में आन्ध्र—जनपद की सीमायें कहाँ तक थी, निश्चयात्मक रूप से कहना सम्भव नही। प्रारम्भ में तो, ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार, कृष्णा और गोदावरी का मध्यवर्ती प्रदेश आन्ध्रों का मूल निवास स्थान था। किन्तु मेगस्थनीज़ का विवरण आन्ध्रों को एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में प्रस्तुत करता है। अत: अशोक के शासन काल में भी इस अर्ध स्वतन्त्र आन्ध्र-जनपद की सीमायें पर्याप्त विस्तृत होनी चाहिए। सम्भवतः अशोक के शासन काल में आन्ध्र-जनपद की सीमायें पूर्वी घाट पर कृष्णा एवम् गोदावरी के मध्यवर्ती प्रदेश को लाँघ कर निकटस्थ प्रदेशों में फैली हुई थीं तथा आधुनिक हैदराबाद दक्षिण का दक्षिणी भाग भी इसमें सम्मिलित था।

पुलिन्दः—वायु पुराण में पुलिन्दों को विन्ध्याचल के नीचे रहने वाली जातियों में से बताया गया है तथा महाभारत में इनका स्थान चेदी राज्य के समीप दर्शाया गया है। चेदी राज्य की राजधानी शुक्तिमती केन नदी के तट पर स्थिति थी। अतः चेदी राज्य केन नदी के निकटवर्ती प्रदेशों में विस्तृत होना चाहिए। पुलिन्द-जनपद भी चेदी के समीप स्थित होने के कारण तथा विन्ध्याचल के नीचे रहने वाली जातियों में से होने के कारण चेदी के दक्षिण मे स्थित होना चाहिये। अतः पुलिन्द-जनपद के केन तथा नर्वदा के उद्गाम के निकटवर्ती प्रदेशों में विस्तृत होने का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

अपरन्ताः—अशोक ने धर्ममहामात्रों की नियुक्ति योन, काम्बोज, गांधार, राष्ट्रिक, पितिनिक तथा अन्य अपरान्तों में धर्म की स्थापना, धर्म की उन्नति तथा धर्मानुयायियों के हित एवम् सुख के लिये की थी (शि० ले० ५)। यहां अपरान्त शब्द के प्रयोग ने एक अनोखी ही समस्या इतिहास में खड़ी कर दी है। कुछ विद्वान अपरान्त का अर्थ छोटे अन्त कर इसे उपर्युक्त वर्णित जनपदों का विशेषण मान बैठे है। श्री जायसवाल 'अपरन्ता' को 'अन्ता' का विरोधी मानकर इसका अर्थ साम्राज्य से बाहर स्थित जनपद करते हैं। श्री जायसवाल का यह तुलनात्मक अर्थ इन जनपदों को स्वतन्त्र जनपदों के रूप मे प्रस्तुत करता है। किन्तु अशोक के शिलाभिलेख इन्हें साम्राज्य के अन्तर्गत (विजित) किन्तु अपर आन्तरिक शासन के लिये स्वतन्त्र जनपदों के रूप में घोषित करते हैं। इसके अतिरिक्त साम्राज्य से बाहर स्थित राज्यों के लिये शिलाभिलेखों में 'सीमान्त' शब्द का प्रयोग हुआ है। श्री जायसवाल के अनुसार अपरान्त तथा सीमान्त पर्यायवाची शब्द बन जाते हैं जो सर्वथा अनुचित है। अतः श्री जायसवाल का अर्थ तर्क संगत न होने के कारण माननीय नही। अपरान्त का अर्थ 'छोटे अन्त' भी नितान्त कल्पना पर आधारित है। कल्पना इतिहास का पूर्ण आधार नही बन सकती। अतः यह अर्थ भी माननीय नही।

अपरन्ता के वास्तविक अर्थ 'पश्चिमी प्रदेश' हैं। कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में अपरन्ता शब्द का प्रयोग किया है जैसे—······अपरन्ता में बहुत अधिक पानी बरसता है तथा अपरन्ता के हाथी मध्यम प्रकार के होते हैं। पश्चिमी भारत के लिये ही अपरन्ता शब्द का प्रयोग हुआ है इस सत्य की पुष्टि पुराणों मे अपरन्ता शब्द के उल्लेख से हो जाती है। पुराणों में भारतवर्ष के निम्न पाँच भाग किये गये हैं:—

(१) उदीची (उत्तरापथ):—पृथुदा के उत्तर तथा थानेश्वर के पश्चिम का प्रदेश।

(२) दक्षिणापथः—माहिष्मती से दक्षिण की ओर का प्रदेश।

(३) मध्य देश (अन्तर्वेदी):—गगा और यमुना के मध्य का प्रदेश।

(४) प्राच्य (पूर्वीय प्रदेश):—वाराणसी से पूर्ववर्ती प्रदेश।

(५) अपरन्ता (पाश्चात्य प्रदेश):—देवसभा, सौराष्ट्र, मालवा, भाबन, भृगुकच्छ, कच्छछीया, आनर्त्ता (गुजरात), अरबुदा (आबू पहाड़ के समीप), यवन आदि।

पुराणों का यह विभाजन तथा अपरन्ता के अन्तर्गत प्रदेशों का वर्णन अपरन्ता का पश्चिमी प्रदेशों के लिये ही प्रयोग होना प्रमाणित करता है। इसी आधार पर, कौटिल्य द्वारा प्रयुक्त अपरन्ता शब्द भी पश्चिमी प्रदेशो के लिए ही प्रयोग हुआ है, सहज ही माना जा सकता है।

जहाँ पुराणो ने अपरन्ता शब्द के अर्थ का स्पष्टीकरण कर दिया है, वहाँ अपरान्त के अन्तर्गत प्रदेशो के उल्लेख मे यवनो का उल्लेख कर एक नवीन समस्या खडी कर दी है। यवनो के इस उल्लेख को आधार मानकर कुछ विद्वानो ने शिलाभिलेख ५ मे वर्णित यवन, काम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिक एवम् पितिनिक सभी जनपदो को अपरन्ता के अन्तर्गत मान लिया है। किन्तु यवन, काम्बोज तथा गान्धार जनपद पृथुदा के उत्तर अथवा थानेश्वर के पश्चिम मे स्थित हैं। अपनी स्थिति के कारण ये जनपद उत्तरापथ के प्रदेश है अपरन्ता के नही। अतः इन सभी जनपदो को अपरन्ता के जनपद मान लेना भूल होगी। इस भ्रमात्मक धारणा का कारण पुराणो के विभाजन को और मुख्यतया अपरन्ता के अन्तर्गत यवन जनपद को, अशोक के शिलाभिलेखो मे वर्णित यवन जनपद स्वीकार कर लेना है। सम्भवतः पुराणो का अपरन्ता के अन्तर्गत यवनों का उल्लेख उस काल का है जब यवन पश्चिमी भारत मे अपना आधिपत्य स्थापित कर चुके थे। राष्ट्रिक एवम् पितिनिक अवश्य पश्चिमी भारत मे स्थित होने के कारण अपरन्ता के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस प्रकार यदि अपरन्ता को इन जनपदों के साथ जोड़ना ही है उस दशा में इसे केवल राष्ट्रिक एवम् पितिनिक के ही साथ जोड़ा जा सकता है। किन्तु इतना अवश्य है कि अपरन्ता शब्द से अशोक का अभिप्राय केवल इन दो जनपदों से ही नही है। उसका प्रयोजन तो अपरन्ता मे स्थित ऐमे अन्य जनपदों से है जहाँ उसने इन जनपदों के समान ही

धर्ममहामात्र नियुक्ति किये थे। सम्भवतः ये जनपद अत्यन्त ही छोटे थे और इनके उल्लेख की आवश्यकता नहीं समझी गई। भोज जनपद भी जिसका उल्लेख शिलाभिलेख १३ मे हुआ है ऐसा ही अपरन्ता का एक जनपद था। इस प्रकार यदि अपरन्ता को शिलाभिलेख ५ में वर्णित जनपदो के साथ न जोड़ कर अलग हो लिया जाय और इसे पश्चिमी प्रदेश में स्थित ऐसे ही अन्य जनपदो के अस्तित्व का द्योतक माना जाय तो अधिक उपयुक्त होगा।

स्वतन्त्र सीमान्त राज्य :—

अशोक के साम्राज्य की दक्षिणी सीमा कहाँ तक थी इसका निश्चय शिलाभिलेख २ से हो जाता है। इसमे निम्न राज्यों का उल्लेख है:—

चोड, पांड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र तथा ताम्रपर्णी। इन राज्यों को अशोक ने अपने सीमान्त राज्य कहा है। अतः इन राज्यों को छोडकर समस्त दक्षिणी भारत अशोक के साम्राज्य का अंग था। अतः दक्षिण में अशोक के साम्राज्य की सीमायें निश्चित करने के लिए इन राज्यों की सीमाये निश्चित करना परमावश्यक है।

अशोक के शिलाभिलेख २ मे ताम्रपर्णी सत्यपुत्र तथा केरलपुत्र एकवचन मे प्रयुक्त हुये हैं और चोड तथा पांड्य बहुवचन मे। इसी आधार पर विद्वानो ने यह अनुमान लगाया कि इस विज्ञप्ति में सम्राट का अभिप्राय एक ओर तो ताम्रपर्णी, सत्यपुत्र तथा केरलपुत्र के शासकों से है तथा दूसरी ओर उनका अभिप्राय चोड तथा पांड्य का बहुबचन मे प्रयोग होने से वहाँ की जनता से। किन्तु यह मत तर्कसंगत प्रतीत नही होता। सम्भवतः सम्राट का तात्पर्य यहाँ भी चोड तथा पांड्य के शासकों से ही है। किन्तु इनके बहुबचन में प्रयोग होने से दो चोड तथा दो पांड्य-शासकों के अस्तित्व का अनुमान किया जा सकता है। टौलिमी तथा बराहमिहिर इस अनुमान को दृढ़ता प्रदान कर देते है। टौलिमी दो चोड राज्यों का उल्लेख करता है तथा बराहमिहिर उत्तर-पांड्य को अलग राज्य मानकर दक्षिण पांड्य के दूसके राज्य के अस्तित्व को स्वीकार कर लेता है। बराहमिहिर का यह वर्णन द्वितीय शताब्दी के पाँड्य राज्य से सम्बन्ध रखता है। इसी आधार पर अशोक के समय मे भी दो पांड्य राज्य होने का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

चोड:—प्रथम चोड राज्य शोरटाई (Soretai) था। टौलिमी ने शोरटाई के लिये शोरनागा शब्द का प्रयोग किया है। यदि शोरा को चोरा=चोड से समीकृत किया जा सके उस दशा में इस चोड राज्य में चोडनाग कुल

का राज्य ठहरता है। इस चोड राज्य की राजधानी ओरथरा थी। कनिघम ने ओरथरा को वर्तमान त्रिचनापली के समीप स्थित उदैपुर से मिलाया है।

टौलिमी के अनुसार उत्तरी चोड राज्य बेटीगा एवम् ऐडिस्थरौस पहाड़ियों के मध्य स्थित था। इस प्रदेश में असभ्य और अस्थिरवासी शोराई लोग रहा करते थे। इस चोड राज्य की राजधानी टौलिमी के अनुसार आरकेटौस थी। यदि इस आरकेटौस को वर्तमान अर्काट से मिलाया जा सके उस दशा में अर्काट इस चोड राज्य की राजधानी ठहरती है। असभ्य तथा अस्थिर-वासी होने के कारण इस प्रदेश के लोगो का मुख्य उद्यम लूट मार रहा होगा, सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

ये दोनों ही चोड राज्य भारतीय आदि वासियो के राज्य थे और इनका राज्य अर्काट तथा उदैपुर के निकटस्थ प्रदेशों मे फैला था। सम्भवतः पूर्वी घाट पर पेनार तथा कावेरी नदियों के मध्य का प्रदेश भी इन्ही चोड राज्यों के अन्तर्गत रहा होगा।

पांड्य :—बराहमिहिर उत्तर पांड्य के उल्लेख से दक्षिण पांड्य राज्य की सम्भावना को दृढ़ता प्रदान कर, शिलाभिलेख २ में बहुबचन में प्रयुक्त पांड्य राज्य के दो राज्य होने का स्पष्टीकरण कर देता है। किन्तु टौलिमी ने एक ही पांड्य राज्य का उल्लेख किया है। सम्भवतः दूसरा पांड्य राज्य या तो इस पांड्य राज्य मे सम्मिलित रहा होगा या अत्यन्त ही छोटा राज्य होने के कारण इसका अस्तित्व नही के बराबर होगा। टौलिमी के अनुसार पाण्डिनोई=पांड्य राज्य की सीमाये उत्तर मे काम्बेटर तथा दक्षिण में त्रिनीभेली के निकट पर्वतीय प्रदेश मे सीमित थी तथा इसकी राजधानी मोदोरा थी। मोदोरा वर्तमान मदुरा का ही द्योतक है।

सत्यपुत्र:—जर्नल आव-दिरौयल ऐशियाटिक सोसाइटी इस प्रदेश के दो नामों का उल्लेख करता है—सत्यपुत्र तथा सत्यभूमि। इस प्रदेश के लिये सत्य-ब्रत नाम का भी प्रयोग होता था, इसके भी प्रमाण मिलते हैं। डा० राधाकुमुद मुकर्जी सत्यपुत्र तथा केरलपुत्र प्रदेशों के नामों के आधार पर {(सत्य+पुत्र) (केरल+पुत्र)} पुत्र (पुत) को भूमि (प्रदेश) या जन्मभूमि के पुत्र का द्योतक मानते हैं तथा सत्य और केरल को उत्तरी भारत की दो जातियों के नाम होने का अनुमान करते है। यदि यह मत उचित है उस दशा मे सत्य तथा केरल को उत्तरी भारत की जातियाँ मान लेने में अधिक कठिनाई नही। सम्भवतः इन जातियों ने उत्तरी भारत से दक्षिण पहुँचकर इन प्रदेशों में अपने उपनिवेश

स्थापित कर लिये और इन प्रदेशों का नाम भी अपनी जातियों के नाम पर सत्यपुत्र तथा केरलपुत्र रख लिया। इस मत की आंशिक पुष्टि भद्रबाहु चरित्र से हो जाती है। इसके अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में भद्रबाहु अपने शिष्यों के साथ दुर्भिक्ष की आशंका से उत्तरी भारत से दक्षिण मे सत्यमंगल प्रदेश में १२ वर्ष के लिये चले आये थे। और इसी महादेशान्तर गमन द्वारा सत्यपुत्र का प्रदेश अधिवासित हुआ था। इसी ग्रन्थ के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में १२ वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था। सम्भवतः इसी महादेशान्तर गमन के समय केरलपुत्र भी अधिवासित हुआ होगा। यदि सत्यपुत्र तथा केरलपुत्र के अधिवासित होने की इस कथा को आधार माना जाय उस दशा मे इन प्रदेशों का नामकरण तथा इनकी सभ्यता का इतिहास अशोक के समय मे नवीन ही ठहरता है।

जर्नल आव दि रौयल एशियाटिक सोसाइटी के अनुसार वर्तमान कांचीपुर का प्रदेश सत्यपुत्र का प्रदेश था। डा० स्मिथ सत्यमंगलम् (काम्बेटौर जिला) पश्चिमी घाट, मालाबार (मैसूर का सीमान्त प्रदेश), काम्बेटौर तथा कुर्ग के प्रदेशों को सत्यपुत्र के अन्तर्गत मानते हैं। सम्भवतः सत्यपुत्र राज्य मे काम्बेटौर, मालाबार, पश्चिमी घाट, कुर्ग तथा कांचीवरम के आस-पास का प्रदेश सम्मिलित रहा होगा।

ह्वेनसांग सत्यपुत्र प्रदेश में अशोक के स्तूपों का उल्लेख करता है। किन्तु स्तूपों की उपस्थित से इस प्रदेश का मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत होने का अनुमान नही लगाया जा सकता। अशोक ने स्वयं इसे स्वतन्त्र सीमान्त प्रदेश स्वीकार किया है। किन्तु सत्यपुत्र अशोक के मानवोचित कार्यों के क्षेत्र में था। अशोक के शिलाभिलेख इसके प्रमाण हैं। अतः अशोक द्वारा इस प्रदेश मे स्तूपों का निर्माण पूर्णतया सम्भव है, किन्तु यह कार्य अशोक ने सत्यपुत्र-शासक की अनुमति प्राप्त करने के उपरान्त ही किया होगा। कुछ इतिहासकार इस अनुमति का आधार अशोक की असीमित शक्ति ठहराते हैं। यह धारणा भ्रमात्मक है। समुद्रगुप्त द्वारा सिंहल-नरेश मेघवर्मा की प्रार्थना पर बोधि-गया मे महाबोधि-संघाराम नामक बौद्ध बिहार के निर्माण की आज्ञा प्रदान किया जाना क्या सिंहल-नरेश की शक्ति के कारण था? इस आज्ञा का आधार पूर्णतया मानवीय है। मानवोचित भावनाओं के आधार पर ही अशोक ने सत्यपुत्र शासक से स्तूप निर्माण की प्रार्थना की होगी और अशोक की प्रार्थना स्वीकार कर सत्यपुत्र-नरेश ने लघुता के स्थान पर महान् गौरव का अनुभव किया होगा। अशोक की

शक्ति को इस अनुमति का कारण मानना, अशोक के महान् मानवोचित गुणों तथा उसके लेखों में प्रस्तुत उत्कट प्रमाणों की पूर्ण अवहेलना करना है।

केरलपुत्र :—पेरिप्लस के लेखक के अनुसार मोजिरिस, वर्तमान करांग-नौर केरलपुत्र की राजधानी थी। किन्तु टौलिमी इसकी राजधानी कारोरा के भीतरी भाग मे स्थित कहता है। कारोरा, वर्तमान काम्बेटौर जिला में अमरावती पर स्थित है। इन भ्रमात्मक विवरणों के कारण केरलपुत्र की वास्तविक सीमायें निश्चित करना कठिन है। सम्भवत. मालावार के समुद्रतट का प्रदेश केरलपुत्र राज्य का प्रदेश था।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह तो निश्चित ही है कि सुदूर दक्षिण के इन राज्यों की सीमायें आपस मे मिली हुई थी और इन राज्यों (चोड, पांड्य सत्यपुत्र तथा केरलपुत्र) द्वारा शासित प्रदेशों के अतिरिक्त सम्पूर्ण दक्षिण अशोक के साम्राज्य के अन्तर्गत था।

ताम्रपर्णी :—ताम्रपर्णी आधुनिक लंका राज्य का ही प्राचीन नाम है। लका भी अशोक क मानवोचित कार्यों के क्षेत्र मे था। अशोक के शिलाभिलेख इसके प्रमाण हैं। देवानांप्रिय तिष्य, अशोक का समकालीन लंका (ताम्रपर्णी) का शासक था। सिहली गाथाये अशोक तथा तिष्य के पारस्परिक घनिष्ट संबंधों पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। महावंश के अनुसार अशोक-पुत्र महेन्द्र के धर्म प्रचार के लिए लंका (सिहल, ताम्रपर्णी) जाने से प्रथम अशोक ने लंका-नरेश तिष्य के पास सदेश भेजा था कि मै बुद्ध, धर्म और संघ की शरण मे चला गया हूँ, मैंने शाक्य-मुनि का धर्म अपना लिया है, तुम भी इसे अपना कर बोध प्राप्त करो। तद्उपरान्त तिष्य ने अपने साथियों सहित महेन्द्र द्वारा धर्म के तत्वों को समझ कर बौद्ध-धर्म ग्रहण कर लिया। ऐसी ही अनेकों कथायें जिनका स्पष्ट विवरण समयानुसार किया जायेगा अशोक तथा तिष्य (अप्रत्यक्ष रूप से भारत तथा सिहल) के घनिष्ट सम्बन्धों की पुष्टि करती है और शिलाभिलेखों मे वर्णित अशोक द्वारा ताम्रपर्णी मे किये जाने वाले मानवोचित कार्यों की सत्यता पर पर्याप्त प्रकाश डालती हैं।

अशोक के साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा तथा समकालीन यवन शासक

शिलाभिलेख १३ अशोक के समकालीन निम्न पाँच यवन शासकों का उल्लेख करता है।

अन्तियोक, तुरमय, अन्तकिन, मक तथा अलिकसुन्दर। इन सबमें अन्तियोक अशोक का सबसे निकटवर्ती सीमान्त यवन शासक था। अन्य चारों यवन शासक अन्तियोक के निकटवर्ती शासक थे। शिलाभिलेख २ इस सत्य की पुष्टि कर देता है। अतः अशोक के साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा अन्तियोक के साम्राज्य की पूर्वी सीमा तक विस्तृत थी, इसका सहज ही निश्चयात्मक अनुमान किया जा सकता है।

अन्तियोक—Antiochus II theos :—अन्तियोक सिल्यूकस का पौत्र था। सीरिया, बैकट्रिया तथा पश्चिमी एशियाई प्रदेश इसके साम्राज्य के अन्तर्गत थे। सिल्यूकस ने इस साम्राज्य की स्थापना अपने स्वामी सिकन्दर महान् की मृत्यु के उपरान्त की थी। अन्तियोक, अशोक का सबसे अधिक निकटवर्ती सीमान्त शासक था। इसने २६१ से २४६ ई० पू० तक शासन किया।

तुरमय —Ptolemy II Philadelphos :—यह मिश्र का शासक था। इसने २८५ से २४७ ई० पू० तक शसन किया।

अन्तकिन —Antigonos Gonatas :—यह मैसिडोनिया (मकदूनिया) का शासक था। इसने २७८ से २३९ ई० पू० तक शासन किया।

मक— Magas :—यह मिश्रशासक तुरमय का भाई तथा कैरीन (Cyrene) का अधिनायक था। कैरीन मिश्र के पश्चिम में स्थित है। इसने ३०० से २५० ई० पू० तक शासन किया।

अलिकसुन्दर—Alexander :—इस शासक के प्रति विद्वानों में मतभेद है। कुछ तो इसे कौरिन्थ (Corinth) का राजा मानते हैं जिसका शासन काल २५२ से २४६-४४ ई० पू०का है तथा कुछ विद्वान इसे एपिरस (Apirus) का शासक सिकन्दर मानते हैं। इसका शासन काल २७२ से २५८ ई० पू० का है। द्वितीय मत अधिक प्रमाणिक तथा मान्य है। एपिरस का प्रदेश यूनान के उत्तर-पश्चिम और मकदूनिया के पश्चिम का प्रदेश था।

इन यवन शासकों तथा मौर्य शासकों के मध्य घनिष्ट मित्रतापूर्ण संबंध स्थापित थे। परस्पर दूतों का आवागमन तो चंद्रगुप्त मौर्य के समय से ही प्रारम्भ हो चुका था। सिल्यूकस ने मेगस्थनीज को अपना दूत बनाकर चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में भेजा था। मेगस्थनीज़ बहुत समय तक चंद्रगुप्त के

दरबार मे रहा । इसने अपने समकालीन भारत का विस्तृत वर्णन लिखा है। यह वर्णन भारतीय इतिहास को मेगस्थनीज की अमूल्य देन है।

मेगस्थनीज का उत्तराधिकारी देइमख (Deimachos) था जिसे स्ट्रबो के अनुसार सिल्यूकस ने चंद्रगुप्त मौर्य के पुत्र अमिट्रोकेटस के दरबार मे भेजा था। अमिट्रोकेटस, बिन्दुसार की अमित्रघात उपाधि का रूपान्तर है। बिन्दुसार के शासनकाल में ही सिल्यूकस की मृत्यु हो गई और उसका उत्तराधिकारी अंतिओक सोतर (विजेता) उसके सीरिया-साम्राज्य का शासक हुआ। बिन्दुसार तथा अंतिओक के मध्य भी घनिष्ट मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित रहे। एक बार बिन्दुसार ने अंतिओक से एक दार्शनिक, सूखे अंजीर तथा अंगूरी मधु क्रय कर भेजने को लिखा था। अंतिओक ने सूखे अंजीर तथा मधु तो तुरंत ही भेज दिये किंतु दार्शनिक के लिये लिखा कि यूनान का कानून दार्शनिक विक्रय करने की अनुमति नही देता। यह घटना भी बिन्दुसार तथा अंतिओक के घनिष्ट सम्बन्धों की पुष्टि करती है।

मिश्र के शासक तुरमय (Ptolemy Philadelphos) ने भी डैयोनिसियस (Dionysios) को बिन्दुसार के दरबार में अपना राजदूत नियुक्ति किया था। तुरमय अशोक का भी समकालीन शासक था। इसका उल्लेख शिलाभिलेख १३ में हुआ है। मेगस्थनीज़ की भाँति डैयोनिसियस ने भी अपने समकालीन भारत का विशद वर्णन लिखा है। प्लिनी का विवरण बहुत कुछ डैयोनिसियस के विवरण पर आधारित है। खेद है डैयोनिसियस का यह विवरण जिससे बिन्दुसार के शासनकाल की बहुत-सी घटनाओं पर प्रकाश पड़ने की आशा थी अब प्राप्य नही।

अशोक के शासनकाल में देइमख (Deimachos) तथा डैयोनिसियस (Dionysios) का उत्तराधिकारी कौन था, कहना कठिन है। किन्तु इतना निश्चित है कि अशोक के समय में भी इन यवन शासकों तथा अशोक के मध्य घनिष्ट मित्रतापूर्ण संबंध स्थापित था। अशोक ने इन यवन राज्यों में भी मनुष्य-चिकित्सा तथा पशु-चिकित्सा का प्रबन्ध किया था (शि० ले० २)। यदि अशोक के संबंध इन शासकों से घनिष्ट न होते तो यह कार्य कभी सम्भव न था। अशोक के समय में तो यह संबंध और भी अधिक गहरा होगया था। चन्द्रगुप्त तथा बिन्दुसार के समय में तो यह संबंध समानता के पद पर आधारित था। इस काल में इसका रूप केवल राजनीतिक ही कहा जा सकता है,

किन्तु अशोक के शासनकाल में इस संबंध के दो रूप हो गये—राजनीतिक तथा सांस्कृतिक।

राजनीतिक रूप में अशोक इन्हें स्वतन्त्र सीमान्त राज्य कहता है–(शि० ले० २ एवम् १३)। किन्तु सांस्कृतिक रूप मे ये अशोक के, धर्म द्वारा विजित राज्य थे (शि० ले० १३)। ये अशोक के धर्मानुशासन का अनुसरण करते थे (शि० ले० १३)। अतः एक ओर जहाँ अशोक का संबंध इन यवन राज्यों से राजनीतिक समानता पर आधारित था वहाँ दूसरी ओर धर्म अथवा संस्कृति के क्षेत्र मे गुरु एवम् शिष्य के सिद्धान्त पर। यवन शासकों के सम्बन्ध के क्षेत्र में यह नवीनता, जिसका श्रेय अशोक को है, अशोक के यवन राजाओं से सम्बन्ध के स्पष्टीकरण तथा भारतीय इतिहास को गौरवान्वित करने के लिये पूर्ण समर्थ है।

जहाँ तक राजदूतों की नियुक्ति का प्रश्न है अशोक के शासनकाल मे भी परस्पर दूतों का आवागमन प्रचलित था। अन्तिओक, अन्तिकिनि, मक, तुरमय तथा अलिकसुन्दर द्वारा अपने धर्मानुशासन के अनुसरण का उल्लेख करते हुए स्वयं अशोक ने कहा है···"जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नही भी जा पाते हैं—वहाँ भी धर्मानुशासन पर आचरण किया जाता है" (शि० ले० १३) अशोक का यह कथन राजदूतों संबंधी समस्या का समाधान कर देता है। इन दूतों का कार्य राज्यों में धर्म का प्रचार करना था (कलिग शि० ले० २)।

अशोक का उपर्युक्त कथन जहाँ एक ओर अशोक द्वारा राजदूतों की नियुक्ति किये जाने की पुष्टि कर देता है, वहाँ दूसरी ओर उसके साम्राज्य की विशालता का परिचायक भी है। अशोक के धर्मानुशासन का अनुसरण शि० ले० १३ में वर्णित यवन शासक तो करते ही थे, साथ ही अन्य अनेकों स्वतन्त्र शासक भी उसके धर्मानुशासन से प्रभावित तथा उनका अनुकरण करने वाले थे। दक्षिण के पांड्य, चोड, सत्यपुत्र, केरलपुत्र तथा ताम्रपर्णी के राज्य भी यवन राज्यों के समान धर्म द्वारा विजित प्रदेश के अंतर्गत होने के कारण उसके धर्मानुशासन का अनुकरण करते ही थे। अतः अशोक के आध्यात्मिक साम्राज्य की सीमायें अत्यन्त ही विशाल थीं। उसके भौतिक साम्राज्य की सीमीयें तो एक निश्चित सीमा से सीमित की जा सकती हैं, किंतु भौतिक वस्तु पानी के बुलबुले के समान क्षणिक होती है, वह अपने साथ ही अपने स्वामी का भी अस्तित्व सदा के लिये काल को समर्पण कर देती है और नश्वरता का प्रतीक मानव भी कुछ काल उपरान्त उसे भूल जाता है। अतः मनुष्य की महानता

उसके भौतिक अधिकारों में नही, उन आध्यात्मिक विचारों में है जिनका आधार 'बसुधैव कुटुम्बकम्' है। अशोक का "नस्ति हि कमतर सव्रलोक हितेन" (शि० ले० ६) का सिद्धान्त इसी बसुधैव कुटुम्बकम् का दूसरा व्यावहारिक रूप है। अपनी इन्हीं अमर भावनाओं को क्रियात्मक रूप प्रदान कर अशोक ने दूरस्थ स्वतंत्र शासकों को अपने धर्मानुशासन का अनुसरण करने को बाध्य कर दिया। आज भी, जबकि संसार के सहस्त्रों महान् सम्राट भुलाये जा चुके हैं, उनका वैभव केवल इतिहास के पृष्ठों की ही सामग्री बन गया है, अशोक का नाम अमर है। सम्पूर्ण संसार इस महान् मानव को श्रद्धाञ्जलि समर्पित करने मे गौरव अनुभव करता है। अतः अशोक संसार के इतिहास का केवल अकेला ही एक ऐसा सम्राट है जिसने एक ऐसे आध्यात्मिक अथवा मानवीय साम्राज्य की स्थापना की जिसकी विशालता का अनुमान लगाना असंभव है। शिलाभिलेख १४ में अशोक स्वयं अपने साम्राज्य की इस विशालता की ओर सकेत करता है। वह कहता है "मेरा साम्राज्य अत्यन्त विस्तृत है और पृथ्वी मेरे आधीनस्थ है" (शि० ले० १४) यहाँ पृथ्वी से तात्पर्य सम्पूर्ण विश्व से है और साम्राज्य के विस्तार से धर्म द्वारा विजित एवम् धर्मानुशासन का अनुसरण करने वाले प्रदेशो से। इस प्रकार अशोक स्वयं ही सम्पूर्ण विश्व को अपने आध्यात्मिक साम्राज्य के अन्तर्गत स्वीकार करता है।

अशोक का शासनकाल और विद्रोह :—

संसार के महान् से महान् सम्राट के शासनकाल को आन्तरिक विद्रोहों तथा वाह्य आक्रमणों की आशंकाओं ने सदैव ही कंपित किया है। इसके उत्तर में भी सदैव ही तलवार के ताण्डव नृत्य ने अपना कर्तव्य पालन किया है। शक्ति की विजय निश्चित है। अतः कभी शासकों ने विद्रोहियों पर विजय पाई और कभी विद्रोहियों ने शासकों का समूल नाश कर नवीन राजवंशों को जन्म दिया। राजवंशों के इसी उत्थान-पतन से विश्व का इतिहास भरा पड़ा है। क्या अशोक के विशाल भारतीय साम्राज्य को भी विद्रोही तत्वों की हुंकारों ने प्रतिध्वनित किया ? यह इतिहास की एक अनोखी ही समस्या है। अशोक के लेखों में ऐसे किसी विद्रोह का उल्लेख नही। दिव्यावदान अवश्य तक्षशिला के विद्रोह का उल्लेख करता है। दिव्यावदान के अनुसार तक्षशिला के पौरों को विद्रोह दबाने के लिए अशोक स्वयं तक्षशिला जाने को उद्यत हुआ किन्तु आमात्यों के कहने से उसने स्वयं जाने का विचार त्याग दिया और कुणाल को भेजने का निश्चय किया। कुणाल विशाल सेना ले तक्षशिला की ओर चला। किन्तु कुणाल के

तक्षशिला पहुँचने पर विद्रोही पौरों ने नगर को सजाया और नगर से साढ़े तीन योजन तक मार्ग सजाकर मङ्गलघट ले स्वागत के लिए आगे आये। कुणाल के समीप पहुंचने पर उन्होंने कहा—न हम कुमार के विरुद्ध हैं और न राजा अशोक के किन्तु दुष्टामा आमात्य हमारा अपमान करते हैं—तदोपरान्त उन्होंने सहर्ष कुमार को आत्म समर्पण कर दिया। दिव्यावदान की यह कथा विद्रोह का उल्लेख अवश्य करती है किन्तु यह विद्रोह मौर्य सम्राट अशोक के विरुद्ध न था। दुष्टात्मा आमात्यों के अपमान जनक कार्यों ने तक्षशिला के पौरों को अपने अधिकार सम्राट से मांगने के लिए वाध्य कर दिया था। वे शासन मे परिवर्तन चाहते थे। दुष्टात्मा आमात्यों के स्थान पर पुण्यात्मा आमात्यों की नियुक्ति ही उनके इस विद्रोह का ध्येय था। उनकी न्यायोचित माँगों की पूर्ति के साथ ही उनका रक्तपात-हीन विद्रोह भी समाप्त हो गया। अतः इस विद्रोह को साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह की श्रेणी में न रखकर यदि न्यायोचित अधिकारों की मांग के प्रदर्शन की कोटि में रक्खा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा।

इस तक्षशिला के विद्रोह के अतिरिक्त गाथायें भी अन्य किसी विद्रोह का उल्लेख नहीं करतीं। कुछ विद्वान अशोक के अभिषेक के पहले चार वर्षों में प्रान्तीय शासकों के विद्रोह का अनुमान लगाकर अशोक के अभिषेक में चार वर्ष के विलम्ब के कारणों को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। बिन्दुसार के शासन काल के अन्तिम समय में तक्षशिला में विद्रोह हुआ था। तक्षशिला इससे पहले भी एक बार और विद्रोह कर चुका था। इस अन्तिम विद्रोह को पूर्णतया दबाने के पहले ही बिन्दुसार की मृत्यु हो जाने का उल्लेख भी दिव्यावदान मे है। इसी विवरण के आधार पर विद्वानों ने अशोक के अभिषेक से पहले के वर्षों में विद्रोह का अनुमान लगाया है। किन्तु जैसा कि दिव्यावदान से स्पष्ट है तक्षशिला के ये विद्रोह न तो सम्राट के विरुद्ध थे और न राजवंश के। इनका उद्देश्य दुष्टात्मा आमात्यों को तक्षशिला के शासन-कार्य से हटाना था। इसी कारण इन विद्रोहों का दमन भी बिना रक्तपात के ही हो गया। अतः इस विद्रोह को विद्रोह की कोटि में नहीं लेना चाहिये। अशोक के समय में यह विद्रोह चार वर्ष तक चलता रहा इसका किसी भी गाथा में उल्लेख नहीं। और फिर यदि केवल अनुमान के आधार पर विद्रोह के अस्तित्व को स्वीकार भी कर लिया जाय उस दशा में इन विद्रोहों को उत्तराधिकार के युद्ध के साथ सम्बद्ध करना चाहिये जिसमें अशोक मुख्यतः चार वर्ष तक संलग्न रहा। और फिर अशोक के अभिषेक से पहले के चार वर्षों को उसके शासन काल मे नही जोड़ना चाहिये। यह काल तो संघर्ष

का वह काल था जिसमें सिंहासन का वास्तविक अधिकारी कोई न था। अशोक ने तो केवल शक्ति से सिहासन पर अधिकार कर लिया था और अपने इसी अधिकार को बनाये रखने के लिये उसे चार वर्ष तक संघर्ष करना पड़ा। अशोक स्वयं अपने शासन काल की गणना अभिषेक के समय से करता है। अशोक का अभिषेक इन्हीं चार वर्षों के संघर्ष के उपरान्त हुआ था। अतः पहले तो गाथाओं में उल्लेख न होने से प्रान्तीय विद्रोहों के अस्तित्व का अनुमान ही प्रमाणित नहीं, और फिर यह काल अशोक के वास्तविक शासन काल के अन्तर्गत नही आता, इस कारण इस काल की धुंधली घटनाओं को अशोक के शासन काल की घटनायें मानना एक भारी भूल होगी।

अशोक का शिलाभिलेख १३, यदि विद्रोह नहीं तो विद्रही तत्वों की उपस्थित का संकेत अवश्य करता है। "जितने व्यक्ति कलिग विजय में मारे गये, आहत हुये या बन्दी बनाये गये, उनका सौवाँ, हजारवाँ भाग भी अब यदि मारा जाय......तो देवताओं के प्रिय को असीम दुःख होगा। देवताओं के प्रिय का मत है कि जो अपकार करता है उसे भी यदि हो सके क्षमा किया जाय। जो अटबियाँ देवताओं के प्रिय के विजित में हैं, उनसे भी वह अनुनय करता है तथा उन्हें मानता है। देवताओं के प्रिय के पछतावे में कितनी शक्ति है यह उन्हें बता दिया गया है। अतः वह (आटविकों से) कहता है कि बे (वे बुरे कामों से) लज्जित हो, व्यर्थ में दण्ड न पायें। देवताओं का प्रिय सब जीवों से अक्षति, संयम- समचर्या तथा आनन्द चाहता है।" (शि० ले० १३)

यहाँ आटविकों के प्रति अशोक ने अपनी नीति का उल्लेख किया है। अशोक ने इन्हें विजित कहा है। अतः ये मौर्य साम्राज्य का अंग थी। अशोक के लेख इन अटवियों के निश्चित स्थान का निर्देश नही करते। पुराण अवश्य इनके स्थान का उल्लेख करते हैं। वहाँ इन्हें पुलिद, विन्ध्यमूलीय और विदर्भों के समीपस्थ प्रदेश का निवासी कहा गया है। अशोक के शासन काल में सम्भवतः ये जंगली जातियाँ सदैव विद्रोही बनकर शासन के नियमों का उल्लघंन किया करती थीं। इनके विद्रोहात्सक कार्यों के लिये ही सम्भवतः अशोक ने 'अपकार' शब्द का प्रयोग किया है। इनके विद्रोहात्मक कार्यों, उनके उद्देश्य तथा रूप का न तो लेखों में ही कोई उल्लेख है और न गाथाओं में ही किन्तु इनका अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है। एक ताम्र-पत्र के आधार पर परिव्राजक राजा हस्तिन, दाभाला राज्य के सहित अट्ठारह जंगली राज्यों का स्वामी था। इलाहाबाद प्रशस्ति के अनुसार समुद्रगुप्त ने भी अट्ठारह अटवी (जंगली) राज्यों को

विजय किया था। इन विवरणों से इन जंगली जातियों के अट्ठारह राज्यों के अस्तित्व का पता चल जाता है। ये राज्य मध्य भारत में विन्ध्याचल के जंगलों में फैले हुये थे। सम्भवतः अशोक के समय में भी इन जंगली जातियों के विभिन्न राज्य थे। इन छोटे छोटे राज्यों के निवासी असभ्य तथा निष्ठुर प्रवृति के थे। लूट-मार करना ही इनका मुख्य उद्यम प्रतीत होता है। अपने इसी नीच तथा हिसात्मक स्वभाव के कारण यदि इन्हें दानव कहा जाय तो भी अनुचित न होगा। समुद्रगुप्त की इलाहाबाद प्रशस्ति इस मत की पुष्टि कर देती है। इस प्रशस्ति में इन आटविक राजाओं के नामों का उल्लेख न कर इनके लिये "परिचारिकीकृत सर्वाटवीक राजस्य" लिखा गया है। यह पंक्ति इन आटविक राजाओं को केवल सेवा (परिचर्या) करने के ही योग्य घोषित करती है। यह वर्णन इन राजाओं की हीनता का द्योतक नहीं तो और क्या है? इस हीनता का आधार इनके राज्यों का छोटा होना नही, वरन् इनकी नीच तथा लुटेरी प्रवृत्तियाँ ही हो सकती हैं।

सम्भवतः अशोक के समय में भी ये अटवियाँ निकटस्थ प्रदेशों में लूट-मार करती होंगी। इस लूटमार में शाँत प्रिय मनुष्यों को अपने प्राणों की बलि व्यर्थ ही देनी पड़ती होगी। परिणामस्वरूप इन अटवियों के निकटस्थ प्रदशों मे अशांति का होना अनिवार्य ही है। यद्यपि इस लूटमार में किसी निश्चित राजनीतिक योजना तथा उद्देश्य के दर्शन नही होते फिर भी अटवियों का यह कार्य शासन के नियम-उल्लंघन की कोटि में अवश्य आ जाता है। किसी निश्चित राजनीतिक उद्देश्य के अभाव में इन अटवियों का शासन के नियमों का उल्लंघन करना यदि विद्रोह की कोटि में आता है उस दशा में इसका आधार इन असभ्य जंगली जातियों की हिंसात्मक प्रवृत्ति ही मानना होगा।

अशोक इन जंगली जातियों की हिसात्मक प्रवृत्तियों से पूर्णतया परिचित था और इसी कारण उसने शक्ति के स्थान पर प्रेम तथा धर्म की शिक्षा देकर इन्हें सभ्य बनाने का प्रयास किया। हिसा को हिंसा से विजय करना उसके जीवन का उद्देश्य न था। इस उपाय की निरर्थकता से भी वह पूर्ण परिचित था। इसी कारण अनुनय तथा क्षमा के शस्त्र द्वारा उसने इन्हें शाँत करने का प्रयास किया। किन्तु उसकी सहृदयता तथा क्षमा की नीति का अर्थ ये अटवियाँ कही सम्राट की निर्बलता न लगा लें, इस भय से अशोक ने एक कुशल राजनीतिज्ञ की भाँति उन्हें अपनी शक्ति से भी परिचत करा दिया। उसने स्पष्टतया घोषित कर दिया कि अटवियाँ अच्छा आचरण करेंगी तो उनके

साथ अच्छा व्यवहार किया जायेगा और उनके समस्त पूर्व दोष क्षमा कर दिये जायँगे किन्तु यदि उनका व्यवहार पूर्ववत ही बना रहा तो सम्राट की शक्ति उनका दमन करेगी। सम्भवतः अशोक ने अपनी शक्ति का उल्लेख कर कलिंग के भीषण रक्तपात की ओर संकेत किया है। अंत में अशोक फिर उनसे अपने कार्यों के लिये लज्जित होने और व्यर्थ में प्राण न देने की प्रार्थना करता है।

अशोक की इस नीति का परिणाम क्या निकला, अशोक के लेखों में इसका उल्लेख नहीं। किन्तु अशोक भी इसके अतिरिक्त अन्य किसी लेख में अटवियों के बुरे कार्यो की निन्दा करता हुआ नहीं सुनाई देता। सम्भवतः अशोक की धार्मिक शिक्षाओं द्वारा इन जंगली असभ्य जातियों ने भी मानवता का मूल्याँकन करना तथा शाँतिमय उपायों से जीवन व्यतीत करना सीख लिया।

कुछ इतिहासकारों ने अटवियों के इन विद्रोहात्मक कार्यो को स्वतन्त्रता प्राप्ति के उद्देश्य पर आधारित कर इन्हें स्वतन्त्र अथवा अर्ध स्वतन्त्र राज्यों की कोटि से रखने का भ्रमात्मक प्रयास किया है। अपने मत की पुष्टि के लिये में कलिंग शिलाभिलेख २ को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं जहाँ अशोक ने 'अन्तों' को उस पर विश्वास रखने का आश्वासन दिया है और जहाँ तक संभव होगा उनके अनुचित कार्यों के लिए उन्हें क्षमा करने की प्रतिज्ञा की है। यहाँ अन्तों से तात्पर्य अटवियों से ही मान लिया गया है। किन्तु यह धारणा भ्रमात्मक है। अशोक ने अपनी यह नीति केवल उन अन्तों के लिये निर्धारित की थी जो जीते नहीं गये थे (कलिग शि० ले० २)। अशोक अटवियों को अपना विजित कहता है (शि० ले० १३)। अतः अविजित अन्तों के प्रति नीति को विजित प्रदेशों के लिये मानकर विजित प्रदेशो को अविजित प्रदेश घोषित कर देना हास्यास्पद नही तो और क्या है? यदि अटवियाँ अशोक के साम्राज्य का अंग न होती, तो अशोक कभी इन्हें विजित कहने का निरर्थक प्रयास नही करता। स्पष्टवादी अशोक अटवियों की भी अर्ध स्वतन्त्र तथा स्वतन्त्र राज्यों की कोटि में गणना करता। वह कलिंग शिलाभिलेख २ में वर्णित स्वतन्त्र अतों के समान उन्हें आश्वासन देता न कि शिलाभिलेख १३ में वर्णित अपनी नीति के अन्तर्गत अटवियों को बुरे काम न त्यागने पर शक्ति से दबाने की चेतावनी देता।

अतः अटवियों को स्वतन्त्र अथवा अर्धस्वतन्त्र राज्यों की कोटि में न मानकर मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत अशोक का विजित प्रदेश ही मानना चाहिये तथा कलिंग शिलाभिलेख २ में प्रयुक्त 'अतों' को सुदूर दक्षिण में स्थित तामिल राज्यों का द्योतक मानना चाहिये।

चौथा प्रकरण

शासन-प्रणाली

अशोक की शासन प्रणाली का विस्तृत चित्रण हमें उसके शिलाभिलेखों से प्राप्ति नही होता। इतना अवश्य है कि उसमें बिखरी सामग्री इस क्षेत्र में हमारी सहायता अवश्य करती है। मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन-प्रणाली पर प्रकाश डाला है। चन्द्रगुप्त के प्रधान मंत्री कौटिल्य ने भी अपनी अर्थ शास्त्र नामक पुस्तक में शासन-प्रणाली के ऊपर विशद व्याख्या की है, किन्तु इसका यह अर्थ नही कि उसने मौर्य शासन-प्रणाली का विवरण दिया है! उसमें तो शासन-प्रबन्ध किस प्रकार होना चाहिये इस तथ्य का वर्णन है। फिर भी इतना अवश्य संभव है कि उसका मौर्य शासन-विधान पर यथेष्ट प्रभाव रहा होगा। मेगस्थनीज तथा कौटिल्य के विवरणों के आधार पर चन्द्रगुप्त तथा बिन्दुसार की शासन-प्रणाली की रूप रेखा अवश्य खीची जा सकती है। अशोक ने भी इसी रूप रेखा का पालन किया होगा निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। असोक के शिलाभिलेखों से जो शासन-प्रबन्ध सम्बन्धी संकेत उपलब्ध होते हैं उनके आधार पर यही कहा जा सकता है कि अशोक की शासन प्रणाली भी कुछ उलट-फेर के साथ वही थी।

प्रजातन्त्रतात्मक संस्थायें तथा जनपद :—

अशोक की शासन-प्रणाली के अध्ययन के लिये उस प्रणाली की प्रष्ठ-भूमि का अध्यन भी नितान्त आवश्यक है। चन्द्रगुप्त तथा बिन्दुसार की राजनीति का उद्देश्य नव विजित साम्राज्य में शांति बनाये रखना था। शांति-स्थापना की समस्या भी एक दुस्तर समस्या थी। महाजनपद युग तथा पूर्व नन्दकालीन जनपदों की प्रजातन्त्रात्मक परम्पराओं को देश अभी भूला न था। अपने जागृत रूप में वे अब भी सबल सासें भर रही थीं। अशोक के शिलाभिलेख तथा अशोक सम्बन्धी गाथायें भी इन परम्पराओं का उल्लेख यथेष्ठ शक्ति सम्पन्न संस्थाओं के रूप मे करती हैं। अशोक के चौथे तथा सातवें स्तम्भाभिलेखों

में प्रजा के अर्थ में 'जन' तथा 'लोक' शब्द का उल्लेख भी है। इसके अतिरिक्त चौथे स्तम्भिलेल में ही 'जानपद जन' का उल्लेख भी है। कलिंग शिलाभिलेख 'नगर जन' का उल्लेख करता है। ये समस्त विवरण नगर-संस्था तथा जनपद संस्था के अस्तित्व को ही प्रमाणित करते हैं। दिव्यावदान में आमात्यो के विरुद्ध तक्षशिला मे पौरो के विद्रोह का वर्णन है। तक्षशिला के पौरों से अभिप्राय न तो तक्षशिला के सम्पूर्ण निवासियों से है और न उत्तरापथ के निवासियो से तक्षशिला जिसकी राजधानी थी। पौर, तक्षशिला जनपद के नागरिकों की चुनी संस्था का द्योतक है। अतः तक्षशिला के पौरों से तात्पर्य तक्षशिला जनपद की उस सस्था मे है जिसके प्रतिनिधि प्रजा द्वारा चुने हुये थे। अशोकावदान की एक कथा के अनुसार जब अशोक ने बहुत अधिक दान देना चाहा और आमत्यों ने उसका प्रतिषेध किया, उस समय अशोक ने आमात्यों तथा पौरों का सन्नि-पतन कराया। यहाँ आमात्यों तथा पौरों का जुटाव विचारणीय है। यदि पौरों का अर्थ पुर के निवासियों से है, उस दशा मे राजकीय समस्याओं पर विचार करने के लिये पाटलिपुत्र से विशाल नगर के निवासियों का जुटाव हास्यास्पद प्रतीत होता है। यहाँ भी पौरों का अर्थ पाटलिपुत्र की नगर संस्था के प्रतिनि-धियों से ही है। मेगस्थनीज ने भी पाटलियुत्र के ३० पौरों की सभा का उल्लेख किया है। अशोक कालीन पाटलिपुत्र के पौरों की सभा इसी सभा की उत्तरा-धिकारिणी थी। इस प्रकार पौर, नगर संस्था तथा जनपद संस्था का अस्तित्व तो प्रमाणित हो ही जाता है। इनकी शक्ति का परिचय भी तक्षशिला के पौरों के विद्रोह से मिल जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जनपद के शासन के लिये राजकीय अधिकारी तथा नगर संस्थायें दोनों ही सामूहिक रूप से उत्तरदायी थी। तक्षशिला मे सम्भवतः आमात्यों ने प्रजापक्षके इन प्रतिनिधियों की इच्छाओं का दमन करना चाहा, अथवा पौर जनपद की इच्छा के विरुद्ध कोई नियम जनता पर लादना चाहा जिसके परिणामस्वरूप पौरों ने शासन से अहिंसात्मक असहयोग किया। दिव्यावदान ने इसी संघर्ष को विद्रोह का नाम दिया है। यह विद्रोह दो बार बिन्दुसार के शासनकाल में तथा एक बार अशोक के शासनकाल में हुआ था। प्रत्येक बार विशाल सेना लेकर कुमारों को विद्रोह के दमन के लिये भेजा गया, किन्तु पौरों ने कुमार तथा सेना का सदैव स्वागत किया और अपने विद्रोह का कारण आमात्यों का अपमान जनक व्यवहार बतलाया। अहिसात्मक असहयोग को दबाने के लिये सेना की क्या आवश्यकता थी और वह भी जब असहयोग अथवा विद्रोह कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित था ?

इसका तात्पर्य केवल यही है कि इन पौरों अथवा संस्थाओं के पीछे सम्पूर्ण जनता की शक्ति थी। जनता का इन्हें विश्वास प्राप्त था। अतः इनका विद्रोह अप्रत्यक्ष रूप से जनता का विद्रोह था। इन्हें दबाने पर जनता की क्रोधाग्नि धधक उठने का भय था। मेगस्थनीज के अनुसार पाटलिपुत्र के पौरों की सभा नगर के प्रबन्ध के लिये स्वतन्त्र थी। ये थी वे संस्थायें जहाँ प्रजातन्त्रात्मक परम्परायें अभी भी जीवित थी और जिन्हें चन्द्रगुप्त मौर्य ने साम्राज्य के साथ प्राप्त किया था।

प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं एवम् जनपदों के प्रति मौर्य नीति :—

इन जनपदों का रूप तथा इनका साम्राज्य से सम्बन्ध भी एक सा न था। कुछ साम्राज्य के निकट थे, कुछ दूर। कुछ साम्राज्य के पुराने अंग थे और कुछ नव विजित। कई एकाकी प्रजातन्त्रात्मक परम्पराओं पर आधारित थे तथा कई सत्र राज्य के समर्थक। अटवी प्रदेश में प्रारम्भिक जातियाँ प्रारम्भिक सगठन के रूप में अभी भी प्रस्तुत थी। इन जनपदों के अपने नियम थे और अपनी संस्थायें। इनकी जनता मे अपने अपने जनपदों के लिये अनन्य भक्ति थी और यही भक्ति साम्राज्य के हित मे बाधक थी। इन विभिन्न प्रकार के जनपदों के लिये साम्राज्य को विभिन्न नीति बनानी पड़ती थी। जनता की भक्ति को जनपदीय भक्ति से हटाकर साम्राज्य के प्रति परिवर्तित करना मौर्य सम्राटों का प्रथम कर्त्तव्य था। यद्यपि कि राजकीय नियम द्वारा इन जनपदों की निन्दा करना एक ऐसा अपराध था जिसके लिये वाक्यारुष्व (मान हानि) का दावा राजकीय न्यायालयों मे हो सकता था (अर्थशास्त्र), फिर भी आंतरिक रूप से इन जनपदों की शक्ति नाश करने का ही प्रयत्न किया जा रहा था। अर्थशास्त्र इसका प्रमाण है। वहाँ इन जनपदों की शक्ति तोड़ने तथा जनता की भक्ति साम्राज्य के प्रति प्राप्त करने के उपायों का वर्णन है। अर्थशास्त्र राजा को निम्न उपायों के प्रयोग का सुझाव देता है :—

१. जनपदों का विश्वास प्राप्त करने के लिये उन्ही की प्रकृतियों के अनुसार कार्य करना तथा उन्ही के समान शील, वेष, आचार तथा भाषा बना लेना चाहिये।

२. जनपदों के देवताओं, समाजों, उत्सवों और विहारों में भक्ति रखना।

३. गुप्तचरों द्वारा जनपदों, ग्रामों तथा जाति के संघों में राजा के प्रति भक्ति उत्पन्न कराने का प्रयास करना।

४. जनता को दान तथा मालगुजारी की छूट देकर वश में करने का प्रयास करना।

५. आश्रमों का आदर, विद्वान् तथा वीर पुरुषों का भूमि तथा द्रव्य आदि उपहारों से सत्कार कर उन्हें वश में करना।

६. उनके राजकीय कोष अथवा सेना का अपघात करने वाले नियमों को तोड़ना।

७. चोर प्रकृति तथा उद्दण्ड जातियों को एक साथ न रहने देना।

८. शत्रुपक्ष के मुखियों पर सतर्कता से ध्यान रखना और यदि वे हानि पहुंचाने योग्य हो तो उन्हे चुपचाप दण्ड से शान्त कर देना।

९. विजित राजवश के कुमारों को जिनमें राज्य लौटा लेने की शक्ति हो, उन्हे या तो खतरे वाले प्रदेशों में बसाना या उन्हे गुणवती भूमि का चौथा भाग और निश्चित सेना देने का आश्वासन दे पौर जनपदों से उनका संघर्ष करा उन्हे मरवा डालना।

१० उनके धार्मिक नियमों मे हस्तक्षेप न करना। आधार्मिक नियमों को यदि प्रचलित हैं तुरन्त हटा देना।

११. साम्राज्य भक्त लोगों को नव विजित देशों मे बसाना। इसी प्रकार ग्राम सभाओं तथा नगर संस्थाओं के वैदिक कालीन प्रजातन्त्रात्मक रूप को भी विकृत करने के लिये चाणक्य ने सुझाव दिये हैं।

चाणक्य ने सघों की शक्ति तोड़ने के कुछ और भी उपाय बताये हैं जैसे, संघो के परस्पर ईर्ष्या, द्वेष और कलह के स्थानों को खोजकर उनका पूर्ण लाभ उठाना और सधागों में फूट डालना। संघों की छावनियों और अटवियों को भी फूट द्वारा तोड़ना। पापिनी अथवा व्यभिचारिणी स्त्रियों तथा उच्चकों द्वारा संघों का नाश करना।

इस प्रकार नीच से नीच उपायों द्वारा जहाँ एक ओर ग्राम, नगर, जनपद तथा संघीय संस्थाओं के नाश का चुपचाप उपाय किया जा रहा था, वहाँ दूसरी ओर जनता के सामूहिक जीवन पर भी सम्राटों की कड़ी निगाह थी। निठल्ले, परभोजी, नट, नर्तक तथा गायक-वादक आदि के संघों पर भी नियन्त्रण था (अर्थ शास्त्र), क्योंकि वे तुच्छ बातों पर साम्राज्य व्यापी असन्तोष फैला सकते थे। वानप्रस्थ तथा सन्यासियों के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार का संघ सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था। अर्थ शास्त्र इनके न बनने देने का सुझाव देता है। इसका एक कारण भी था। बहुत से निकम्मे तथा निठल्ले

लोग साधुओं के सम्प्रदाय में मिलकर राष्ट्र के लिए एक समस्या बन गये थे। इसके अतिरिक्त अन्य भी बहुत से कृतिम संघ भारतीय समाज में तारों से उदय हो चुके थे और ये राष्ट्र के ऊपर भार बन गये थे। किन्तु चाणक्य की नीति केवल इन हानिकारक तत्वों के नाश की ही नही प्रतीत होती, उसका उद्देश्य तो जनता के सामूहिक जीवन को कुचलना ही विदित होता है। सम्भवतः चाणक्य को इन संघों मे शत्रु-गुप्तचरो के दर्शन होते थे और इनसे राष्ट्र को हानि पहुंचने की सम्भावना थी।

इस प्रकार मौर्य काल मे प्रजापक्ष तथा राजपक्ष का भयंकर संघर्ष चल रहा था। प्रजा की सामूहिक तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर कठोर नियन्त्रण के साथ ही उसकी प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओ का नाश कर राजसत्ता की स्थापना का प्रयास चन्द्रगुप्त तथा बिन्दुसार के अन्तर्गत मौर्य शासन-प्रणाली का उद्देश्य था। सम्पूर्ण देश मे एकता की स्थापना की ओट से इसी राजसत्ता की स्थापना का प्रयास किया जा रहा था। यद्यपि कि एक राज्य मे रहने के कारण विभिन्न जनपदों मे अधिक से अधिक एकरूपता उत्पन्न होते जाना स्वभाविक ही था, फिर भी उनका व्यक्तित्व तथा उनकी प्रजातन्त्रात्मक परम्पराओं का हनन अनायास ही सम्भव न था। मेगस्थनीज का विवरण इसका प्रमाण है। उससे प्रजापक्ष के यथेष्ट अधिकारों तथा उनकी प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं के अस्तित्व पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। तक्षशिला के पौरों का विद्रोह तथा अशोक द्वारा आमात्यों और पौरों की संयुक्त बैठक बुलाया जाना भी प्रजा की शक्तियों का परिचय है। अतः विदित है कि मौर्य शासक भारतीय प्रजा के सामूहिक जीवन तथा स्वाधीनता की चेष्टाओं का हनन करने मे सफल न हुये थे और उन्हें अपनी सत्ता की स्थापना के लिये इन शक्तियों से समझौता करना पड़ा था।

इस संघर्ष तथ समझौते के निष्कर्ष से कुछ विद्वान सहमत नहीं। वे मौर्य शासन प्रणाली मे केवल प्रजापक्ष का ही दर्शन करते हैं। विभिन्न नागरिक संस्थाओं की शक्तियों के मौर्य शासको द्वारा तोड़े जाने के प्रयास को व श्रेणियों के संगठन को राजकीय प्रोत्साहन दिये जाने का उल्लेख कर निर्मूल सिद्ध करने का थोथा प्रयास करते हैं। प्रजापक्ष तथा राजपक्ष के संघर्ष का अस्तित्व तो उपर्युक्त विवरण से स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है, रही श्रेणियों के संगठन की समस्या, उसके प्रति मौर्यों की आर्थिक नीति का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

मौर्य शासकों को भारत की अकृतिम एकता की स्थापना के लिए एक

शक्तिशाली सेना की आवश्यकता थी, और सेना के लिये कोष की। राज्य की अधिकतर आय देश के व्यापार पर निर्भर थी और देश का व्यवसायिक जीवन श्रेणियों (शिल्पियों के समूहों) के संगठन पर। इन श्रेणियों की शक्ति उसी समय नष्ट की जा सकती थी जब राज्य की ओर से राज्य-अधिकारियों द्वारा व्यवसाय का संगठन किया जाता। किन्तु यह कार्य देखने में जितना सुगम है उतना कार्यरूप में नहीं। आज भी राष्ट्र व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण करने में असमर्थ हैं। अतः राष्ट्र की आर्थिक शक्ति दृढ़ करने के लिये ही श्रेणियों को प्रोत्साहन दिया गया। इन श्रेणियों के पास अपने व्यापार की रक्षा के लिये निजी सेना भी होती थी, क्योंकि इन्हें दूरस्थ प्रदेशों मे व्यापार के लिये जाना पड़ता था। अर्थशास्त्र इस श्रेणीबल का उल्लेख करता है और इसे मित्रबल मे अच्छा बताता है। राष्ट्र की आवश्यकता के समय राजकीय सेना का मित्रबल के साथ श्रेणीबल भी एक अंग होता था (अर्थशास्त्र)। किन्तु यह सब शक्ति श्रेणियों को इसीलिये प्राप्त थी कि वे राज्य की आय के महत्वपूर्ण साधन थे, इसलिये नहीं कि मौर्य शासकों की नीति नागरिक संस्थाओ को प्रोत्साहन देने की थी। इस क्षेत्र मे भी मौर्य शासक सतर्क थे। अप्रत्यक्ष रूप से श्रेणियो के ऊपर भी उन्होंने अपना नियन्त्रण स्थापित कर रखा था। जहाँ एक ओर उन्होंने शिल्पियों की रक्षा के लिये कठोर नियम बनाये थे और उन्हें राजकीय संरक्षण प्रदान किया था, वहाँ उन्होने खानों का राष्ट्रीयकरण कर कच्चे माल पर राजकीय नियन्त्रण स्थापित कर दिया था। व्यवसाय कच्चे माल पर ही निर्भर है, अतः श्रेणियाँ भी व्यापार के लिये राजकीय सत्ता पर निर्भर होगई थी। श्रेणियो के कारखानों के समान राजकीय कारखानों की स्थापना तथा दैनिक जीवन की वस्तुओं का मूल्य नियन्त्रण यदि श्रेणियों पर अप्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण नही तो और क्या है? राज्य की ओर से व्यापारी जहाज भी चलते थे जो भाड़े पर व्यापारियों का माल ले जाते थे। श्रेणियो के भी अपने जहाज थे किन्तु उन पर यात्रियों की रक्षा का दायित्व राज्य के ऊपर था। यदि सूक्ष्म रूप से इन सबका अध्ययन किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि इन सब कार्यों द्वारा मौर्य शासकों के दो उद्देश्य थे।

१. श्रेणियों को जिनपर युग के व्यवसायिक जीवन का ढाँचा निर्भर था, राज्य की आर्थिक दृढ़ता के लिये प्रोत्साहन देना।

२. श्रेणियों को राजकीय सत्ता के अंतर्गत बनाये रखने के लिये उन पर नियन्त्रण रखना।

इस प्रकार मौर्य शासकों का श्रेणियों को प्रोत्साहन, उनके द्वारा प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं को प्रोत्साहन देना नहीं माना जा सकता, यह तो उनकी आर्थिक नीति का अंग था। वास्तव मे मौर्य शासकों का उद्देश्य प्रजातन्त्रात्मक शक्तियों का नाश करना था, किन्तु उनकी शक्ति के कारण उन्हें फूंक-फूंक कर कदम रखना पड़ता था, और इन शक्तियों को कभी-कभी अपने ऊपर नियन्त्रण रखने वाली शक्तियों के रूप मे भी स्वीकार करना पड़ता था।

अशोक के शासनकाल मे भी प्रजापक्ष तथा राजपक्ष का संघर्ष निरन्तर चलता रहा। तक्षशिला के पौरों का विद्रोह इस सत्य का प्रमाण है। इस संघर्ष के साथ ही अशोक की नीति भी सदैव प्रजापक्ष की शक्तियो के दमन करने की रही। अशोक ने इन शक्तियो का दमन करने के प्रति जिन उपायों का प्रयोग किया उन्हें दो भागों मे विभाजित कर सकते है :—

(क) बौद्ध धर्म ग्रहण करने से पूर्व।

(ख) बौद्ध धर्म ग्रहण करने के पश्चात्।

बौद्ध धर्म ग्रहण करने से पूर्व अशोक ने शक्ति पर आधारित उन्ही अनैतिक तथा कूटनीतिक नियमों का प्रगोग किया जिन्हे राजनीतिक स्तर पर चाणक्य ने न्याय संगत ठहराया था। इस काल मे वह एक उग्र साम्राज्यवादी भी था। कलिंग की विजय इसका प्रमाण है।

बौद्ध धर्म ग्रहण करने के पश्चात् अपने परिवर्तित दृष्टिकोण के कारण उसने प्रजापक्ष की शक्तियों का दमन करने के प्रति चाणक्य के नियमों के स्थान पर क्षमा, करुणा, दया तथा प्रेम पर आधारित मानवीय नियमों का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। इससे यह तात्पर्य नही कि उसने शक्ति का प्रयोग भी पूर्णतया त्याग दिया। इस सम्बन्ध मे उसकी नीति एक ऐसे संयमित तथा नियन्त्रित साम्राज्यवादी की नीति थी जो शक्ति का प्रयोग नवीन स्वतंत्र देशों की विजय के प्रति तो करना ही नही चाहता, साथ ही अपने साम्राज्य में साम्राज्य विरोधी तत्वों का नाश करने के लिये भी उसी दशा में शक्ति का प्रयोग करने का पक्षपाती है जब सभी मानवीय उपाय असफल हो जायें। शि० ले० १३ अशोक के इस परिवर्तित रूप को पूर्णतया चित्रित कर देता है। इस लेख में अशोक जहाँ प्रत्यक्ष रूप से नवीन देशों की विजय के प्रति शक्ति का प्रयोग न करने की स्पष्ट घोषणा करता है वही अप्रत्यक्ष रूप से निरन्तर विद्रोह करने वाली आटविक जातियों को वह उसकी क्षमा तथा दया की नीति की अव-

हेलना कर, बुरे मार्ग से न हटने पर, शक्ति के प्रयोग से दमन करने का संदेश भी देता है।

अशोक के राज्यत्व सम्बन्धी विचार :—

अशोक के अन्तर्गत मौर्य साम्राज्य की नीति का अध्ययन करने के लिये, अशोक के राज्यत्व सम्बन्धी विचारों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। अशोक के लेख उसके राज्यत्व सम्बन्धी विचारों पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। अशोक अपने को साम्राज्य का निरंकुश शासक नही मानता। प्रचलित परम्पराओं के विरुद्ध वह अपने को सम्राट भी नहीं कहता। उसके लेख इसकी पुष्टि करते हैं। इन लेखों मे उसे कही भी सम्राट के नाम से सम्बोधन नही किया गया। केवल मास्की के वैराट शिलाभिलेख, जहाँ 'अशोक' नाम का प्रयोग हुआ है। तथा मध्य प्रदेश के दतिया जिले मे गुजर्रा नामक ग्राम के निकट पाये गये एक शिलाभिलेख, जहाँ अशोक को "देवांनपियस पियदसिनो अशोक राजस" के रूप में सम्बोधन किया गया है, के अतिरिक्त अन्य सभी लेखों में अशोक के प्रति 'प्रिय दर्शिन' अथवा 'देवानाप्रिय प्रियदर्शी' नाम का प्रयोग हुआ है। इसका कारण अशोक की वह भावना ही कही जा सकती है जिसमें जनता पर सम्राट के पद का प्रभुत्व लादने की इच्छा के विरुद्ध 'देवताओं के प्रिय' तथा 'देखने में प्रिय' बनने की कामना निहित है। सम्भवतः अशोक द्वारा इन उपाधियों का ग्रहण चन्द्रगुप्त तथा बिन्दुसार कालीन सम्राट के भय पर आधारित आतंक को प्रेम तथा विश्वास पर आधारित श्रद्धा में परिणित करने का एक साधन था। देवताओं का प्रिय तथा देखने में प्रिय वही बन सकता है जो देवताओं के प्रतीक मानव का हितचिंतक हो। अशोक में यह भाव कूट-कूट कर भरा था। उसका उद्देश्य संपूर्ण मानव जाति का हित करना था और इस हित कामना में दो भाव निहित थे, शासन द्वारा प्रजा को इस लोक मे सुख पहुंचाना तथा परलोक में स्वर्ग प्राप्त करने के योग्य बनाना (शि० ले० ६)। 'कल्याणं द्रकुलें' (कल्याण करना कठिन है) के सत्य से अशोक परिचित था और इसी कारण वह सदैव अपने अधिकारियों को कल्याण मार्ग का दिग्दर्शन कराया करता था। तोषाली के महामात्यों तथा नगर व्यवहारिकों को ईर्ष्या, निठल्लेपन, निष्ठुरता, त्वरा, अनाभ्यास, आलस्य तथा तन्द्रा त्यागकर जनता के साथ पक्षपात रहित व्यवहार करने का निश्चयात्मक आदेश (कलिंग शि० ले० १) इस मत की पुष्टि करता है। व्यवहार समता तथा दण्ड समता (स्तम्भ लेख ४) के सिद्धान्तों पर आधारित साम्राज्य, का सञ्चालक अशोक,

अलाउद्दीन के समान काजी से यह नही पूछता कि हिन्दुओं का मुसलमानी शासन में क्या स्थान है, किन्तु वह सभी धर्मो का आदर करता है। वह किसी भी धर्म का अपमान नही चाहता। दूसरे धर्मों की अकारण निन्दा करने वालों को वह अपने धर्म की हानि करने वाला मानता है (शि० ले० १२)। उसने धर्म महामात्रों की नियुक्ति सभी धर्मानुयायिओ के हितचिंतन के लिये की (शि० ले० ५)। उसकी इच्छा थी कि सभी धर्मानुयायी उसके साम्राज्य मे जहाँ चाहे बसें (शि० ले० ७)। वह सभी को आवश्यकतानुसार दान देता है (शि० ले० १२)। अतः उसके शासन का आदर्श किसी निश्चित धर्म को प्रोत्साहन देना नहीं, वरन् समस्त जनता की हितकामना है। अशोक का यह हितचिंतन भी कोरे राजनीतिक सिद्धान्तों पर आधारित नही, इसका आधार पैतृक भावना है। अशोक सभी मनुष्यों को अपनी सन्तान के समान मानता है। वह रज्जुकों की नियुक्ति भी इसी कारण करता है कि वे जनता की देखभाल उसी प्रकार करें जिस प्रकार धाय अपने उत्तरदायित्व में सौंपे हुए शिशु की करती है। (स्त० ले० ४)। अशोक का यह आदेश उसके अधिकारियों का शासन करने के लिये नही, वरन् सेवा करने के लिये नियुक्त किये जाने का द्योतक है।

रज्जुकों तथा अन्य अधिकारियों की नियुक्ति से ही अशोक अपने उत्तरदायित्व की इति श्री नही कर देता, वह स्वयं प्रत्येक समय, प्रत्येक स्थान पर जनता का कार्य करने के लिये तत्पर रहता है (शि० ले० ६)। किन्तु यह सब क्यों? क्या इसका आधार केवल लोकप्रियता प्राप्त करना है? यदि केवल लोकप्रियता ही इसका कारण होता तो यह थोथा आदर्शवाद होता। इस सिद्धान्त के पीछे वह क्षणिक ज्योति होती जो पवन के एक झोंके मे ही—अपना अस्तित्व सदैव के लिये खो बैठती। लोकप्रियता तो अशोक के सिद्धान्तों का कारण नहीं परिणाम है। आधार तो अशोक का कर्तव्य से लिपटा राजपद है, उसका राज्यत्व सिद्धान्त है।

अशोक स्वयं को, प्रजा से ऊपर की कोई स्वामित्व की हिंसक भावना से लदी वस्तु नही मानता। वह राजा होने के नाते अपने को जनता का ऋणी मानता है (शि० ले० ६)। इस प्रकार स्वयं को जनता का ऋणी मानने का कारण जनता से प्राप्त करों का भोगी होना ही है। इसी ऋण से मुक्त होने के लिये वह दिन रात जनता के हितचिंतन में व्यस्त रहता है। इतना परिश्रम करने पर भी उसे संतोष नही होता (शि० ले० ६)। अपने इस अकथ परिश्रम का मूल्य भी वह अलाउद्दीन के समान सम्पत्ति के रूप में नहीं चाहता। वह

केवल जनता को इस लोक मे सुखी तथा परलोक मे स्वर्ग प्राप्त करने में समर्थ देखना चाहता है (शि० ले० ६)। अपने ही पुत्रों के समान इहलोक तथा परलोक दोनों मे जनता के सुख की अभिलाषा करना (कलिंग शि० ले० २) और केवल इसीको अपने जीवन अथवा राजपद का अंतिम ध्येय मान लेना (शि० ले० ६, उसके उन अमर सिद्धान्तों का प्रतीक है, जिसमे भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनो ही भावनाये, राजनीति के मानवीय आवरण मे अपने उच्चतम शिखर पर पहुच कर, एकता सूत्र मे बंध गई है। इन्ही तथ्यो के आधार पर यदि यह कहा जाय कि अशोक सम्पूर्ण साम्राज्य को अपने विलास तथा वैभव की वस्तु न मान कर, स्वयं को साम्राज्य के हितार्थ मानता है, और राजपद को इस महान् उद्देश्य की पूर्ति का साधन, तो भी अनुपयुक्त न होगा।

कुछ विद्वानो के अनुसार अशोक की राजसत्ता दैवी सिद्धान्त (Divine right) पर आधारित न थी। उसका आधार तो सामाजिक समझौते (Social Contract Theory) का सिद्धान्त है। दैवी सिद्धान्त के अनुसार राजा अपने कार्यों के लिये प्रजा के प्रति उत्तरदायी नही। वह केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी होता है क्योंकि ईश्वर ने ही उसे शासन करने के लिये उत्पन्न किया। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार राजा के अधिकार असीमित हैं और प्रजा के कर्त्तव्य। सामाजिक समझौते के अनुसार राजा केवल इसलिये राजा है क्योंकि प्रजा ने अपनी रक्षा का उतरदायित्व उस पर आधारित कर उसे शासन करने के लिये चुना है और इस कार्य के लिये कर देने की प्रतिज्ञा की है। अर्थात् सामाजिक समझौते का सिद्धान्त प्रजा तथा राजा के मध्य एक ऐसे समझौते का प्रतीक है जिसमे दोनों के ही कर्त्तव्य हैं तथा दोनों के ही अधिकार। प्रजा कर इसलिए देती है कि राजा प्रजा की रक्षा करे तथा उसके बहुमुखी विकास के साधन उपलब्ध करे। राजा यदि अपने कर्त्तव्यो का पालन नही करता उस दशा में प्रजा को राजा को पदच्युत कर दूसरा राजा चुनने का अधिकार है। इन दोनों ही सिद्धान्तों के अध्ययन से यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि अशोक की राजसत्ता दैवी सिद्धान्त पर आधारित न थी क्योकि वह स्वयं को ईश्वर द्वारा मनोनीत प्रजा पर शासन करने के लिये सम्राट् नही मानता। वह ईश्वर के प्रति भी अपने कार्यो के लिये उत्तरदायी नही, वह तो ईश्वर स्वरूप मानव की सेवा को ही जीवन का उद्देश्य मानता है। वह जो कुछ भी कार्य करता है केवल इसलिये कि मानव इस लोक मे सुख प्राप्त करें तथा परलोक मे स्वर्ग। अतः वह इस लोक को मृत्यु के उपरान्त आने वाले

जीवन की तैयारी का साधन मानता है। अशोक का यह सिद्धान्त वैदिक दर्शन पर आधारित है। वैदिक दर्शन के अनुसार मनुष्य का वास्तविक जीवन उसकी मृत्यु के उपरान्त प्रारम्भ होता है, यह जीवन तो उस महान् जीवन की तैयारी का केवल साधन है। इस प्रकार अशोक स्वयं को प्रजा के प्रति उत्तरदायी मानता है और इसी कारण वह दिन-रात प्रजा के हितचितन में व्यस्त रहता है, फिर भी उसे सन्तोप नही होता (शि० ले० ६)।

अशोक का सिद्धान्त सामाजिक समझौते का सिद्धान्त भी न था। सामाजिक समझौते का सिद्धान्त पूर्णतया प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली पर आधारित है। इसके अनुसार राज्य किसी एक व्यक्ति विशेष की सामग्री नही, जिसे अपने पश्चात् राज्य अपने पुत्रो तथा पौत्रो को दे जाने का अधिकार हो। राजा का चुनाव प्रजा पर निर्भर है। अशोक शिलाभिलेख १३ में अपने पुत्रों तथा पौत्रों को अपने पश्चात् नये राज्यो को न जीतने का निर्देश करता है। वह उन्हे शान्ति, लघुदण्डता तथा धर्मविजय की नीति अपनाने की शिक्षा देता है। अशोक का यह कथन, उसके पुत्रों तथा पौत्रों को ही उसके राज्य का अधिकारी मानकर, राज्य को उसके वंश-परम्परानुगत अधिकार की वस्तु मानने को बाध्य कर देता है। यह विचार सामाजिक समझौते के सिद्धान्त से पूर्णतया विरुद्ध है। अतः अशोक राजपद को किसी एक समझौते का परिणाम नही मानता। सामाजिक समझौते के सिद्धान्त मे एक व्यक्ति विशेष की इच्छा के विरुद्ध प्रजा की सामूहिक इच्छा का अत्यधिक महत्व है। अतः एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को विजय कर, विजित राज्य की प्रजा को उसकी भावनाओं की अवहेलना कर शक्ति से आधीन करना इस सिद्धान्त के विरुद्ध है। यद्यपि अशोक ने भी बौद्ध धर्मावलम्बी बन जाने पर रणभेरी के स्थान पर धर्म-घोप द्वारा देश-विजय करने का दृढ़ निश्चय कर लिया (शि० ले० ४), और उसने अपने पुत्रों तथा पौत्रों को भी इसी नीति के अपनाने की शिक्षा दी (शि० ले० १३), किन्तु उसकी यह नीति जितनी उसकी मानवोचित भावनाओं के अन्तर्गत अहिंसा तथा विश्व-बन्धुत्व के सिद्धान्तों पर आधारित है उतनी ही उसके राजनीतिक सिद्धान्तों पर भी। युद्ध की आवश्यकता तो उस समय होती है जब अविजित राज्य मित्रतापूर्ण ढंग से आधीनता स्वीकार न करे अथवा प्रभाव के अन्तर्गत आज्ञा-पालन के लिये तत्पर न रहें। और फिर केवल युद्ध ही विजित राज्य को आधीन नही बना देता। युद्ध तो उस राज्य में स्थान प्राप्त करने तथा प्रभाव का आंतक फैलाने का साधन मात्र है। वास्तविक अधिकार की प्राप्ति तो युद्ध

के उपरान्त विजित राज्य की प्रजा के साथ सहानुभूति तथा सहृदयता के प्रदर्शन के साथ आरम्भ होती है। इस सहानुभूति तथा सहृदयता मे जितनी ही अधिक मानवीय आत्मतीयता होगी उतना ही अधिक विजित प्रजा का विश्वास प्राप्त होगा और जितना ही अधिक विश्वास प्राप्त होगा उतना ही अधिकार बलिष्ठ होगा। राजनीति के इस दुर्लभ सिद्धान्त से अशोक पूर्णतया परिचित था और उसकी धर्म-विजय की नीति राजनीतिक स्तर पर इसी सिद्धान्त पर आधारित थी। इस दृष्टिकोण से अशोक के विदेशो मे चिकित्सालयो को यदि उसका प्रभाव फैलाने वाले अथवा धर्म-विजय की पृष्ठभूमि तैयार करने वाले केन्द्र माना जाय तो भी अनुचित न होगा, यद्यपि अशोक के इस कार्य मे निहित उसके सरल हृदय की मानवोचित विश्व-बन्धुत्व की भावना को भी स्वीकार करना पड़ेगा। आजका युग भी अशोक की, इसी देशो की विजय की नीति का अनुसरण कर रहा है। अन्तर केवल भावनाओं का है। जहाँ अशोक की नीति का आधार उसकी स्पष्टवादिता तथा विश्व-बन्धुत्व की भावना थी, वहाँ आज की नीति का आधार धूर्तता तथा स्वार्थपरिता है। यही कारण है कि अशोक अपनी नीति मे सफल हुआ था और आज का युग असफल हो रहा है।

अतः स्पष्ट है कि अशोक एक सधा हुआ साम्राज्यवादी था। साम्राज्य-वाद और सामाजिक समझौते के सिद्धान्तों मे पूर्ण विरोध है। इस प्रकार अशोक की राजसत्ता को सामाजिक समझौते के सिद्धान्त पर आधारित कहना भूल होगी।

अशोक के विचारों तथा कार्यों के अध्ययन से तो यही निष्कर्ष निकलता है कि उसके राजसत्तात्मक सिद्धान्त का दैवी सिद्धान्त तथा सामाजिक समझौते के सिद्धान्त के मिश्रण मे निर्माण हुआ है। राज्य पर उसके अधिकार की दृढ़ता दैवी सिद्धान्त की प्रतीक है तथा उसके वचनों और कार्यों मे प्रजापक्ष की प्रधानता सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की परिचायक है। अशोक की यह विचार-धारा युग की राजनीति को एक नवीन तथा अमर देन है। यदि अशोक के इसी राजसत्तात्मक सिद्धान्त का अनुसरण शताब्दियो बाद तक आने वाले विश्व के शासकों ने किया होता तो कदाचित् इग्लैण्ड, फ्रांस आदि देशों के इतिहास मे राजपक्ष तथा प्रजापक्ष के उन भयंकर संघर्षो के दर्शन न होते, जहाँ निरीह मानवों का क्रन्दन सुनकर आज भी संसार कांप उठता है।

सम्राट के रूप में अशोक की शक्तियाँ:—

अशोक के यही राज्यत्व सम्बन्धी सिद्धान्त उसे निरंकुश शासकों की श्रेणी मे न रख मानवीय तथा प्रजातन्त्रात्मक शासकों की श्रेणी में खड़ा कर देते हैं। जहाँ चन्द्रगुप्त तथा बिन्दुसार का उद्देश्य साम्राज्य मे सैनिक बल की शक्ति पर केवल शांति ही स्थापित करना था, उन्हें जनता के स्वार्थों का वहीं तक ध्यान था जहाँ तक जनता के स्वार्थ उनके व्यक्तिगत स्वार्थों से न टकराने पायें, वहाँ अशोक का उद्देश्य जनता के स्वार्थों को ही अपना स्वार्थ मानकर उनका हित चितन करना था। सैनिक शक्ति द्वारा निर्मित आतंक की क्षमता और उसकी क्षणभंगुरता से वह भलीभाँति परिचित था और इसलिये प्रेम तथा करुणा पर आधारित अपनी शासन नीति द्वारा उसने प्रजा के हृदयों पर विजय प्राप्त करने का सफल प्रयास किया। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि अशोक की शासन प्रणाली पूर्णतया प्रजातन्त्रात्मक ढंग पर आधारित थी। वास्तव मे शासन की सम्पूर्ण सत्ता अशोक मे निहित थी। शासन प्रबन्ध के नियम बनाना, अधिकारी वर्ग की नियुक्ति तथा उनके कार्यों की देख भाल करना उसी के अधिकार मे था। साम्राज्य का गुप्तचर विभाग उसी के निरीक्षण में कार्य करता था, और प्रत्येक अधिकारी तथा प्रजा के कार्यों की सूचना उसे देता था। युद्ध तथा सन्धि करने का केवल उसी को अधिकार था। साम्राज्य का अशोक सर्वोच्च न्यायाधीश तो था ही, साथ ही देश की आन्तरिक तथा वाह्य नीति का निर्धारण तथा बाहरी देशों मे दूतों की नियुक्ति करने वाला भी वही था। इस प्रकार सम्राट् की शक्तियाँ असीमित थी। सम्राट की ये असीमित शक्तियाँ उसे निरंकुश शासक का रूप प्रदान कर देती हैं। तो क्या अशोक एक निरंकुश सम्राट् था ? अशोक को एक निरंकुश सम्राट् के समान शक्तियाँ अवश्य प्राप्त थी, किन्तु इन शक्तियों के प्रयोग मे वह पूर्ण स्वतन्त्र न था। उस पर मंत्रि परिषद का महत्वपूर्ण नियन्त्रण था। मंत्रि परिषद की यह नियन्त्रणात्मक शक्ति इस संस्था का अध्ययन अनिवार्य कर देती है।

मन्त्रि-परिषद :—

प्राचीन भारतीय परम्पराओं के अनुसार मन्त्रि-परिषद प्रशासनीय स्तर पर सम्राट की सहायता करने वाली सर्वाधिक महत्वपूर्ण केन्द्रीय संस्था थी। शि० ले० ६ में 'परिसा' के रूप में अशोक ने इसी मन्त्रि-परिषद का उल्लेख किया है। अशोक की यह परिषद पूर्णतया प्रजातन्त्रीय संस्था थी अथवा केवल परामर्श देने वाली संस्था, प्रमाणों के प्रभाव से कहना कठिन है। किन्तु इतना

तो निश्चित सा ज्ञात होता है कि इस परिषद का निर्माण आधुनिक मन्त्रि-मण्डलों के समान प्रजा द्वारा नहीं होता था। श्री जायसवाल के अनुसार परिषद में पौर जनपदों के केवल कुछ विशेष प्रतिनिधि होते थे, किन्तु यह मत भी पूर्णतया स्वीकार नही किया जा सकता। सम्भव है किसी विशेष पौर-जनपद के प्रतिनिधि परिषद में ले लिये जाते हों। सत्यता तो यही प्रतीत होती है कि परिषद के सदस्यों का चुनाव राजा की इच्छा पर ही निर्भर था। यह मत परिषद को केवल एक परामर्शदायक संस्था के रूप मे प्रस्तुत कर देती है। किन्तु अशोक के शिलाभिलेखों से प्रमाणित है कि परिषद केवल परामर्शदायक संस्था ही न थी, उसकी अपनी स्वय की सत्ता भी थी और अपनी इसी सत्ता के कारण वह अशोक पर नियन्त्रण रखने का भी कार्य करती थी। शिलाभिलेख ६ इस नियन्त्रण के सत्य का प्रमाण है। इसमे अशोक का कथन है "यदि मैं स्वयं अपने मुख से आज्ञा दूँ कि [अमुक] दान दिया जाय या [अमुक] काम किया जाय या महामात्रों को कोई आवश्यक आज्ञा दी जाय और यदि उस विषय मे कोई विवाद उनमें उपस्थित हो या मंत्रिपरिषद उसे अस्वीकार करे तो मैंने आज्ञा दी है कि फौरन ही हर घड़ी और हर जगह मुझे सूचना दी जाय .....(शि० ले० ६)। अशोक का यह कथन पूर्णतया प्रमाणित कर देता है कि मन्त्रि परिषद को अशोक की आज्ञाओं तथा कार्यों पर नियन्त्रण रखने का अधिकार था और सम्भवतः मंत्रिपरिषद की स्वीकृत के उपरान्त ही राजकीय आज्ञाये पूर्ण मानी जाती थी।

इसी नियन्त्रण के सत्य का दूसरा प्रमाण अशोकावदान की एक कथा मे भी प्राप्त हो जाता है। इस कथा के अनुसार अशोक कुर्कुटाराम विहार को धन दान करना चाहता था किन्तु मंत्रि-परिषद इस दान के विरुद्ध थी। उस समय कुणाल का पुत्र अथवा अशोक का पौत्र सम्प्रति युवराज था। मंत्रि-परिषद ने सम्प्रति द्वारा भाण्डागारिक को राजकोष से धन न दिये जाने की आज्ञा प्रेषित करवा दी। परिणामस्वरूप विहार को अशोक की इच्छानुसार धन न दिया जा सका। धन देने के सम्बन्ध मे मंत्रिपरिषद की इच्छा का आधार धार्मिक न होकर आर्थिक था। मंत्रिपरिषद के अनुसार राज्य की शक्ति कोष पर ही आधारित थी और अशोक धार्मिक आवेश में दान द्वारा कोष को रिक्त कर राज्य को शक्तिहीन बना रहा था। अतः राज्य के हित मे मंत्रिपरिषद का सफल विरोध मंत्रिपरिषद की शक्ति तथा उसकी जनतन्त्रात्मक क्रियाओं का ही परिचायक है।

इस कथा तथा इसके द्वारा मत्रिपरिषद का अशोक पर नियन्त्रण करने के सम्बन्ध मे विद्वानों के विभिन्न मत है। यदि कुछ विद्वान इस कथा को अशोक

पर मंत्रिपरिषद की नियन्त्रणात्मक शक्ति का प्रमाण मानते हैं तो कुछ विद्वान इस सत्य को स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं। इन विद्वानों के अनुसार दिव्यावदान की कथा मंत्रिपरिषद का अशोक पर नियन्त्रण करना प्रमाणित नहीं करती। अपने मत की पुष्टि के लिये वे दो प्रमाण देते हैं :—

(१) मंत्रिपरिषद ने सम्प्रति द्वारा धन न दिये जाने की आज्ञा प्रेषित कराई। यदि मंत्रिपरिषद को नियन्त्रण की शक्ति होती तो वह स्वयं ही सम्राट् की आज्ञा की अवहेलना कर सकती थी।

(२) दिव्यादान की इसी कथा के साथ अशोक द्वारा आमात्यों की बैठक बुलाये जाने की कथा भी जुडी है। अशोक ने उसकी इच्छानुसार धन न दिये जाने पर आमात्यों तथा पौत्र को बुलाकर पूछा "इस समय राज्य का स्वामी कौन है" ? आमात्यो ने उत्तर दिया "राज्य के स्वामो आप है" ! इस पर अशोक ने आँसू बहाते हुये कहा "मुझसे तो राज्य छीन लिया गया है।" इस कथा के आधार पर कुछ विद्वान यह मान बैठे हैं कि अन्तिम समय मे अशोक सम्प्रति द्वारा पदच्युत कर दिये गये थे और इसीलिये मंत्रिपरिषद को अशोक की आज्ञा का विरोध करने का साहस हुआ था और वह भी सम्प्रति को माध्यम बनाकर।

किन्तु विद्वानो का यह मत भ्रमात्मक है। यह अवश्य है कि मंत्रिपरिषद ने सम्प्रति के द्वारा धन न दिये जाने की आज्ञा प्रेषित कराई किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि मंत्रिपरिषद की अपनी शक्ति कोई न थी। सम्प्रति की आज्ञा की शक्ति तो मंत्रिपरिषद का समर्थन ही था। अशोक भी इस सत्य से परिचित था। यदि इस आज्ञा के पीछे केवल सम्प्रति की ही शक्ति होती तो अशोक आमात्यों की बैठक बुलाकर उनसे अपनी सत्ता सम्बन्धी प्रश्न न करता। और फिर यदि मंत्रिपरिषद की शक्ति केवल दिखावे की ही शक्ति होती तो अशोक मंत्रिपरिषद की इच्छा पर आधारित सम्प्रति की आज्ञा का खण्डन भी कर सकता था। किन्तु जैसा कि कथा से प्रमाणित है अशोक ने अपनी शक्ति द्वारा आज्ञा का खण्डन करने का प्रयास नही किया, वरन् आमात्यों तथा पौत्र की बैठक बुलाकर उनसे अपनी सत्ता सम्बन्धी प्रश्न किये और भावनाओं द्वारा अपनी इच्छा पूर्ण कराने का प्रयास किया। अतः स्पष्ट है कि अशोक की मंत्रिपरिषद केवल दिखावे की न थी वरन् उसके पास सम्राट पर नियन्त्रण करने की भी शक्ति थी। मंत्रिपरिषद की इस शक्ति का प्रमाण स्वयं अशोक का सिंहासनारोहण है। बिन्दुसार अशोक के पक्ष में न था और उसकी इच्छा सुमन को सम्राट् बनाने की थी किन्तु मंत्रिपरिषद सुमन के विरुद्ध अशोक के पक्ष में थी।

परिणामस्वरूप अशोक ही सिंहासन प्राप्त करने में सफल हुआ। सम्भवतः अशोक भी इस सत्य को न भूला था और इसी कारण उसने भी मंत्रिपरिषद की इच्छा का खण्डन करने का प्रयास नही किया। मंत्रिपरिषद की इस शक्ति को देखते हुये मंत्रिपरिषद का सम्प्रति को माध्यम बनाना अवश्य एक समस्या है। सम्भवतः अशोक की महानता तथा उसके महान् कार्यो के समक्ष मंत्रिपरिषद को उसका प्रत्यक्ष विरोध करने का साहस न था और फिर जिस कार्य का विरोध करना था वह कार्य भी निष्ठुरता पर आधारित न होकर मानवोचित भावनाओ पर आधारित था। इसके अतिरिक्त अशोक के समय की अधिकांश प्रजा बौद्ध-धर्म की अनुयायी थी और अशोक की यह आज्ञा भी बौद्ध-धर्म सम्बन्धी कुर्कुटाराम के विहार को धन दान देने की थी। मंत्रिपरिषद में सभी अमात्य बौद्ध-धर्मानुयायी न थे। उनमे से अधिकांश ब्राह्मण धर्म के मानने वाले थे। अतः मंत्रियों को भी सम्भवतः इस आज्ञा का विरोध करने मे बौद्ध भारत के विरोध का भय था। इसी धार्मिक संघर्ष को बचाने के लिये सम्भवत. मंत्रिपरिषद ने सम्प्रति को अपना माध्यम बनाया था। राजनीतिक स्तर पर मंत्रिपरिषद का यह कार्य पूर्णतया न्यायसंगत प्रतीत भी होता है। यदि मंत्रिपरिषद चाहती तो वह स्वय भी प्रत्यक्ष रूप से सम्राट की आज्ञा का खण्डन कर सकती थी और इस कार्य का स्वयं अशोक के शि० ले० ६ द्वारा उसका अधिकार प्रमाणित है ही, किन्तु मंत्रिपरिषद का यह कार्य न करना समय की राजनीति तथा उसकी दूरदर्शिता का ही प्रमाण है।

जहाँ तक दूसरे प्रमाण का प्रश्न है, उसके लिये इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि सम्राट् का पदच्युत किया जाना अन्य किसी भी साधन से प्रमाणित नही होता। स्वय यह कथा भी अशोक का पदच्युत किया जाना प्रमाणित नही करती। जिन विद्वानों ने इस कथा के आधार पर ही अशोक का पदच्युत किया जाना स्वीकार कर लिया है, उन्होंने सम्भवतः अशोक के शब्दों मे छिपे व्यंग की पूर्णतया अवहेलना कर दी है। अशोक का प्रश्न "इस समय राज्य का स्वामी कौन है ?" व्यंग का परिचायक है। वह मंत्रियों से कहलाना चाहता है कि राज्य का स्वामी अशोक है और अशोक की आज्ञा का उल्लंघन कर उन्होंने सम्राट् का अपमान किया है। इसके उपरान्त अशोक के शब्द कि मुझसे तो राज्य छीन लिया गया है, उसके प्रथम व्यंग के ही पूरक है। प्रथम प्रश्न के उत्तर मे आमात्यों ने कहा था कि राज्य के स्वामी आप ही हैं। इसी उत्तर के साथ अशोक के इन शब्दों का अध्ययन करना चाहिये। इस प्रसंग मे अशोक के शब्दों "मुझसे

तो राज्य छीन लिया गया है" का अर्थ यह नही लगाया जा सकता कि वह पद्च्युत कर दिया गया था, इसका तो केवल यही अर्थ लगाया जाना चाहिये कि अशोक ही साम्राज्य का सम्राट् था और मंत्रिपरिषद द्वारा उसकी आज्ञा के खण्डन किये जाने पर ही उसने अपनी सत्ता के छीने जाने का व्यंग किया था। अशोक के इस अवसर पर आँसू भी अपना ही महत्व रखते है। अशोक की आँखों मे आँसुओं के कारण, उसका सिहासन से पद्च्युत किया जाना स्वीकार कर, विद्वानों ने अशोक के साथ महान् अन्याय किया है। 'ऐश्वर्य धिगनार्य'—ऐश्वर्य के लिये धिक्कार-के सिद्धान्त को मानने वाला अशोक साम्राज्य पर शासन करने के लिये चितातुर न था। उसके जीवन का उद्देश्य तो मानव जाति की सेवा करना था। बुद्ध-संघ तो उसके जीवन का प्रण ही था। अतः उसके आँसुओं का कारण उसकी वह भावना है जिसे कुर्कुटाराम-विहार को धन न दिये जाने पर भयंकर ठेस पहुंची थी।

कुछ विद्वानों ने अशोक को पद्च्युत किया गया स्वीकार कर उसकी तुलना बिम्बसार तथा शाहजहाँ से की है और उन्ही के समान उनके आँसुओं से अशोक के आँसुओं का भी चित्रण किया है। किन्तु जैसा ऊपर सिद्ध किया जा चुका है अशोक न तो पद्च्युत ही किया गया था और न उसके आँसुओं में उस ऐश्वर्य की कामना थी जिसके बिम्बसार और शाहजहाँ इच्छुक थे। और फिर यदि अशोक पद्च्युत कर दिया गया होता तो उसे भी इन दोनों ही सम्राटों के समान कारागार में जीवन की अन्तिम घड़ियाँ व्यतीत करनी पड़तीं और वह आमात्यों की बैठक बुलाने का स्वप्न मे भी विचार न कर पाता, और आमात्य भी उसे कभी सम्राट स्वीकार न करते। विद्वानों के मस्तिष्क मे, अशोक के पद्च्युत किये जाने का विचार उठने का कारण सम्भवतः अशोक की आज्ञाओं का विरोध किये जाने का यह प्रथम लिखित प्रमाण ही है। किन्तु यह प्रमाण भी प्रथम नही माना जा सकता। उसकी आज्ञाओं के विरोध करने का अधिकार मन्त्रिपरिषद को था, इसका उल्लेख स्वयं अशोक ने शि० ले० ६ मे कर दिया है। अतः यह विरोध कोई नवीन वस्तु नही, किन्तु इसी विरोध के उल्लेख का कारण केवल इस आज्ञा का बौद्ध-धर्म से सम्बन्धित होना ही है। यद्यपि शि० ले० ६ में अशोक ने केवल मौखिक आज्ञाओं के विरोध की सम्भावनाओं का उल्लेख किया है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मंत्रिपरिषद को केवल मौखिक आज्ञाओं के विरोध करने का ही अधिकार था। इसका अर्थ तो यही लगाया जाना चाहिये कि सम्राट की लिखित आज्ञायें मंत्रिपरिषद के समर्थन के बाद ही प्रेषित होती थीं और मौखिक

आज्ञाये जो आवश्यकतानुसार सम्राट द्वारा प्रेषित की जाती थी और जिन पर मंत्रिपरिषद का मत प्रथम ही प्राप्त नही किया जा पाता था, उनपर भी आज्ञाओं के प्रेषित होने के उपरान्त मंत्रिपरिषद विचार करती थी और उसके समर्थन के उपरान्त ही वे मौखिक आज्ञायें भी पूर्ण हो पाती थी।

अतः स्पष्ट है कि अशोक की मंत्रिपरिषद केवल दिखावे की संस्था न थी। उसमे शक्ति थी और सम्राट पर नियन्त्रण करने की अनोखी क्षमता। मंत्रिपरिषद की निन्यत्रणात्मक शक्ति की सत्यता पर विश्वास कर लेने के उपरान्त एक समस्या और उठ खड़ी होती है। मंत्रिपरिषद प्रजा द्वारा निर्वाचित संस्था न थी फिर इसकी शक्ति का श्रोत क्या था ? इस सम्बन्ध में यह तो माननीय है ही कि मंत्रिपरिषद का चुनाव स्वयं सम्राट् करता था और उसका अस्तित्व भी उसी की इच्छा पर निर्भर था। किन्तु वैदिककालीन तथा जनपद युग की परम्पराये अभी भी अपने धूमिल आकार मे जीवित थी। मंत्रिपरिषद इसी वैदिक कालीन समिति की उत्तराधिकारिणी थी जो वस्तुतः प्रजा की प्रतिनिधि होती थी और जिसका प्रमुख कार्य शासक पर नियन्त्रण रखना होता था। अतः यह मंत्रिपरिषद भी अपने प्राचीन गौरव तथा शक्ति को बनाये रखने के लिये अपने को प्रजा की प्रतिनिधि ही मानती थी और प्रजा भी उसके अस्तित्व मे पूर्ण विश्वास रखती थी। प्रजा का यह विश्वास सी मंत्रिपरिषद की शक्ति का श्रोत था जिसकी अवहेलना करने में स्वयं सम्राट् भी सकुचाते थे। इसके अतिरिक्त भारतीय राज-संस्था में यह विचार सदैव ही प्रमुख रहा है कि प्रजा से षडभाग लेने के कारण राजा उनका सेवक तथा ऋण है और इसी कारण सिंहासनारोहण के समय राजा सदैव ही ऋणसे मुक्त होने के लिये जनहितकार्य करने की शपथ लेता रहा है। वह सिंहासनारोहण के समय जन-हित-कार्य करने की प्रतिज्ञा कर जनता का विश्वास प्राप्त करता है। इसका अर्थ केवल यही है कि यदि राजा अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण न करे तो जनता को उसे पदच्युत कर देने का अधिकार है। भारतीय इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नही जहाँ शासकों को प्रतिज्ञा पूर्ति न करने पर पदच्युत कर दिया गया है। अन्तिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ तथा गुप्त सम्राट् रामगुप्त के पदच्युत किये जाने का कारण भी उनकी प्रतिज्ञा पूर्ति में असफलता थी। यही नही भारतीय इतिहास में ऐसे भी उदाहरण हैं जब शासकों ने राज्याधिकारी की नियुक्ति केवल मंत्रिपरिषद की ही अनुमति से की। समुद्रगुप्त का सिंहासन के लिये निर्वाचिन भी मंत्रिपरिषद की अनुमति से ही हुआ था। अतः स्पष्ट है कि भारतीय परम्पराओं में शासक का

स्थान विशेष होते हुए भी जनता की शक्ति से कभी ऊँचा न उठ पाया। मंत्रि-परिषद जनता की प्रतिनिधि होने के नाते सदैव ही भारतीय इतिहास में महत्व-पूर्ण स्थान बनाये रही है। अशोक भी इसी भारतीय परम्परा के अन्तर्गत अपने को जनता का ऋणी मानता है (शि० ले० ६) और इस ऋण से मुक्त होने के लिये वह अकथ परिश्रम भी करता है। अपने इस प्रयास मे सफलता की प्राप्ति के लिये वह मंत्रिपरिषद से भी क्रियाशील होने की प्रार्थना करता है क्योंकि वह जानता है कि मंत्रिपरिषद के सहयोग के अभाव मे वह जनता के ऋण से कभी भी मुक्त न हो सकेगा।

सम्राट् की सफलता के लिए मंत्रिपरिषद का यह महत्व एक और समस्या खड़ी कर देता है। मंत्रिपरिषद के कार्य क्या थे? मंत्रिपरिषद के कार्यों का स्पष्ट उल्लेख तो अशोक के शिलाभिलेखों में नही मिलता, किन्तु—कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे अवश्य परिषद के कार्यो का उल्लेख किया है। कौटिल्य के अनुसार परिषद का कार्य था कि जो कार्य प्रारम्भ न हुआ हो उसे प्रारम्भ करना, जो कार्य प्रारम्भ हो चुका हो उसे पूरा करना, जो कार्य पूरा हो चुका हो, उसमें सुधार करना तथा सम्राट् के अनुशासनों का राजकर्मचारियों से पूर्ण पालन कराना। सम्भवतः अशोक की मंत्रिपरिषद के भी यही सब कार्य थे।

अशोक की मंत्रिपरिषद में कितने आमात्य थे निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। कौटिल्य के अनुसार बारह से बीस तक आवश्यकतानुसार आमात्यों की संख्या होनी चाहिये। कौटिल्य 'मन्त्रिगणः' या मन्त्रिगण तथा 'मंत्रि-परिषद' नामक दो संस्थाओं का उल्लेख करता है। सम्भवतः यही दोनों संस्थायें अशोक के शासन में भी कार्य करती थी। मंत्रिगणः या मन्त्रिगण से तात्पर्य उन चुने हुये मंत्रियों से है जिनकी संख्या ३ या ४ होती थी और जो राजा की अंत-रंग के सदस्य होते थे तथा मंत्रिपरिषद से तात्पर्य समस्त मंत्रियों के समूह से है। मंत्रिपरिषद के लिये अशोक के शिलाभिलेखों में 'परिवा' तथा 'परिसा' शब्द का उल्लेख हुआ है। मंत्रिगण तथा मंत्रिपरिषद की कार्य विधि के सम्बंध में अशोक के शिलाभिलेख प्रकाश नही डालते। कौटिल्य के अनुसार आत्ययिक कार्य मे मंत्रियों और मंत्रिपरिषद की सामूहिक बैठक होती थी और उनमें जो अधिक का मत हो अथवा जिसे राजा कार्य सिद्धकर समझे वही किया जाता था। इस प्रकार कौटिल्य के अनुसार राजा को मंत्रिपरिषद का मत न मानने का भी अधिकार था। किन्तु अशोकावदान में वर्णित कुर्कुटाराम विहार को दान देने की कथा से प्रमाणित होता है कि अधिकाशंतः राजा मंत्रिपरिषद के

मत की अवहेलना नहीं करता था। शासन सम्बन्धी दैनिक समस्याओं का निर्णय राजा मंत्रिगण की सहायता से करता था। यही नियम अशोक के शासन मे भी प्रचलित रहा होगा।

प्रान्तीय शासन :—

अशोक का साम्राज्य कई चक्रों या प्रदेशों मे विभक्त था। ये प्रदेश दो प्रकार के थे। प्रथम तो वे जिनका शासन करने के लिये राजकीय घराने के कुमार नियुक्त किये जाते थे और दूसरे वे जिनका शासन केन्द्र द्वारा नियुक्त अधिकारी करते थे। राजकुमारों तथा अधिकारियों के मध्य प्रदेशों के शासन के बटवारे का आधार प्रदेशों का महत्व होता था। जो प्रदेश राजनीतिक अथवा आर्थिक दृष्टिकोण से अत्याधिक महत्वपूर्ण होते थे उनके शासन के लिये राजकुमारों की नियुक्ति की जाती थी। अशोक के शासन मे ऐसे प्रदेश चार थे।

१. उत्तरापथ
२. अवन्तिरथ
३. दक्षिणपथ
४. कलिंग

उत्तरा पथः—इस प्रदेश की राजधानी तक्षशिला थी। तक्षशिला मध्यएशिया तथा भारत के व्यापार का केन्द्र थी। साथ ही विद्या के क्षेत्र में भी तक्षशिला का अपना अनोखा ही स्थान था। तक्षशिला विश्वविद्यालय के विश्व-विख्यात गुरुओं मे पाणिनी तथा कौटिल्य का नाम प्रमुख है। अशोक का दादा चन्द्रगुप्त मौर्य भी तक्षशिला विश्वविद्यालय का विद्यार्थी रह चुका था। सीमान्त प्रदेश होने के नाते इसका राजनीतिक महत्व और भी बढ गया था। निकटवर्ती यवन शासकों पर नियन्त्रण रखने तथा तक्षशिला मे बहुधा होने वाले विद्रोहों की आशंका के कारण इस प्रदेश पर शासन के लिये सदैव राजकुमारों की ही नियुक्ति की जाती थीं। बिन्दुसार के शासन काल में अशोक इस प्रदेश का शासक रह चुका था। अशोक के शासन काल में भी राजकुमार कुणाल इस प्रदेश का शासक था।

अवन्ति रथ :—इस प्रदेश की राजधानी उज्जयनी थी। यह प्रदेश न तो सीमान्त प्रदेश था और न तो इसके निकट स्वतन्त्र राज्य ही थे। फिर भी इस प्रदेश पर राजकुमार शासन करते थे। राजकुमारों की नियुक्ति का कारण सम्भवतः इस प्रदेश का व्यापारिक महत्व था। उज्जियनीका प्राचीन नाम अवन्ति

था। आर्य भौगोलिकों के अनुसार अवन्ति का वही महत्व है जो अंग्रेजों में ग्रीनविच का है।

दक्षिणीपथ :—इस प्रदेश की राजधानी सुवर्णगिरि थी। यह प्रदेश दूरस्थ दक्षिण के स्वतन्त्र राज्यों का समीपवर्ती होने के कारण अत्यधिक महत्वपूर्ण था। अतः इस प्रदेश का राजनीतिक महत्व अधिक होने के कारण इस पर भी राजकुमार ही शासन करता था।

कलिंग:—इस प्रदेश की राजधानी तोसाली थी। इस प्रदेश को अशोक ने ही विजित किया था। यह प्रदेश व्यापार का भी महत्वपूर्ण केन्द्र था। नवविजित प्रदेश होने के कारण यहाँ विद्रोह की अत्यधिक अशंका रहती थी। साथ ही इस प्रदेश के व्यापार को भी बनाये रखने के लिये यहाँ पूर्ण शान्ति की भी अत्यधिक आवश्यकता थी। अतएव इस प्रदेश के शासन के लिये भी राजकुमार की ही नियुक्ति की गई थी।

प्रान्तीय उप-शासकों के रूप में कुमारों की शक्तियाँ :—

उपर्युक्त चारों प्रदेशों का शासन राजकुमारों के हाथ मे अवश्य था, किन्तु वे पूर्ण स्वतन्त्र न थे। शासन-प्रबंध के क्षेत्र मे इन कुमारों अथवा उप-शासकों के अधिकार भी समान न थे। अशोक के शिलाभिलेख इस सत्य के प्रमाण हैं। इस सम्बन्ध में अशोक की निम्न आज्ञायें महत्वपूर्ण हैं :—

(१) "सुवर्णगिरि से आर्यपुत्र (कुमार) और महामात्यों की ओर से इसिला के महामात्यों को आरोग्य कहना और यह सूचित करना कि देवताओं के प्रिय आज्ञा देते हैं······।" (ब्रह्मगिरि लघु शि० ले० १)

(२) "देवताओं के प्रिय की आज्ञा से तोसाली नगर में उन महामात्रों को जो उस नगर मे शासन करते हैं ऐसा कहना···।" (कलिग शि० ले० प्रथम)

(३) "उज्जयिनी में भी कुमार इस कार्य के लिये इसी प्रकार कर्मचारियों को तीन-तीन वर्ष के अन्दर भेजेगे—पर तीन वर्ष से अधिक का अन्तर न देंगे··· तक्षशिला के लिये भी यही आज्ञा है।" (कलिग शि० ले० प्रथम)

(४) "इस तरह का एक लेख आप लोगों के समीप भेजा गया है जिससे कि आप लोग उसे याद रक्खें। ऐसा ही एक लेख आप लोग उपासकों के लिये भी लिखदें······जहाँ जहाँ आप लोगों का अधिकार हो वहाँ वहाँ आप सर्वत्र इस आज्ञा के अनुसार प्रचार करे। इसी प्रकार आप लोग सब कोटों और विषयों में भी इस आज्ञा को भेजें।" (सारनाथ स्तम्भ लेख)

(५) "देवप्रिय प्रियदर्शी कौशाम्बी के महामात्रों को इस प्रकार आज्ञा

देते हैं—संघ का नियम न उल्लंघन किया जाय ·····।"(कौशाम्बी स्तम्भ लेख)

उपर्युक्त आज्ञाओं से निम्न सत्यों पर प्रकाश पडता है :—

(१) इसिला के महामात्रों को आज्ञा भेजने के लिये सम्राट् सुवर्णगिरि के उपशासक तथा महामात्रों को सम्बोधन कर, उनकी ओर से आज्ञायें प्रेषित करते हैं।

(२) सुवर्णगिरि के कुमार को आर्यपुत्र नाम से सम्बोधित किया गया है जबकि तक्षशिला तथा उज्जयिनी के शासकों को कुमार कहा गया है।

(३) उज्जयिनी तथा तक्षशिला के उपशासकों (कुमारों) को स्वयं आज्ञायें प्रेषित करने का अधिकार है।

(४) सारनाथ तथा कौशाम्बी के महामात्रों को सम्राट् स्वयं आज्ञायें प्रेषित करते हैं।

(५) तोसाली के महामात्रों को, कुमार के उपशासक के रूप में रहते हुये भी, सम्राट् स्वय आज्ञायें प्रेषित करते हैं।

(६) ब्रह्मगिरी लघु शिलाभिलेख १ से स्पष्ट हो जाता है कि शासन के लिये महामात्र भी उतने ही उत्तरदायी हैं जितने कुमार, क्योंकि आज्ञा आर्य पुत्र (कुमार) तथा महामात्र दोनों ही के नाम से प्रेषित की गई है।

अतः स्पष्ट है कि तोसाली के उप-शासक (कुमार) के अतिरिक्त सुवर्णगिरि, उज्जयिनी तथा तक्षशिला के उप-शासक अपने आन्तिरिक शासन में स्वतन्त्र थे। इन प्रदेशों के लिये अशोक जो भी आज्ञायें प्रेषित करते थे वे कुमार उपशासकों के नाम से ही प्रेषित की जाती थीं। सम्भवतः कलिंग के नवविजित प्रदेश होने के कारण वहाँ के कुमार-उप-शासक को अन्य कुमारो से अधिकार प्रदान नही किये गये थे। उसे केन्द्र द्वारा ही नियन्त्रित किया जाता था। कुमार-उपशासक की नियुक्ति, इस अवस्था में, केवल सम्राट् की आज्ञायें कलिग प्रदेश में पूर्णतया पालन की जाती हैं या नही, अथवा राजकर्मचारी विद्रोह करने के लिये प्रयत्नशील तो नहीं है, यह देखने के लिये ही की गई मानी जानी चाहिये। सारनाथ तथा कौशाम्बी के स्तम्भलेखों से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि ये प्रदेश स्वयं सम्राट् के नियन्त्रण में थे और इसीलिये सम्राट स्वयं इस प्रदेश के कर्मचारियों को आज्ञायें प्रेषित करते हैं।

अशो की आज्ञायों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रान्तों के शासन का उत्तरदायित्व केवल कुमारों पर ही न था। सम्भवतः अशोक केवल कुमारों पर शासन का उतरदायित्व छोड़ने की भयंकरता से पूर्णतया परिचित था और इसलिये उसने कुमारों के साथ महामात्रों को भी कुमारों के समान ही शासन

के लिये उत्तरदायी ठहराया था; और इसी कारण सम्राट् द्वारा कुमारों के प्रति अथवा कुमारों की ओर से प्रेषित आज्ञाओं के साथ महामात्रों का नाम भी जुड़ा रहता है। महामात्रों के इस महत्व को दृष्टि मे रखते हुये यही ज्ञात होता है कि महामात्रों की नियुक्ति स्वय अशोक द्वारा की जाती थी। कुछ विद्वानों ने उपर्युक्त वर्णित कलिंग शिलाभिलेख प्रथम की आज्ञा के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि उज्जयिनी तथा तक्षशिला के कुमारों को स्वयं महामात्रों की नियुक्ति का अधिकार था। किन्तु यह मत प्रथम तो शिलाभिलेख से प्रमाणित नही होता और फिर इस मत को स्वीकार कर लेने से अशोक की कुमारों पर नियन्त्रणात्मक नीति पूर्णतया व्यर्थ हो जाती है। शिलाभिलेख के अनुसार तो तक्षशिला तथा उज्जयिनी के कुमारो से कर्मचारियों को तीन-तीन वर्ष के अन्दर प्रान्त का दौरा करने की आज्ञा देने को कहा गया है। महामात्रों की नियुक्ति करने की आज्ञा का उसमें कही संकेत भी नही है। अतः सम्राट की आज्ञा को उसी रूप में लिया जाना चाहिये जिस रूप मे वह प्रेषित की गई है। अनुमान के आधार पर इतना अवश्य माना जा सकता है कि कुमार-उप-शासको की सहायतार्थ नियुक्त महामात्र उन्ही प्रदेशों के निवासी रहे होंगे जिनमें उनकी नियुक्ति की जाती रही होगी और उनकी नियुक्ति में कुमारों की अनुमति भी अवश्य ली जाती रही होगी।

अशोक की उपर्युक्त वर्णित आज्ञाओं के अध्ययन से आर्यपुत्र तथा कुमार के पदों की भिन्नता सम्बन्धी समस्या और उठ खड़ी होती है। ब्रह्मगिरि लघु शिलाभिलेख १ के अतिरिक्त अन्य जहाँ कही भी कुमारों का उल्लेख हुआ है वहाँ 'कुमार' शब्द का ही प्रयोग किया गया है, केवल ब्रह्मगिरि ल० शि० ले० में ही आर्यपुत्र शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रयोग की यह भिन्नता निरर्थक नहीं मानी जा सकती। वैसे भी आर्यपुत्र शब्द कुमार की अपेक्षा कही अधिक श्रेष्ठ तथा सम्मान सूचक है। प्राचीन भारतीय साहित्य मे भी आर्य पुत्र शब्द का प्रयोग शासकों तथा राजा के उत्तराधिकारियों के ही लिये अधिकतर हुआ है। अतः यहाँ भी आर्यपुत्र से तात्पर्य अशोक के उत्तराधिकारी से ही माना जाना चाहिये। सुवर्णगिरि का उप-शासक भी सम्भवतः अशोक का उत्तराधिकारी था और इसी कारण अन्य कुमारों की अपेक्षा उसे आर्यपुत्र शब्द से सम्बोधित किया गया है।

अन्य प्रान्तीय उप-शासकः —

कुमार उप-शासकों द्वारा शासित प्रान्तों के अतिरिक्त साम्राज्य में अन्य भी अनेकों प्रान्त थे। इन प्रान्तों का राजनीतिक महत्व अधिक न होने के कारण

ही सम्भवतः इनका उल्लेख नहीं किया गया है। रुद्रदमन का जूनागढ़ लेख ऐसे ही एक प्रान्त का उल्लेख करता है। लेख के अनुसार अशोक के समय मे सौराष्ट्र प्रदेश का शासक तुहृषाष्प था। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में भी सौराष्ट्र प्रदेश का शासक पुष्पगुप्त था। सौराष्ट्र प्रदेश के लिये एक यवन शासक की नियुक्ति का कारण मौर्य शासकों को मानवोचित भावना ही मानी जा सकती है। अनेकों विद्वानों ने इस नियुक्ति के प्रति अनेकों कारण दिये हैं। श्री भण्डारकर ने तो इस नियुक्ति की तुलना अकबर द्वारा मानसिह तथा बीरबल की नियुक्तियों से कर डाली है। किन्तु इन दोनों नियुक्तियों को एक ही स्तर पर नही रक्खा जा सकता। अकबर द्वारा मानसिह आदि हिन्दुओं की नियुक्तियाँ उसकी हिन्दू नीति के अन्तर्गत हिन्दुओं को अपने अधिकार मे करने के लिये की गई थी, किन्तु चन्द्रगुप्त तथा अशोक के सामने ऐसी कोई समस्या नही थी। यूनानी हिन्दुओं के समान भारत के नागरिक न थे और न इनकी भारत में संख्या ही समस्योत्पादक संख्या थी। जो कुछ भी यूनानी भारत में थे उनपर नियन्त्रण रखना बिना यूनानी शासक की नियुक्ति के भी सम्भव था। इस नियुक्ति का कारण सीमावर्ती स्वतन्त्र यूनानी राज्यों की सहानुभूति प्राप्त करना भी नही माना जा सकता। प्रथम तो यूनानी भारतीय शक्ति से पूर्णतया परिचित थे और स्वयं मौर्य शासकों से मित्रता बनाये रखने के लिये आतुर थे, और दूसरे मौर्य शासकों की नीति भी कभी यूनानियों को प्रसन्न कर मित्र बनाने की नहीं रही। वे यूनानियों की मित्रता के इच्छुक अवश्य थे किन्तु मानवीय स्तर पर और यूनानी भी इस मानवीय स्तर से अत्यधिक प्रभावित हो सदैव मौर्य शासकों की मित्रता के लिये लालायित रहे। बिन्दुसार तथा अन्तिओक सोतर की कथा भी इस सत्य की पुष्टि करती है बिन्दुसार ने सीरिया के शासक अन्तिओक सोतर से एक दार्श-निक कुछ अंजीर तथा मधु मंगा भेजा। अन्तिओक ने अंजीर तथा मधु तो भेज दिये किन्तु दार्शनिक के लिये प्रार्थना की कि यूनान का कानून दार्शनिक बेचने की अनुमति नहीं देता। इस कथा से मौर्य शासकों के प्रति यूनानियों का दृष्टि-कोण पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि सौराष्ट्र के लिये यूनानी शासक की नियुक्ति में न तो कोई राजनीतिक उद्देश्य था और न धार्मिक सम-स्या ही गुथी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त के समय मे यूनानियों का भारत से सम्बन्ध घनिष्ट हो जाने पर अनेकों यूनानी भारत मे आकर बस गये थे। उनमे से अनेकों ने हिन्दू धर्म भी स्वीकार कर लिया था। एक यूनानी का पुष्पगुप्त सा भारतीय नाम इस सत्य की पुष्टि करता है। इन्हीं यूनानियों में से जिन्होंने हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया था पुर्ष्पगुप्त भी रहा होगा और उसकी

योग्यता के कारण चन्द्रगुप्त ने उसे सौराष्ट्र से छोटे प्रान्त का शासक नियुक्त कर दिया होगा। अशोक ने भी इसी परम्परा का पालन कर सौराष्ट्र में तुहषाष्प की नियुक्ति की होगी। सम्भवतः तुहपाष्प भी भारतीय संस्कृति का पुजारी रहा होगा।

सौराष्ट्र प्रदेश के अतिरिक्त प्राच्य प्रदेश नामक एक और प्रान्त साम्राज्य में था। इस प्रदेश की राजधानी पाटलिपुत्र थी। पाटलिपुत्र सम्पूर्ण साम्राज्य की राजधानी भी थी। इस प्रदेश का शासन स्वयं सम्राट के हाथों में था। अशोक प्रत्यक्ष रूप से इस प्रदेश के कर्मचारियों के लिये आज्ञायें प्रेषित करते थे। सारनाथ तथा कौशाम्बी के लघु स्तम्भ लेख इस सत्य की पुष्टि करते हैं।

श्री जयचन्द्र बिद्यालंकार कलिग प्रदेश को भी पाटलिपुत्र मण्डल के अन्तर्गत एक छोटा शासन केन्द्र मानते हैं। अपन मत की पुष्टि के लिये वे कलिंग शिलाभिलेखों को प्रस्तुत करते हैं। इन शिलाभिलेखों के अनुसार अशोक स्वयं धर्मानुसार पाँच-पाँच वर्ष पर कर्मचारियों को निरीक्षण के लिये कलिंग प्रदेश में भेजने की घोषणा करते हैं तथा कुमार उपशासक और महामात्यों के नाम आज्ञायें प्रेषित करते हैं जबकि उज्जयिनी तथा तक्षशिला के उप-शासकों को निरोक्षण करने के लिये कर्मचारियों की नियुक्ति का स्वयं अधिकार है। यह अवश्य है कि तोसाली के कुमार उप शासक तथा महामात्यों को तक्षशिला तथा उज्जयिनी के शासकों के अधिकार प्राप्त न थे किन्तु इसी आधार पर यह सिद्ध करना कि कलिंग एक अलग प्रदेश न होकर पाटलिपुत्र के अन्तर्गत एक छोटा शासन केन्द्र था अनुचित होगा। यदि कलिंग एक अलग प्रदेश न होता तो उसके लिये कुमार उप-शासक की नियुक्ति की क्या आवश्यकता थी और फिर जब अशोक को कलिग प्रदेश के शासन का पूर्ण अधिकार था ही उस दशा मे कलिग शिलाभिलेख २ के अनुसार अशोक को समापा तथा तोसाली मे कुमार तथा महामात्यों को सम्बोधन करने की भी क्या आवश्यकता थी। अतः स्पष्ट है कि कलिंग भी एक अलग प्रदेश था और इस प्रदेश के नवविजित होने के कारण ही इस पर अशोक का अन्य प्रदेशों की अपेक्षा अधिक नियन्त्रण था।

अशोक के अन्य कर्मचारी :—

अशोक के विशाल साम्राज्य पर शासन करने के लिये कुमार उपशासकों तथा महामात्यों के अतिरिक्त अन्य भी अनेकों अधिकारी रहे होंगे। इनमें से प्रत्येक का विवरण प्राप्त करना साधनों के अभाव में असम्भव है। अशोक के शिलाभिलेखों मे अवश्य कुछ कर्मचारियों का उल्लेख हुआ है। किन्तु वहाँ भी उन अधिकारियों की स्थिति पर पूर्ण प्रकाश न डालकर केवल उनके अस्तित्व

की ओर संकेत मात्र ही कर दिया गया है। अतः अशोक के शिलाभिलेखों के आधार पर भी निश्चयात्मक रूप से इन कर्मचारियों की स्थिति का निर्णय करना कठिन सा हो गया है।

शिलाभिलेख ३ मे अशोक ने तीन कर्मचारियों का उल्लेख किया है— (१) युत (२) राजुके तथा (३) प्रादेसिके (गिरिनार)

युत :—श्री ब्यूलर युत को राजभक्त के अर्थ मे मानते है। उन्होने युत को राजुके तथा प्रादेसिके का विशेषण मानकर "मम युता लजुके पादेसिके" (कालसी शि० ले० ३) का अर्थ मेरे राजभक्त रज्जुक तथा प्रादेशिक किया है। किन्तु यह अर्थ न्याय संगत नही। गिरिनार शि० ले० मे युत तथा रज्जुक और रज्जुक तथा प्रादेशिक के मध्य 'च' आया है जिसमे स्पष्ट हो जाता है कि युत, रज्जुक तथा प्रादेशिक का विशेषण न होकर एक संज्ञा है। अतः युत को एक अलग कर्मचारी के रूप मे लिया जाना चाहिये। युत नामक एक कर्मचारी का उल्लेख मनुस्मृति तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी हुआ है।

मनुस्मृति में युत का उल्लेख करते हुये कहा गया है :—

'प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेंद्युक्तै रधिष्ठितम।
यांस्तत्र चौरान् गृह्णीपात्तान राजभेन घातपेत ॥ (अध्याय ८ श्लोक ३४)

"खोया हुआ धन अगर मिल जाय तो राजपुरुष लोग उसे सुरक्षित रक्खें। उनमें से जो युक्त (राजपुरुष) उस धन को चुरावे उसे राजा हांथी से मरवा डाले।"

कुल्लूक ने मनुस्मृति की टीका में युक्त का अर्थ राजपुरुष किया है। कौटिल्य भी अर्थशास्त्र में युक्त नामक अधिकारियों से सावधान रहने के लिये कहता है। अर्थशास्त्र के अनुसार :—

"मत्स्या यथाऽन्तस्सलिले चरन्तो ज्ञांतु न शक्या सलिलं पिवन्तः।
युक्ता स्तथा कार्यविधौ नियुक्ताः ज्ञातुं न शक्या धनमाददानः॥"
(२ अधि० ९ अध्याय)

"जिस प्रकार यह नही ज्ञात हो सकता कि पानी के भीतर चलती हुई मछली पानी पी रही है या नही, उसी प्रकार यह भी ज्ञात नही हो सकता कि राजकार्य में लगे हुये युक्त धन का अपहरण कर रहे हैं या नही।"

अर्थशास्त्र के अनुसार राजकोष से धन का अपरण होने पर निधायक, निबन्धक, प्रतिग्राहक, दायक, मंत्री, वैवर्त्तकार, आदि की पृथक-पृथक परीक्षा होनी चाहिये और इनमें से जो कोई भी असत्य भाषण करे उसे वही दण्ड मिलना चाहिये जो प्रमुख कर्मचारी युक्त को अपराधी होने पर दिया जाना चाहिये। अतः

स्पष्ट है कि युक्त राज्य के प्रमुख कर्मचारियों में से थे और उनका प्रमुख कार्य राजस्व संग्रह करना था। सम्भव है राजस्व संग्रह करने के साथ उनको शासन सम्बन्धी कुछ अधिकार भी हों। श्री भण्डारकर तथा थौमस के मतानुसार युक्त जिले के शासक, कोषाध्यक्ष तथा राजस्व संग्रह के प्रति उत्तरदायी कर्मचारी थे। श्री भण्डारकर तथा थौमस का मत पूर्णतया न्याय संगत प्रतीत होता है। सम्भवतः आधुनिक (collector) मौर्य कालीन युक्त का ही उत्तराधिकारी है। युक्त तथा (collector) शब्दों के अर्थों की समानता भी इसी निष्कर्ष की पुष्टि करती है।

राजुके :—राजुके अथवा रज्जुक के सम्बन्ध मे विद्वानों में अत्यधिक मतभेद है। जातकों में रज्जुक का उल्लेख नापने वाले तथा सीमा निर्धारित करने वाले कर्मचारियों के रूप में हुआ है। जनार्दन भट्ट रज्जुकों को लिपिकार मानते है। श्री ब्यूलर के मत मे रज्जुक लेखक का काम करते थे। श्री भण्डारकर भी रज्जुकों को न्यायाधीश तथा पैमाइश के प्रमुख कर्मचारी के रूप में मानते हैं। किन्तु डा० राधाकुमुद मुकर्जी तथा चाइलड्स इन मतों को स्वीकार नहीं करते। ये विद्वान् रज्जुकों को प्रान्तीय शासकों के रूप में स्वीकार करते हैं।

रज्जुकों के सम्बन्ध में विद्वानों का यह मतभेद रज्जुक शब्द की व्याख्या तथा चतुर्थ स्तम्भ लेख में वर्णित रज्जुकों के अधिकारों एवम् कर्तव्यों पर आधारित है।

विद्वानों ने रज्जुक शब्द की व्याख्या दो प्रकार से की हैं। ब्यूलर तथा श्री भण्डारकर के अनुसार रज्जुक शब्द रज्जु से बना है। रज्जु का अर्थ रस्सी से है। प्राचीन काल में भूमि की नाप के लिये रस्सियों का ही प्रयोग होता था। इसी आधार पर इन विद्वानों ने रज्जुकों को भूमि की नाप करने वाले कर्मचारियों क रूप में माना है।

डा० राधाकुमुद मुकर्जी तथा चाइलड्स रज्जुक का सम्बन्ध रज्जु अथवा रस्सी से न मान कर राजा शब्द से मानते है। महावंश मे राजा के लिये 'राजको' शब्द के प्रयोग का उदाहरण देकर ये विद्वान गिरिनार शिलाभिलेख ३ में उल्लखित राजुके तथा राजको (महावंश-राजा के लिये) मे साद्रश्यता का अनुभव करते हैं। इस साद्रश्यता के आधार पर ही इन विद्वानों ने रज्जुकों को उप-शासकों के रूप में साम्राज्य के अत्यधिक महत्वपूर्ण कर्मचारी माना है। अपने मत की पुष्टि के लिये ये विद्वान् स्तम्भ ले० ४ को प्रस्तुत करते हैं। इस लेख के अनुसार "मेरे रज्जुक नामके कर्मचारी लाखों मनुष्यों के ऊपर नियुक्त

हैं।······वे निर्भय, निश्चिन्त और शान्तभाव से काम करें इसीलिये मैंने पुरस्कार अथवा दण्ड देने का अधिकार उनके आधीन कर दिया है।" अतः स्पष्ट है कि अशोक ने रज्जुकों को लाखों मनुष्यों पर नियुक्त कर उन्हें शासन संबंधी पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान कर दी थी। अशोक रज्जुकों को अपने उद्देश्यों की पूर्ति मे सहायक मानकर उनपर पूर्ण विश्वास रखता है। वह कहता है "जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने लड़के को निपुण धाई के हाथ में सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है (और यह सोचता है)" "यह धाई मेरे लड़के को सुख पहुंचाने की भरपूर चेष्टा करेगी" उसी प्रकार लोगों को हित और सुख पहुंचाने के लिये मैंने रज्जुक नाम के कर्मचारी नियुक्त किये हैं।" (स्त० ले०) स्त० ले० ४ में ही अशोक ने रज्जुकों के कर्तव्यों और अधिकारों का भी उल्लेख किया है। रज्जुकों के निम्न कर्तव्य थे :—

(१) लोगों के हित और सुख का ध्यान रखना।

(२) लोगों पर अनुग्रह करना।

(३) लोगों के सुख और दुख का कारण जानने का प्रयत्न करना।

(४) कर्मचारियों की सहायता से लोगों को ऐसा उपदेश देना जिससे वे ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

(५) सम्राट् की नीति से परिचित अधिकारियों की आज्ञाओं को ध्यानपूर्वक सुनना तथा उनके अनुसार कार्य करना।

इसी स्तम्भ लेख में अशोक रज्जुकों को न्याय करने एवम् दण्ड देने में पक्षपात रहित रहने की आज्ञा भी प्रदान करते हैं। अतः रज्जुकों के पुरस्कार तथा दण्ड देने के अधिकारों एवम् कर्त्तव्यों का अध्ययन करने से और न्याय के क्षेत्र में पक्षपात न करने की अशोक की रज्जुकों को आज्ञा से स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि रज्जुक न तो लिपिकार थे और न भूमि की नाप करने वाले कर्मचारी ही, वरन् रज्जुक साम्राज्य के एक महत्वपूर्ण कर्मचारी थे, जिन्हें शासन तथा न्याय संबन्धी पूर्ण अधिकार लाखों ही व्यक्तियों पर प्राप्त थे। अतएव रज्जुकों को कुमार उपशासकों के अनुरूप ही प्रान्तीय उपशासकों के रूप में लेना चाहिये। सम्भवतः उन छोटे प्रदेशों में जहाँ कुमारों की नियुक्ति नहीं होती थी वहाँ रज्जुकों की नियुक्ति उपशासकों के रूप में की जाती थी।

रज्जुकों के सम्बन्ध में इस सत्य का अध्ययन भी नितान्त आवश्यक है कि रज्जुकों का शासन में जो महत्वपूर्ण स्थान अशोक के अभिषेक के २६ वें वर्ष में था वह प्रारम्भ में न था। शि० ले० ३ एवम् ५ तथा स्तम्भ ले० ४ इस सत्य के प्रमाण हैं। शिलाभिलेख ३ तथा ५ की आज्ञायें अभिषेक के १२ वें एवम्

१३ वें वर्ष में प्रेषित की गई थीं और स्त० ले० ४ अभिषेक के २६ वें वर्ष का है। स्तम्भ ले० ४ में जो अधिकार रज्जुकों को प्रदान किये गये हैं वे ही अधिकार शि० ले० ५ के अनुसार धर्म महामात्रों को प्राप्त थे। अतः स्पष्ट है कि शि० ले० ३ की आज्ञा (जो अभिषेक के १२ वें वर्ष की है) के प्रेषित होने के समय रज्जुकों का कार्यक्षेत्र संकुचित था। यदि रज्जुकों का कार्यक्षेत्र संकुचित न होता तो फिर स्त० ले० ४ में उनके कर्त्तव्यों तथा अधिकारों का उल्लेख करने की आवश्यकता न पड़ती।

प्रादेसिके—

प्रादेसिकों के सम्बन्ध में भी विद्वानों मे अत्यधिक मतभेद है। सेनार्ट, कर्न तथा व्यूलर के अनुसार प्रादेसिक आधुनिक ठाकुर, राव तथा रावल आदि के पूर्वज थे। किन्तु यह मत न्यायसंगत प्रतीत नही होता। प्रादेसिक शब्द युक्त तथा रज्जुकों के साथ एक ही स्थान पर आया है। युक्त और रज्जुक राजकर्मचारी थे यह प्रमाणित हो ही चुका है। अतः प्रादेसिक भी राजकर्मचारी ही थे। श्री भण्डारकर, कर्न, व्यूलर तथा सेनार्ट के मत के आधार पर प्रादेसिकों को प्रान्तीय शासकों के रूप में मानते हैं। प्रादेसिकों का प्रान्तीय शासकों के रूप में मानने का प्रमुख कारण प्रादेसिक शब्द की व्युत्पत्ति प्रदेश से होना है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में भी प्रदेष्टा नामक एक कर्मचारी का उल्लेख किया है। इस प्रदेष्टा की व्युत्पत्ति भी प्रदेश से ही है। इसी आधार पर अशोक के प्रादेसिक तथा कौटिल्य के प्रदेष्टा को यदि एक ही कर्मचारी के दो भिन्न नाम माने जायँ तो भी अनुचित न होगा। कौटिल्य के अनुसार प्रदेष्टा के निम्न कार्य थे :—

(१) गोप तथा स्थानिक के कार्यों का निरीक्षण करना।
(२) गाँव तथा जिले के अधिकारियों के कार्यों की देखभाल करना।
(३) धर्म-कर 'बलि' को उगाना।
(४) पिछले शेष कर को बलपूर्वक एकत्र करना।
(५) दुष्ट अधिकारियों को दण्ड देना तथा
(६) राजा को अपने एवम् अपने आधीन राजकर्मचारियों के कार्यों से अवगत कराना।

अर्थशास्त्र के इस वर्णन के आधार पर श्री थौमस अशोक के प्रादेसिकों का कार्य कार्यनिर्वाहक, राजस्व एकत्र करना तथा नगर रक्षण करना मानते हैं।

डा० राधाकुमुद मुकर्जी भी प्रादेसिकों को प्रान्तीय शासक न मानकर प्रान्त के एक भाग के अधिकारी मानते हैं। डा० मुकर्जी के अनुसार प्रत्येक

प्रान्त कई भागों में विभक्त था। प्रत्येक भाग में अनेकों जिले होते थे। अनेकों जिलोंके ऊपर इन भागों का अलग अलग एक अधिकारी होता था। आधुनिक समय में इन अधिकारियों की तुलना कमिश्नर (Commissioner) से की जा सकती है। अतएव प्रादेसिकों को प्रान्तीय शासक न मानकर प्रान्त के एक भाग के अधिकारी मानना ही अधिक उचित होगा। इन अधिकारियों के कार्य भी कौटिल्य के 'प्रदेष्टा' के अनुकूल ही रहे होंगे।

प्रथम कलिंग शिलाभिलेख नगर-व्यवहारिक नामक एक अन्य राजकीय कर्मचारी के अस्तित्व पर प्रकाश डालता है।

नगर व्यवहारिक:—

नगर-व्यवहारिकों के सम्बन्ध मे आज्ञा प्रेषित करते समय अशोक कलिंग शिलाभिलेख प्रथम में कहते हैं "देवानं पियस वचनेन तोसलियं महामात नगल-वियोहालका वतविय·········।" इस सम्बोधन में महामत नगलवियो-हालका नामक शब्दों के साथ-साथ प्रयोग ने अनेकों इतिहासकारों को भ्रम में डाल दिया है। वे महामात तथा नगलवियोहालका को अलग अलग लेकर यह आज्ञा दो भिन्न अधिकारियों के लिये प्रेषित की गई मानते हैं। श्री जायसवाल तथा सत्यकेतु विद्यालंकार तो नगलवियोहालका में भी दो भिन्न अधिकारियों के दर्शन करते हैं। उनके अनुसार नगलवियोहालका से तात्पर्य नगल (नागरिक) तथा वियोहालका (व्यवहारिक) नामक दो अधिकारियों से है जिसमें नागरिक का कार्य अपराधियों को बन्दी बनाना तथा व्यवहारिक का कार्य दण्ड देना था। यह मत उचित प्रतीत नही होता। यह अवश्य है कि इस मत को स्वीकार कर लेने से अशोक के शासन मे कार्यकारिणी तथा न्याय-पालिका की शक्तियों मे प्रथक्ता की स्थापना हो जाती है, किन्तु अन्य प्रमाणों के अभाव मे और साथ ही तत्कालीन भारत में कार्यकारिणी तथा न्यायपालिका की शक्तियाँ एक ही अधिकारी मे निहित होने की परम्परा और उसके ठोस प्रमाणों को ध्यान मे रखते हुये, इस आधुनिक सिद्धान्त को अशोक के समय में देखना केवल इस सिद्धान्त को उस काल पर थोपना ही माना जा सकता है। कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में पुर-व्यवहारिक नामक एक अधिकारी का उल्लेख किया है। नगर-व्यवहारिक को भी इसी पुर व्यवहारिक के समान ही एक अधिकारी के रूप मे लिया जाना चाहिये। शिलाभिलेख भी एक ही अधि-कारी के अस्तित्व की ओर संकेत करता है।

जहाँ तक महामात्र तथा नगर-व्यवहारिक नामक दो पृथक अधिकारियों

के अस्तित्व की सम्भावना का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि यहाँ महामात्र शब्द का उल्लेख नगर-व्यवहारिक के साथ हुआ है और यह एक पृथक अधिकारी का नही वरन् नगर-व्यवहारिक के महत्वपूर्ण तथा उच्च पद का द्योतक है। नगर के अधिकरी के लिये कौटिल्य ने भी नागरिक महामात्र शब्द का प्रयोग किया है। अतः स्पष्ट है कि उस काल में महामात्र शब्द का प्रयोग एक विशेष अधिकारी के अतिरिक्त अन्य अधिकारियों के साथ भी होता था। इस दशा मे महामात्र को किसी अधिकारी विशेष का ही सूचक न मानकर अधिकारियों के पद की उच्चता का प्रतीक भी मानना चाहिये।

नगर-व्यवहारिक शब्द से ही स्पष्ट हो जाता है कि इन अधिकारियों की नियुक्ति नगर अथवा पुर के शासन के लिये की जाती थी। इन अधिकारियों के कार्यों तथा गुणों के सम्बन्ध मे भी कलिक शिलाभिलेख प्रथम पर्याप्त प्रकाश डालता है। इस शिलाभिलेख मे सम्राट कहते हैं "सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं और जिस प्रकार में चाहता हूँ कि मेरे पुत्र-गण सब तरह के हित और सुख को प्राप्त करें उसी प्रकार मै चाहता हूँ कि सब मनुष्य ऐहिक और पारलौकिक सब तरह के सुख और हित का लाभ उठायें।" अशोक के शासन का यही महान् उद्देश्य था और वह अपने अधिकारियों से इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये बार-बार कहता है। इस शिलाभिलेख मे भी नगर-व्यवहारिकों से इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रयत्न करने को कहा गया है। सम्राट कहते है "ऐसा हो सकता है कि कोई व्यक्ति कैद मे डाल दिया जाय या क्लेश पावे और जब किसी को अकारण बन्दी बनाया जाता है तो और भी बहुत से लोगों को बड़ा दुख होता है......यह लेख इसलिये लिखा गया कि जिसमें नगर-व्यवहारिक सदा इस बात का प्रयत्न करें कि नगर निवासियों को अकारण बन्धन या दण्ड न हो।" इस प्रकार नगर-व्यवहारिकों का मुख्य कार्य व्यवहार-समता तथा दण्ड-समता की स्थापना थी। इस महत्वपूर्ण कार्य के लिये सम्राट नगर व्यवहारिकों से अत्यन्त कठोरता तथा अत्यन्त दया त्याग कर मध्य-पथ का आलम्बन करने को कहते है। मध्य-पथ का आलम्बन सम्राट के अनुसार ईर्ष्या, श्रम का अभाव, निष्ठुरता, जल्दबाजी, अकर्मण्यता, आलस्य और तन्द्रा के त्याग से ही सम्भव है। अतः नगर-व्यवहारिकों को इन दोषों को त्याग, इनके विपरीत गुणों से पूर्ण होना चाहिये। सम्राट इसी शिलाभिलेख में नगर-व्यवहारिकों के कार्यो का निरीक्षण करने के लिये अन्य अधिकारियों की नियुक्ति का आदेश भी देते हैं। अतः स्पष्ट है कि नगर-व्यवहारिकों के महत्वपूर्ण तथा विस्तृत उत्तरदायित्व के साथ, सम्राट उनमें उत्पन्न होने वाले दुर्गुणों से भी पूर्ण परिचित थे और वे

इसके परिणामों को भी जानते थे। इसी कारण सम्राट इन अधिकारियों को सदैव नियन्त्रण में रखने के लिये इन्हें आज्ञा-पालन करने पर स्वर्ग की प्राप्ति का प्रलोभन तथा आज्ञा-भंग करने पर विपत्ति की सूचना देते हैं और इनकी स्वतन्त्रता को निरीक्षक अधिकारियों की नियुक्ति से सीमित कर देते है।

शिलाभिलेख १२ में अशोक ने तीन अन्य अधिकारियों का उल्लेख किया है।

१. धर्म महामात्र,

२. स्त्रीध्यक्षमहामात्र, तथा

३. व्रचभूमिक।

धर्ममहामात्र

"गर्भभूतानां अछति च, सयमं च, समचेरां च, मादवं च" अर्थात् (समस्त प्राणियों के हेतु परित्राण, संयम तथा मनः शान्ति एवम् सुख) का अभिलाषी अशोक अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये अत्यधिक पराक्रम करने का इच्छुक था। उसकी अभिलाषा थी कि उसकी प्रजा धर्म पर आचरण कर इस लोक में सुख तथा परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति करे। अतः उसने प्रशासनीय स्तर पर प्रजा के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाना प्रारम्भ किया। सप्तम स्तंभ लेख में सम्राट अपने इसी उद्देश्य का उल्लेख करते हैं "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी ऐसा कहते है—इसी उद्देश्य से मैंने धर्मस्तंभ बनवाये, धर्म महामात्र नियुक्त किये और धर्म-विधि की रचना की।" अतः स्पष्ट है कि धर्म महामात्रों की नियुक्ति जनता में धर्म का प्रचार करने के लिये अशोक ने प्रशासनीय स्तर पर की थी। धर्ममहामात्रों के कार्यों के सम्बन्ध में भी अशोक के लेख महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। पंचम शिलाभिलेख मे धर्ममहामात्रों के कार्यो का अशोक ने स्पष्ट उल्लेख किया है। शिलाभिलेख के अनुसार अशोक ने धर्ममहामात्रों की नियुक्ति अभिषेक के १३ वर्ष बाद की थी। इस सम्बन्ध में अशोक कहते हैं "विगतकाल में धर्ममहामात्रों की नियुक्ति नहीं की जाती थी परन्तु मैंने अपने राज्याभिषेक के १३ वर्ष बाद धर्म महामात्र नियुक्त किये" (शि० ले० ५)। इसी शिलाभिलेख के अनुसार धर्म महामात्रों के निम्न कार्य थे।

(१) धर्म की रक्षा करना।

(२) यवन, काम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिक, पीतीनिक तथा सीमा पर रहने वाली अन्य जातियों के हित तथा सुख के लिये कार्य करना।

(३) स्वामी तथा सेवकों, ब्राह्मणों और धनवानों, अनाथों और वृद्धों के मध्य उनका हित चिन्तन करने के लिये।

(४) धर्मयुत नामक राजकर्मचारियों के लोभ से प्रजा की रक्षा करने के लिये।

(५) अन्यायपूर्ण बध तथा बन्धक को रोकने के लिये।

(६) (प्रजा के मार्ग में आने वाली) रुकावटों को दूर करने के लिये तथा रक्षा करने के लिये।

(७) बड़े परिवार वाले, विपत्ति से सताये हुये तथा वृद्धजनों की सहायता तथा हित करने के लिये।

(८) धर्म तथा दान सम्बन्धी कार्यो का निरीक्षण करने के लिये।

उपर्युक्त वर्णित कार्यो से स्पष्ट हो जाता है कि धर्ममहामात्रों का कार्य-क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत था और उनकी शक्तियाँ भी अपार थी। यद्यपि इनकी नियुक्ति साम्राज्य के विभिन्न भागों में हुई थी किन्तु इनकी नियुक्ति के सम्बन्ध मे प्रान्तीय अधिकारियों को हस्ताक्षेप का कोई अधिकार न था। अतः ये महत्व-पूर्ण केन्द्रीय अधिकारी थे और इनका कार्य प्रशासनीय स्तर पर अधिकारी वर्ग को मानव बनने के लिये वाध्य करना था। सम्राट द्वारा नियुक्त इन अधिका-रियों की इच्छा की अवहेलना करने की सामर्थ अन्य अधिकारियों मे प्रतीत नही होती। इन अधिकारियों का महत्व इस सत्य से और भी स्पष्ट हो जाता है कि अशोक ने इनकी नियुक्ति पाटलिपुत्र और बाहर के सब नगरों में सब स्थानों पर अपने भाइयों, बहनों तथा अन्य सम्बन्धियों के अन्तःपुरों मे भी की थी। (शि० ले० ५)

धर्ममहामात्रों के कार्यों के सम्बन्ध मे शि० ले० ५ के साथ ही स्तम्भ-लेख ७ का भी अध्ययन नितान्त आवश्यक है। स्तम्भ लेख ७ में अशोक कहते हैं "मेरे धर्ममहामात्र भी उन बहुत तरह के कार्यों में नियुक्त हैं जिनका सम्बन्ध सन्यासी और गृहस्थ दोनों से है, वे सब सम्प्रदायों में भी नियुक्त हैं। मैंने उन्हें संघों में, ब्राह्मणों मे, आजीवकों मे, निर्ग्रन्थों मे तथा बिविध प्रकार के सम्प्रदायों में नियुक्त किया है। भिन्न भिन्न महामात्र अपने अपने कार्य मे लगे हुए हैं, किन्तु धर्ममहामात्र अपने अपने कार्य के अलावा सब सम्प्रदायों का निरीक्षण भी करते हैं।"

सम्राट पुनः कहते हैं कि "ये (धर्ममहामात्र) तथा अन्य दूसरे प्रधान कर्मचारी मेरे तथा मेरी रानियों के दानोत्सर्ग कार्य के सम्बन्ध में नियुक्त हैं और यहाँ (पाटलिपुत्र मे) तथा प्रान्तों में वे मेरे सब अन्तःपुर वालों को बताते हैं कि कौन-कौन से अवसरों पर कौन-कौन सा दान करना चाहिये। वे मेरे

पुत्रों और दूसरे राजकुमारों के दानोत्सर्ग कार्य की देख-भाल करने के लिये नियुक्त हैं जिसमे कि धर्म की उन्नति तथा धर्म का आचरण हो।"

अशोक के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि धर्ममहामात्रों को बौद्ध संघों मे भी कार्य करना पड़ता था। सम्भवतः संघों मे उनका कार्य जहाँ एक ओर भिक्षुओ को समस्त प्रकार की सुविधाये प्रदान करना होता था वहाँ दूसरी ओर उनके दैनिक कार्यों पर नियन्त्रण रख उनके नैतिक स्तर को बनाये रखना भी था। बौद्ध सघ के अतिरिक्त धर्ममहामात्रों की नियुक्ति ब्राह्मणो, आजीवकों तथा निर्ग्रन्थो के मध्य भी की गई थी। इन सम्प्रदायो के मध्य इनका कार्य सम्प्रदायो के सार की वृद्धि करना था (शि० ले० १२)। सार की वृद्धि से तात्पर्य उन परिस्थियों के उत्पन्न करने से है जिनमे प्रत्येक सम्प्रदाय वाले अपने सम्प्रदाय का हित चिन्तन स्वतन्त्रतापूर्वक करते हुये दूसरे सम्प्रदायो का मान करना सीखें जिससे सम्प्रदायों मे 'समवाय' (मेल-जोल) बढे और धर्म की उन्नति हो (शि० ले० १२)।

स्तम्भलेख ७ के अनुसार अशोक ने धर्म महामात्रों की नियुक्ति अपने भाइयों, बहनों, सम्बन्धियों तथा रानियों के अन्तःपुर मे भी की थी। वहाँ उनका कर्त्तव्य दानोत्सर्ग कार्यों की देखभाल करना था। अतः स्पष्ट है कि राजकीय परिवार के दान तथा धर्म सम्बन्धी समस्त कार्यो का उत्तरदायित्व भी धर्म-महामात्रों पर था।

धर्म महामात्रों के इस विशाल कार्य क्षेत्र का अवलोकन कर यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्ममहामात्र साम्राज्य के सर्वाधिक महत्वपूर्ण अधिकारी थे। इनमें नैतिक तथा प्रशासनीय दोनों ही प्रकार की शक्तियाँ निहित थी। यद्यपि ये किसी निश्चित भू-भाग के स्वामी न थे और न इनके पास सैनिक शक्ति ही थी किन्तु धर्म तथा मानवता की ओट से सम्राट् के विशेष अधिकारी होने के नाते इनकी नियन्त्रण शक्ति इतनी महान् थी कि साम्राज्य के बड़े से बड़े अधिकारी भी इनके भय से मनमानी करने अथवा अपने कर्त्तव्यों की अवहेलना करने का साहस न कर पाते थे। अतः धर्ममहामात्र जहाँ एक ओर अशोक की मानवीयता के प्रतीक हैं वहाँ दूसरी ओर उसकी राजनीति के परिचायक भी। राजनीतिक क्षेत्र में अशोक ने धर्ममहामात्रों की नियुक्ति द्वारा अन्य महत्वपूर्ण अधिकारियों की निरंकुशता पर अप्रत्यक्ष रूप से जिस अंकुश का प्रयोग किया है वह राजनीति में एक नये ही अध्याय का प्रारम्भ करता है। राजनीतिक क्षेत्र में धर्ममहामात्रों के इस अनोखे प्रयोग का एक और भी कारण प्रतीत होता है। चन्द्रगुप्त तथा बिन्दुसार का शासनकाल भय तथा आँतक का काल था। इन दोनों ने भय तथा आंतक पर

आधारित शान्ति का निर्माण करने में जो अधिकार अधिकारी वर्ग को दे रखे थे उसके परिणाम स्वरूप उनमें स्वेच्छाचारिता की अत्यधिक बृद्धि हो गई थी और वे जन-हित को राजा के स्वार्थों के लिये बलिदान करने मे लेशमात्र भी न हिचकिचाते थे। अशोक इस आंतक की निर्थकता से पूर्णतया परिचत था। वह प्रजा के शरीर के स्थान पर भावनाओं पर अधिकार कर आध्यात्मिक शान्ति की स्थापना करने का इच्छुक था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये निम्न कार्य महत्वपूर्ण तथा आवश्यक थे :—

(१) प्रजा में राजा के प्रति विश्वास उत्पन्न करना
(२) अधिकारियों की स्वेच्छाचारिता पर नियन्त्रण करना तथा
(३) जन-हित के कार्य करना

धर्ममहामात्रों की नियुक्ति द्वारा अशोक ने इन तीनों कार्यों की पूर्ति कर अपने उद्देश्य की पूर्ति कर ली और उसने प्रजा का वह विश्वास प्राप्त कर लिया जो एक आदर्श साम्राज्य का परिचायक है। अतः धर्ममहामात्र अशोक की कार्यपटुता, नीतिज्ञता तथा मानवीयता के परिचायक है।

स्त्रीध्यक्षमहामात्र :—

धर्ममहामात्रों के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुये अशोक कहते हैं "वे यहाँ और बाहर के सब नगरों में सब जगह हमारे भाइयों बहिनों तथा दूसरे रिश्तेदारों के अन्तःपुर में नियुक्ति है" (शि० ले० ५) इस कथन में अन्तःपुर शब्द के प्रयोग का विशेष महत्व है। अन्तःपुर में सम्राट् द्वारा पुरुष अधिकारियों की नियुक्ति न्याय संगत प्रतीत नही होती। किन्तु शि० ले० ५ मे किसी भी स्त्री अधिकारी का उल्लेख नही हुआ है। वहाँ तो केवल धर्ममहामात्र नामक अधिकारी का ही उल्लेख हुआ है। सम्भवतः शि ले० ५ के लिखे जाने के समय धर्ममहामात्र का प्रयोग स्त्री तथा पुरुष दोनों ही प्रकार के अधिकारियों के लिये किया जाता था। दोनों के अधिकार तथा कर्त्तव्य भी एक समान ही थे अन्तर केवल क्षेत्र मे था। पुरुष अधिकारियों का क्षेत्र पुरुष समाज था तथा स्त्री अधिकारियों का क्षेत्र स्त्री-समाज था।

समय के साथ सम्राट् की समाज तथा धर्म में सुधार करने की भावना बलवती होती गई। समाज का नैतिक स्तर ऊँचा करने के लिये स्त्रियों के परम्परानुगत व्यवहारों तथा अन्ध विश्वासों में सुधार करने नितान्त आवश्यक थे। सम्राट् इन कुरातियों से पूर्णतया परिचित थे। शिलाभिलेख ९ इस सत्य का प्रमाण है। सम्राट् कहते हैं "लोग विपत्ति-काल मे, पुत्र के विवाह मे, कन्या के

विवाह में, सन्तान की उत्पत्ति में, परदेश जाने के समय और इसी तरह के दूसरे अवसरों पर अनेक प्रकार के बहुत से मंगलाचार करते हैं। ऐसे अवसरों पर स्त्रियाँ अनेक प्रकार के क्षुद्र और निरर्थक मंगलाचार करती हैं......।" (शि० ले० ६) सम्राट् इन निरर्थक मंगलाचारों को समाप्त कर इनके स्थान पर उपयोगी तथा सामाजिक मंगलाचार करने का आदेश देते हैं वे कहते हैं "धर्म का जो मंगलाचार है वह महाफल देदे वाला है। इसमें दास और सेवकों के प्रति उचित व्यवहार, गुरुओं का आदर, प्राणियों की अहिंसा और श्रमण तथा ब्राह्मणों को दान यह सब करना पड़ता है।" इन गुणो के उत्पन्न करने के लिये सम्राट् का आदेश हिंसा की शक्ति पर आधारित न होकर मानवीय भावना पर आधारित था। वह भावनाओं को उचित तथा अनुचित का ज्ञान कराकर बदलना चाहता था। अतः स्त्री-समाज मे इन सुधारों के लिये स्त्री अधिकारयों की अत्यधिक आवश्यकता थी। इसके साथ ही विभिन्न धर्मों की अनुयायी स्त्रियाँ भी थी। बौद्ध धर्म मे तो भिक्षुणियों का एक महत्वपूर्ण स्थान ही बन गया था। संघों में भिक्षुणियों की उपस्थिति नैतिक स्तर को छिन्न-भिन्न कर सकती है, सम्राट् इस सत्य से परिचित थे। अतः भिक्षुणियों के जीवन को भी नियन्त्रित करना बौद्ध धर्म के उत्थान के लिये नितान्त आवश्यक था। इन्ही आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सम्राट् ने स्त्री अधिकारियों का एक अलग विभाग ही खोल दिया। शिलाभिलेख १२ के लिखे जाने के समय तक सम्राट् का यह निश्चय दृढ़ हो चुका था और अब धर्म-महामात्रों के पद पर जो स्त्रियां नियुक्त की जाता थीं उनका नाम भी अलग रख दिया गया। सम्राट् उन्हें स्त्रीध्यक्षमहामात्र पुकारते हैं (शि० ले० १२)। संसार के इतिहास में सम्भवतः स्त्रियों की इतने महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्ति का यह प्रथम अवसर ही था। अपने इस मनोविज्ञानिक तथा महत्वपूर्ण कार्य के लिये अशोक चिर-स्मरणीय बना रहेगा। स्त्रीध्यक्षमहामात्रों के वही कार्य थे जो धर्म-महामात्रों के थे जिनका उल्लेख किया जा चुका है।

व्रचभूमिक :–

व्रचभूमिक के सम्बन्ध मे विद्वानों में अत्यधिक मतभेद है। विन्सेन्ट स्मिथ महोदय ने इसका अर्थ Inspector किया है। श्री जायसवाल व्रचभूमिक का अर्थ राष्ट्र की सीमा पर रहने वाले अधिकारी करते हैं। प्रारम्भ में तो विद्वानों ने व्रच को वर्च पढ़ कर इसका अर्थ शौचागार लगाया था। इस अर्थ से व्रचभूमिक शौचागार का अधिकारी बन जाता है। यह अर्थ हास्यास्पद है। व्रच शब्द वास्तव मे व्रज का परिचायक है। व्रज शब्द का प्रयोग चाणक्य ने अर्थशास्त्र में भी किया

है। अर्थशास्त्र में इस शब्द का प्रयोग गाय, भैंस, बकरी, भेड़, घोड़े, ऊँट आदि के झुण्ड अथवा पशुशाला के लिये किया गया है। यही अर्थ वास्तव में उचित है। भूमिक का अर्थ भूमि के स्वामी से है। इस प्रकार व्रचभूमिक को व्रजभूमिक का परिचायक मान लेने पर इसका अर्थ उस भूमि के स्वामी से है जहाँ पशु रहते हैं। अतः व्रचभूमिक से तात्पर्य उन अधिकारियों से है जो राजकीय पशुशालाओं तथा चरागाहों के अध्यक्ष थे।

भारत कृषिप्रधान देश है। प्राचीन काल मे भी भारत कृषि प्रधान देश था। पशुओं का भारतीय समाज मे अत्यधिक महत्व था। समाज मे मनुष्य के धन की माप उसके पास पशुओं की संख्या से ही की जाती थी। पशुओं की देख-भाल का राज्य की ओर से प्रवन्ध किया जाता था। अशोक ने भी इसी परम्परा का पालन किया। उसने भी पशुओं को राष्ट्रीय सुख का आधार माना और उनके विकास के लिये चरागाहें बनाईं तथा अस्पताल खुलवाये। "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो प्रकार की चिकित्सा एक मनुष्यों की चिकित्सा और दूसरी पशुओं की चिकित्सा का प्रबन्ध किया है।" (शि० ले० २)। "दोपायों, चौपायों, पक्षियों और जलचर प्राणियों पर मैंने अनेक प्रकार की कृपा की है। यहाँ तक कि मैंने उन्हें प्राण-दक्षिणा तक भी दी है" (स्तम्भ लेख २)। "... और जहाँ तहाँ पशुओं तथा मनुष्यों के उपकार के लिये अनेक पौंसले बैठाये" (स्तम्भ लेख ७)। अशोक के उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि उसने पशुओं की देखभाल के लिते महत्वपूर्ण कार्य किये थे और उन कार्यो के लिये उसने विशेप अधिकारी भी नियुक्त किये। व्रजभूमिक ऐसा ही एक महत्वपूर्ण अधिकारी था। धर्ममहामात्र तथा स्त्रियध्यक्षमहामात्र के साथ ही शिलाभिलेख १२ में व्रज-भूमिक का उल्लेख अपना विशेप महत्व रखता है। समाज में तीन वस्तुयें ही विशेष महत्व की हैं :—पुरुप, स्त्री तथा पशु-पक्षी। धर्ममहामात्र तथा स्त्रीध्यक्ष-महामात्र तो पुरुप तथा स्त्रियों की देखभाल के लिये थे और व्रजभूमिक पशुओं की देखभाल के लिये। सम्राट् की ये नियुक्तियाँ उसकी विशाल मंगलमयी भावनाओं की परिचायक हैं। व्रजभूमिक के कार्य मुख्यतया निम्न थे :—

(१) पशुओं के लिये चिकित्सालय खोलना तथा औपधियों का प्रबन्ध करना (शि० ले० २)

(२) पेड़ तथा कुञ्ज लगवाना, पानी पीने के स्थान बनवाना आदि (स्तम्भ लेख ७)

महामात्र :—

महामात्र नामक कर्मचारियों का उल्लेख अशोक के निम्न लेखो मे हुआ है :—

(१) ब्रह्मगिरि लघु शिलाभिलेख प्रथम

(२) कलिंग शिलाभिलेख १

(३) कलिग शिलाभिलेख २ तथा

(४) सारनाथ तथा कौशाम्बी के स्तम्भ लेख

महामात्रों के सम्बन्ध मे इस विषय पर सभी विद्वान एकमत है कि महामात्र राज्य के उच्च कर्मचारी थे। सेनार्ट की महामात्र सम्बन्धी व्याख्या भी इसी निष्कर्ष की प्रतीक है। सेनार्ट के अनुसार "महति मात्रा यस्व" जिसका स्थान ऊँचा हो वह महामात्र है। किन्तु महामात्रों के कार्यो के सम्बन्धमे विद्वानो मे मतभेद है। अनेको विद्वान महामात्रों को धर्म प्रचार के लिये नियुक्त कर्मचारी मानते हैं किन्तु अनेकों इन्हें प्रशासनीय स्तर पर कार्य करने वाले अधिकारी के रूप मे लेते हैं। वास्तविकता का निर्णय करने के लिये अशोक के शिलालेखों का अध्ययन आवश्यक है।

ब्रह्मगिरी प्रथम लघु शिलाभिलेख में अशोक कहते हैं "सुवर्णगिरि से आर्य पुत्र और महामात्रों की ओर से इसला के महामात्रों को अरोग्य कहना और यह सूचित करना कि देवताओं के प्रिय आज्ञा देते हैं कि अढाई वर्ष से अधिक हुये कि मे उपासक हुआ। परन्तु एक वर्ष अधिक उद्योग नही किया किन्तु एक वर्ष से अधिक हुये जब मै संघ में आया हूँ तबसे मैने खूब उद्योग किया है।" इस लेख मे अशोक महामात्रों को धर्म के प्रचार के लिये अत्यधिक उपयोग करनेका आदेश देते हैं।

कलिंग शिलाभिलेख २ में भी अशोक समापा तथा तोसाली में कुमार और महामात्रों को आदेश देते है कि वे सीमान्त जातियों में सम्राट् के प्रति विश्वास उत्पन्न करें और उन्हे धर्म-मार्ग पर चलाने के लिये निरन्तर प्रयत्न करें।

सारनाथ तथा कौशाम्बी के स्तम्भ लेखों मे भी अशोक महामात्रों को आदेश देते हैं कि वे बौद्ध संघ के नियमों का उल्लंघन न होने दें। अशोक की आज्ञा है कि जो भिक्षु अथवा भिक्षुणियाँ संघ में फूट डालेंगी वे श्वेत वस्त्र पहना कर संघ से निकाल दी जायेंगी।

अशोक की उपर्युक्त तीनों ही आज्ञायें धर्म से सम्वन्धित है और महामात्रों को अशोक की धर्म सम्बन्धी नीति के अनुसार आचरण करने के लिये आदेश देती हैं। इस आधार पर तो महामात्रों को धर्म का प्रचार करने के लिये

नियुक्त कर्मचारी मान लेना पड़ता है किन्तु इन आदेशों के सम्बोधन को जब कलिंग शिलाभिलेख प्रथम के साथ अध्ययन किया जाता है उस दशा मे महामात्रों की नियुक्ति का वास्तविक उद्देश्य दूसरा ही प्रतीत होता है।

कलिग शिलाभिलेख प्रथम मे अशोक कहते है "देवताओं के प्रिय की आज्ञा से तोसाली नगर में उन महामात्रो को जो उस नगर मे शासन करते हैं ऐसा कहना · ···आप लोग कई सहस्र प्राणियों के ऊपर रक्खे गये है कि जिसमें हम अच्छे लोगों के स्नेह-पात्र बने। सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं और जिस प्रकार मैं चाहता हूँ कि मेरे पुत्र गण सब तरह के हित और सुख को प्राप्त करें उसी प्रकार मै चाहता हूँ कि सब मनुष्य ऐहिक और पारलौकिक सब तरह के हित और सुख का लाभ उठायें।" इसी शिलाभिलेख में अशोक महामात्रों को वे आदेश भी देते हैं जिनके द्वारा वे अशोक की इच्छायें पूर्ण कर सकें। अशोक के कथनानुसार महामात्रों का कर्त्तव्य है कि वे किसी भी व्यक्ति को अकारण बन्दी न बनने दें क्योंकि एक व्यक्ति के अकारण बन्दी बनाये जाने से बहुत से लोगों को भी बड़ा दुख होता है (कलिंग शि० ले० १) अशोक पुनः कहते है कि महामात्रों को दण्ड का निर्णय करते समय मध्य-मार्ग अपनाना चाहिये। इस मार्ग को अपनाने के लिये उन्हें ईर्ष्या, श्रम का अभाव, निष्ठुरता, जल्दबाजी, अकर्मण्यता, आलस्य तथा तन्द्रा का त्याग कर देना चाहिये। (क० शि० ले० १)

महामात्रों के उपर्युक्त कार्यों का अध्ययन करने मे स्पष्ट हो जाता है कि महामात्र प्रान्तीय महत्वपूर्ण अधिकारी थे। ब्रह्मगिरि लघु शिलाभिलेख प्रथम तथा कलिंग शिलाभिलेख २ में भी जो आज्ञा सम्राट् ने दी है वह धर्म से सम्बन्धित अवश्य है किन्तु वह आज्ञा कुमार तथा महामात्र दोनो के लिये है। कुमारों के साथ महामात्रों का उल्लेख स्पष्ट कर देता है कि महामात्र सम्राट् द्वारा नियुक्त किये गये अधिकारी थे और उनका कार्य प्रशासनीय स्तर पर प्रान्तीय शासकों (कुमारों) की सहायता करना था। सारनाथ तथा कौशाम्बी के स्तम्भ लेखों में भी जो आज्ञा अशोक ने महामात्रों को दी है वह सारनाथ के शासक को दी गई मानी जानी चाहिये। यह अवश्य है कि महामात्रों को धार्मिक कार्य भी करने पड़ते थे किन्तु उनके इन धार्मिक कार्यो के लिये अशोक की नीति उत्तरदायी है। अशोक की आज्ञा थी कि "जब उक्त महामात्र दौरे पर निकलेगे तो अपने साधारण कार्यो को करते हुये इस बात पर भी ध्यान देंगे और राजा की आज्ञानुसार कार्य करेगे।" (क० शि० ले० १) शि० ले० ३ में भी अशोक ने अपने युक्त, रज्जुक तथा प्रादेशिक नामक अधिकारियों को राज्य कार्य के अतिरिक्त धर्म-प्रचार करने की आज्ञा दी है। अतः स्पष्ट है कि महामात्रों को अन्य कर्मचारियों के

समान ही दौरे पर जाने के समय प्रशासनीय कार्यों के साथ ही धार्मिक कार्य भी करने पड़ते थे और ये धार्मिक कार्य वे कार्य थे जिनसे सम्पूर्ण समाज की उन्नति होती थी और जिनमें "सब सम्प्रदाय वालों के सार (तत्व) की वृद्धि" (शि० ले० १२) की भावना निहित थी।

सारनाथ तथा कौशाम्बी के शिलाभिलेख में अवश्य महामात्रों को बौद्ध संघ की देख-भाल करने की आज्ञा दी गई है और उन्हें नियमों का उल्लंघन करने वाले भिक्षु अथवा भिक्षुणियों को दण्डित करने का आदेश दिया गया है किन्तु इसी आधार पर महामात्रों को धर्म के लिये ही नियुक्त राजकर्मचारी मानना भूल होगी। बौद्ध धर्म अशोक का धर्म था और उसके प्रचार के लिये वह सम्पूर्ण साम्राज्य के साधन तक जुटा देने को प्रस्तुत था। वास्तव मे अशोक का सम्पूर्ण साम्राज्य ही बौद्ध संघ के लिये था, अतः अशोक द्वारा अपने अधिकारियों को धर्म सम्बन्धी कार्यों के सम्पादन की आज्ञाये देना अनुचित प्रतीत नही होता। अतएव महामात्रों को वास्तविक रूप से प्रशासनीय कार्यों के लिये नियुक्त राज्य के उच्च अधिकारी ही मानना चाहिये।

अन्त महामात्र :—

अन्त महामात्र का उल्लेख अशोक ने अपने प्रथम स्तम्भ लेख में किया है। अन्त महामात्रों के सम्बन्ध में भी अनेकों विद्वानों ने भ्रमात्मक धारणा उत्पन्न करदी है। वे अन्त महामात्र को राज्य की सीमाके सीमान्त प्रदेशों में धर्म-प्रचार का कार्य करने के लिये नियुक्त अधिकारी मानते हैं। किन्तु यह धारणा उचित प्रतीत नहीं होती। अन्त महामात्र संस्कृत के अन्तपाल शब्द का बोधक है, अतः अन्त-महामात्र को सीमान्त प्रदेश का शासक ही मानना चाहिये। जो विद्वान अन्त-महामात्र नामक अधिकारियों को धर्म-प्रचारक मानते है वे अपने मत की पुष्टि के लिये स्तम्भ लेख प्रथम को प्रस्तुत करते हैं। इस लेख के अनुसार अन्त महा-मात्रों का कार्य लोगों को धर्म के अनुसार कार्य करने के लिये प्रेरित करना था और उनमें धर्म के प्रति अनुराग उत्पन्न करना था। किन्तु अन्त महामात्रों का यह कार्य, कार्य न होकर उद्देश्य था जिसकी पूर्ति उन्हें अन्य उपायों द्वारा करनी पड़ती थी। विद्वानों ने अन्त महामात्रों के सम्बन्ध में उद्देश्यों को ही कार्य मान कर उन्हें धर्म-प्रचारक मान बैठने की भूल की है। वास्तव में वे उन सिद्धान्तों की अवहेलना कर बैठे हैं जिन पर उनके कार्य आधारित हैं। अशोक के अनु-सार "धर्म के अनुसार पालन करना, धर्म के अनुसार काम करना, धर्म के अनु-सार सुख देना और धर्म के अनुसार रक्षा करना यही विधि (शासन का सिद्धान्त) है।" (स्तम्भ लेख १)। अशोक इन्हीं सद्धान्तों के आधार पर अन्त महामात्रों को

कार्य करने के लिये आदेश देते हैं। यहाँ पर धर्म शब्द का अशोक ने बार-बार उल्लेख किया है। सम्भवतः यह धर्म शब्द की पुनरावृत्ति भी विद्वानों को भ्रम मे डालने का कारण बन गई है। धर्म का अर्थ यहाँ पर संकुचित रूप मे नही लिया जाना चाहिये। अशोक स्वयं भी कभी धर्म को संकुचित अर्थों मे नही लेते। उनके अनुसार "धर्म यह है कि पाप से दूर रहे, बहुत से अच्छे काम करे, दया, दान, सत्य और शौच का पालन करे (स्तम्भ लेख २)। और फिर अशोक के शासन का उद्देश्य ही सम्पूर्ण मानव जाति का हित करना था। वह सदैव अपने ही पुत्रो के समान इहलोक तथा परलोक दोनो मे जनता के सुख की अभिलाषा करता है (कलिग शि० ले० २)। वह शि० ले०६ मे भी इसी उद्देश्य की घोषणा करता है। वह कहता है "जो कुछ मै पराक्रम करता हूँ सो इसलिये कि प्राणियो के प्रति जो मेरा ऋण है उससे उऋण होऊँ और यहाँ लोगों को सुखी करूँ और परलोक मे उन्हे स्वर्ग का लाभ कराऊँ।"

अतः स्पष्ट है कि अशोक का सम्पूर्ण शासन ही धार्मिक भावना पर आधारित था और उसके अधिकारी उसकी इन्ही भावनाओं की पूर्ति के साधक थे। अतएव अशोक के अधिकारियो के कार्यो के साथ धर्म शब्द के जुड़े होने से उन्हे धर्म-प्रचारक नही मान लेना चाहिये।ऐसा मानने से तो अशोकके सभी अधिकारी धर्म-प्रचारक बन जायेगे। अतः स्पष्ट है कि अन्त महामात्र भी धर्म-प्रचारक न होकर प्रशासनीय स्तर पर सीमान्त प्रदेशों के अधिकारी थे। यह अवश्य है कि उन्हें प्रशासनीय कार्यों के साथ धर्म का प्रचार भी करना होता था। अशोक की निती को ध्यान में रखते हुये अन्त महामात्रों का यह कार्य अनुचित भी प्रतीत नहीं होता।

पुरुष :—

अशोक ने अपने इस महत्वपूर्ण अधिकारी का उल्लेख स्तम्भ लेख १, ४ तथा ७ में किया है। इन लेखों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि पुरुष सम्भवतः तीन श्रेणियों में विभाजित थे स्तम्भ लेख १ में सम्राट् कहते हैं "मेरे पुरुष चाहें वे उच्च पद पर हों या नीच पद पर अथवा मध्यम पद पर मेरी शिक्षा के अनुसार कार्य करते हैं और ऐसा उपाय करते है कि चंचल-मति लोग भी धर्म का आचरण करें।" इस लेख से यह स्पष्ट हो जाता हैं कि पुरुष किसी निश्चित पद वाले कर्मचारी का नाम नहीं, वरन् उन विभिन्न श्रेणियों वाले कर्मचारियों के लिये प्रयुक्त सम्बोधन है जो किसी निश्चित उद्देश्य से नियुक्त किये जाते थे।

पुरुषों के कार्य क्या थे, इस सम्बन्ध में स्तम्भ लेख ४ तथा ७ पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। स्तम्भ लेख ४ में सम्राट् कहते हैं "रज्जुक लोग मेरी आज्ञा

पालन करने का भरपूर प्रत्यन करते हैं और मेरे पुरुष भी मेरी इच्छा और आज्ञा के अनुसार काम करेंगे और वे भी कभी-कभी ऐसे उपदेश देगे जिससे रज्जुक लोग मुझे प्रसन्न करने का प्रयत्न करें।" स्तम्भ लेख ७ मे भी सम्राट् ने पुरुषों का उल्लेख करते हुये कहा है "इसी उद्देश्य से धर्मश्रवण कराया गया और विविध प्रकार से धर्म का उपदेश दिया गया, जिसमें कि मेरे पुरुष नामक कर्मचारीगण जो बहुत से लोगों के ऊपर नियुक्त हैं मेरे उपदेश का प्रचार करे और उनका खूब विस्तार करें।"

स्तम्भ लेख ४ तथा ७ के अध्ययन से पुरुषों के पद के महत्व पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। जहाँ स्तम्भ लेख ७ पुरुषों को धर्म-प्रचारक के रूप मे प्रस्तुत करता है वहाँ स्तम्भ लेख ४ इस सत्य की स्पष्ट घोषणा करता है कि पुरुष नामक कर्मचारियों को रज्जुकों को भी उपदेश देने का अधिकार था। रज्जुक, जिन्हें सम्राट् ने लाखो मनुष्यों के ऊपर नियुक्त किया था और जिन्हे उसने पुरस्कार तथा दण्ड देने का अधिकार प्रदान करदिया था जिससे वे निश्चिन्त और निर्भय होकर अपना कर्त्तव्य करें, लोगों के हित और सुख का ध्यान रक्ख और लोगों पर अनुग्रह करें (स्तम्भ लेख ४) निश्चय ही साम्राज्य के अत्यधिक महत्वपूर्ण अधिकारी थे। अतः स्पष्ट है कि रज्जुकों से महत्वपूर्ण अधिकारियों को भी आदेश देने वाले 'पुरुष' साम्राज्य के और भी अधिक उच्च श्रेणी के अधिकारी रहे होगे। सम्भवतः पुरुषो का कार्य निरीक्षणात्मक था और साथ ही अशोक की धर्म सम्बन्धी नीति को सफल बनाने का उत्तरदायित्व भी इन्हीं अधिकारियों पर था।

धर्मयुक्त :—

धर्मयुक्त नामक कर्मचारियों के सम्बन्ध मे शि० ले० ५, स्तम्भ लेख ४ तथा ७ पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

शि० ल० ५ के अनुसार "ये धर्म महामात्र मेरे राज्य मे सब जगह धर्म और दान सम्बन्धी कार्यो का (निरीक्षण करने के लिये) धर्मयुक्त नामक कर्म चारियों के बीच नियुक्त है।"

स्तम्भ लेख ४ के अनुसार "वे (रज्जुक) सुख और दुःख का कारण जानने का प्रयत्न करेंगे और धर्मयुक्त नामक छोटे कर्मचारियों के द्वारा लोगों को ऐसा उपदेश देगे कि जिससे वे ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करे।"

स्तम्भ लेख ७ मे भी सम्राट् ने धर्मयुक्त नामक कर्मचारियों का उल्लेख

करते हुये कहा है "रज्जुकों को भी जो लाखों मनुष्यों पर नियुक्त हैं यह आज्ञा दी गई है कि धर्मयुक्त नामक कर्मचारियों को इस प्रकार उपदेश देना.......।"

उपर्युक्त लेखोंके अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि धर्मयुक्त नामक कर्मचारी निम्न श्रेणी के अधिकारी थे और ये धर्ममहामात्र तथा रज्जुक नामक अधिकारियों की आधीनता में धर्म सम्बन्धी कार्यो का सम्पादन करते थे।

अधिकारियों द्वारा दौरा :—

अशोक के पदाधिकारियों के अध्ययन से जहाँ अशोक की शासन-व्यवस्था की रूप-रेखा बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है वही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अशोक अपने शासन को लोक मंगलकारी बनाने के लिये अत्यधिक चिन्तित था। वह अधिकारियों की स्वेच्छाचारिता से परिचित था और इसके परिणाम स्वरूप जनता पर होने वाले अत्याचारों का भी उसे पूर्ण ज्ञान था। अतः उसने अधिकारियों की स्वेच्छाचारिता पर नियन्त्रण बनाये रखने के लिये अनेकों महत्वपूर्ण सुधार किये। उसके इन महत्वपूर्ण कार्यो मे अधिकारियो द्वारा दौरा करने का नियम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

कलिंग शिलाभिलेख प्रथम मे अशोक कहते है "यह लेख इस लिये लिखा गया कि जिसमे नगर व्यावहारिक सदा इस बात का प्रयत्न करे कि नगर निवासियों को अकारण बन्धन या दण्ड न हो। और इसीलिये मै धर्मानुसार पाँच-पाँच वर्ष पर (ऐसे कर्मचारियों को) बाहर (दौरे पर) भेजा करूंगा जो नरम, क्रोध रहित और दयालु होगे और जो इस कार्य को ध्यान मे रखते हुये मेरी आज्ञा के अनुसार चलेगे। उज्जयिनी मे भी कुमार इस कार्य के लिये इसी प्रकार कर्मचारियों को तीन-तीन वर्ष के अन्दर भेजेगे। पर तीन वर्ष से अधिक का अन्तर न देंगे। तक्षशिला के लिये भी यही आज्ञा है। जब उक्त महामात्र दौरे पर निकलेगे तो अपने साधारण कार्यों को करते हुये इस बात पर भी ध्यान देंगे और राजा की आज्ञानुसार कार्य करेगे।"

उपर्युक्त लेख से स्पष्ट हो जाता है कि अशोक ने अधिकारियों के लिये दौरे पर जाना अनिवार्य कर दिया था। स्वय (अशोक) द्वारा प्रत्यक्ष रूप से शासित प्रदेशों मे, अधिकारी प्रत्येक पाँचवें वर्ष दोरे पर जाते थे किन्तु उज्जयिनी तथा तक्षशिला के अधिकारियों को दौरे के लिये प्रत्येक तीसरे वर्ष कर्मचारियों को भेजना पड़ता था। अशोक की इस आज्ञा में दौरे के लिये जाने में समय का अन्तर महत्वपूर्ण है। सम्भवतः अशोक दूरस्थ प्रदेशों में अधिकारियों के निरंकुश बन जाने की सम्भावनाओं से पूर्णतया परिचित था और इसीलिये उसने उन प्रदेशों में प्रत्येक तीसरे वर्ष निरीक्षण कार्य की योजना बनाई थी। प्रत्यक्ष रूप

से शासित प्रदेशों में अधिकारियों के निरंकुश बनने की सम्भावना न्यूनतम थी अतः वहाँ प्रत्येक पाँचवें वर्ष दौरे पर जाने का नियम था। अशोक की यह योजना उसकी राजनीतिक दूरदर्शिता तथा कार्यपटुता की द्योतक है।

दौरे पर जाने वाले अधिकारियो के गुणों की व्याख्या कर अशोक ने जहाँ अपनी आज्ञा को स्पष्ट कर दिया है वही उसने अपनी भावनाओं का प्रदर्शन भी सही रूप मे कर दिया है। अशोक की आज्ञानुसार दौरे पर जाने वाले कर्मचारी नरम, क्रोध-रहित तथा दयालु होने चाहिये। सम्भवतः अपनी इस आज्ञा द्वारा अशोक यह स्पष्ट कर देना चाहता है निरीक्षण कार्य के प्रति जाने वाले कर्मचारी निरीक्षणात्मक प्रदेशो के अधिकारियो के साथ अमानुषिक व्यवहार नही करेंगे। वे उनकी कठिनाइयों तथा दुर्बलताओ का अध्ययन शान्त हृदय से करेंगे और उन्हे दूर करने के उपायों पर सहानुभूतात्मक ढंग से विचार करेंगे। अशोक की इच्छा थी कि नगर-निवासियो को अकारण बन्धन या दण्ड न दिया जाय (कलिग शि० ले० १) क्योंकि "जब किसी को कैद वगैरह बिना कारण के होता है तो और बहुत से लोगो को भी बड़ा दुःख होता है (कलिग शि० ले० १)। इस दुःख का परिणाम साम्राज्य के लिये अनिष्टकारक हो सकता है, अशोक इस सत्य से परिचित थे और साथ ही अशोक स्वयं भी अपने अस्तित्व का उद्देश्य प्रजा को सुख पहुंचाने के लिये मानते थे। वे राजा होने के नाते अपने को प्रजा का ऋणी मानते हैं (शि० ले० ६) और इस ऋण से उऋण होने के लिये वे दिन-रात जनता के हित-चिन्तन मे व्यस्त रहते है (शि० ले० ६) वे अपने कर्मचारियो से भी यही आशा करते है कि वे भी प्रजा को सुख पहुंचाने के लिये उसी प्रकार व्यस्त तथा चिन्तित रहेगे क्योंकि जो कर्मचारी उसकी आज्ञा अथवा अपने कर्त्तव्यों का पालन न करेंगे वे न तो स्वर्ग प्राप्त कर सकेंगे और न राजा को प्रसन्न कर सकेंगे (कलिग शि० ले० १)। दोरे पर निकलने वाले कर्मचारियों को इसीलिये अशोक की आज्ञा थी कि वे जब दौरे पर निकले तो अपने साधारण कार्यो को करते हुये इस बात पर भी ध्यान दें कि राजा की आज्ञानुसार कार्य किया जाय (कलिग शि० ले० १)। अतः स्पष्ट है कि कर्मचारियों को दौरे पर भेजने मे अशोक के दो उद्देश्य प्रतीत होते हैं :—

१. प्रशासनीय :—

(क) निरीक्षण द्वारा अधिकारियों को निरंकुश बनने से रोकना।

(ख) अधिकारियों की दुर्बलताओ को दूर करना तथा कठिनाइयों को सुलझाना।

(ग) अकारण बन्धन या दण्ड को रोकना।

(घ) अधिकारियों को प्रजा को प्रत्येक रूप से सुखी रखने के लिये प्रोत्साहित करना और राजा की आज्ञाओं तथा इच्छाओं से अवगत कराना।

२. धार्मिक :—

अशोक का अधिकारियों को दौरे पर भेजने में धार्मिक उद्देश्य भी था यह शि० ले० ३ तथा सारनाथ स्तम्भ लेख से स्पष्ट हो जाता है। शि० ले० ३ में अशोक कहते है "मेरे राज्य में सब जगह युक्त, रज्जुक और प्रादेशिक पाँच-पाँच वर्ष पर इस काम के लिये (अर्थात्) धर्मानुशासन के लिये तथा और-और कामों के लिये (सर्वत्र यह कहते हुये) दौरा करें कि—"माता पिता की सेवा करना तथा मित्र, परिचित, सजातीय ब्राह्मण और श्रमण को दान देना अच्छा है। जीवहिंसा न करना अच्छा है। थोड़ा व्यय करना और थोड़ा संचय करना अच्छा है।" परिषद (बौद्ध संघ) भी युक्त को भण्डार का निरीक्षण करने और हिसाब-किताब की जाँच करने के लिये आज्ञा देंगे।"

उपर्युक्त लेख से स्पष्ट हो जाता है कि अशोक के अधिकारियों को दौरे पर निकलने के समय प्रशासनीय कार्यों के अतिरिक्त धर्मानुशासन के अन्तर्गत प्रजा का नैतिक स्तर ऊँचा उठाने के लिये भी कार्य करना पड़ता था। बौद्ध संघ के कार्यों का निरीक्षण भी अशोक के अधिकारी करते थे, यह भी उपर्युक्त लेख से विदित हो जाता है और सारनाथ स्तम्भ लेख तो इस सत्य की पूर्णतया पुष्टि ही कर देता है। इस स्तम्भ लेख के अनुसार बौद्ध धर्म द्वारा निश्चित उपवास के दिनों में महामात्रों को उपवास व्रत पालन करने के लिये, सम्राट की आज्ञा के मर्म को समझाने तथा उसका प्रचार करने के लिये संघो मे जाना पड़ता था। महामात्रों को संघों मे उपवास के दिन भेजने और सम्राट् की आज्ञा के मर्म को समझाने का आदेश देने मे भी सम्भवतः अशोक का एक निश्चित उद्देश्य था। उपवास के दिनों में संघों में बहुत से भिक्षुओं के मिलने पर धर्म सम्बन्धी वाद-विवाद होते थे और ऐसे अवसरों पर धर्म सम्बन्धी मतभेद उपस्थित हो सकते थे और जो संघ-भेद का कारण बन सकते थे। बौद्ध धर्म के विकास के लिये संघ-भेद रोकना नितान्त आवश्यक था। अतः इसी संघ-भेद के भय को रोकने के लिए अशोक ने सारनाथ स्तम्भ लेख लिखवाया था और महामात्रों को वहाँ वर्तमान रहने का आदेश दिया था।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अशोक के अधिकारियों को प्रशासनीय कार्यों के अतिरिक्त धर्म-प्रचार के हेतु भी दौरे पर जाना होता था। अतएव सुशासन तथा धर्म-संस्थापन ही के लिये अशोक ने दौरे की प्रथा प्रचलित की थी, इस सत्य को स्वीकार करने मे लेशमात्र भी संशय नही रहता।

गुप्तचर विभाग :—

सम्राट् होते हुए भी अशोक स्वयं को प्रजा का सेवक मानते थे और सेवक के रूप मे प्रजा का अधिक से अधिक हित करना अपना कर्तव्य समझते थे। राजा होने के नाते अशोक अपने को प्रजा का ऋणी मानते हैं क्योकि वे प्रजा द्वारा प्राप्त धन का उपभोग करते है। इस ऋण से मुक्त होने के लिये वे अधिक से अधिक परिश्रम करने को तत्पर हैं। वे कहते हैं "जो कुछ मै पराक्रम करता हूँ वह इसलिये कि प्राणियो के प्रति जो मेरा ऋण है उससे उऋण होऊँ और यहाँ कुछ लोगो को सुखी करूँ तथा परलोक मे उन्हे स्वर्ग का लाभ कराऊँ" (शि० ले० ६) किन्तु अकथ परिश्रम करने के उपरान्त भी अशोक को सन्तोप नही होता (शि० ले० ६)। वे इस सत्य को स्वीकार करते है कि 'सब लोगों के हित साधन की अपेक्षा और कोई बड़ा करणीय कार्य नही है" (शि० ले० ६) अतः वे प्रत्येक समय तथा प्रत्येक स्थान पर प्रजा का कार्य करने के लिये तत्पर रहते है। वे चाहते हैं कि उन्हे प्रजा के समाचार प्रत्येक समय मिलते रहें। प्रजा का समाचार ज्ञात करने के लिये अशोक ने एक गुप्तचर विभाग की स्थापना की। इस विभाग की स्थापना के सम्बन्ध मे अशोक स्वयं कहते हैं "बहुत दिन हो गये बराबर हर समय राज का काम नही होता और प्रतिवेदकों (गुप्तचरो) से समाचार हर समय नही सुना जाता। इसलिये मैने यह (प्रबन्ध) किया है कि हर समय चाहे मै खाता होऊँ या अतःपुर मे रहूँ, शयनगृह मे रहूँ या पशुशाला मे रहूँ, गाड़ी मे रहूँ या उद्यान में रहूँ सब जगह प्रतिवेदक (गुप्तचर लोग) प्रजा का हालचाल मुझे सुनावे। मै प्रजा का काम सब जगह करूँगा" (शि० ले० ६)।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि अशोक का गुप्तचर विभाग अपने ढंग का एक नवीन विभाग था। यह अवश्य है कि अशोक से पहिले भी गुप्तचर विभाग था किन्तु उसका उद्देश्य भिन्न था मेगस्थनीज तथा चाणक्य दोनों ने ही गुप्तचर विभाग का वर्णन किया है। इन वर्णनों के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि गुप्तचर विभाग की स्थापना राजा के अस्तित्व की दृढ़ करने के लिये की जाती थी। देश मे होने वाले विद्रोहों तथा षड़यन्त्रों का सूचना राजा को देना ही उसका मुख्य कार्य था। उसे प्रजा की कठिनाइयों से कोई भी मतलब न था। किन्तु अशोक ने इस परम्परा का नाश कर दिया। उसने प्रतिवेदकों की नियुक्ति की किन्तु इसलिये कि वे उसे प्रजा की कठिनाइयों की सूचना प्रत्येक समय दे जिससे कि वह प्रजा का प्रत्येक समय अधिक से

अधिक हित कर सके। गुप्तचर विभाग के उद्देश्यों में यह परिवर्तन एक महान् परिवर्तन था और इसमे जिस विशाल मानवीयता के दर्शन होते हैं वह अन्यत्र नही मिलती।

गुप्तचर विभाग के सम्बन्ध में अशोक ने जिस नवीन परम्परा को जन्म दिया, उसकी सफलता के लिये वह जितना उत्सुक है उतना ही उसे चिर-स्थायी बनाने के लिये भी। वह चाहता है उसकी चलाई परम्परा के अनुसार ही उसके पुत्र तथा पौत्र कार्य करे। इस सम्बन्ध मे अशोक का कथन है "यह धर्म लेख इसलिये लिखवाया गया है कि यह चिरिस्थित रहे और मेरे स्त्री, पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र सब लोगों के हित के लिये पराक्रम करें" (शि० ले० ६)। अशोक की यह महान् मानवीय भावना विश्व के इतिहास मे सदैव अमर रहेगी।

अशोक के गुप्तचर विभाग के अध्ययन से एक नवीन समस्या उठ खडी होती है। चाणक्य के अनुसार साम्राज्य की नीति को सफल बनाने का उत्तर-दायित्व गुप्तचर विभाग पर निर्भर है। आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओं को खोज निकालना, संघो आदि की शक्ति को तोड़ना तथा सीमान्त राज्यो के कार्यो एवम् बल-अबल पर दृष्टि रखना ही चाणक्य के अनुसार गुप्तचर विभाग का कार्य था। वास्तव मे निरंकुश साम्राज्य की स्थापना के लिये उपर्युक्त तत्वों पर दृष्टि रखना नितान्त आवश्यक भी था। क्या अशोक ने गुप्तचर विभाग सम्बन्धी नवीन परम्परा की स्थापना के प्रयास मे प्रचलित परम्परा को समाप्त कर दिया ? यदि अशोक ने ऐसा किया तो उसने साम्राज्य की दृढ़ता के आधारभूत तत्व का नाश कर उसके पतन का बीजारोपण कर दिया। किन्तु कुछ इतिहास-कार इसा आधार पर अशोक को मौर्य वंश के पतन का कारण भी मान बैठे हैं। किन्तु यह भूल है। यह अवश्य है कि अशोक ने गुप्तचर विभाग की प्रचलित परम्परा का नाश किया और उसके स्थान पर उसने एक नवीन परम्परा की स्थापना की, किन्तु अपने इस प्रयास मे उसने साम्राज्य का ह्रास नही होने दिया। सम्भवतः उसने गुप्तचरों के कार्यों मे प्रचलित कार्यो को द्वितीय स्थान दिया। प्रथम स्थान जनता के कार्यो को दिया गया। अशोक का शि० ले० ६ इस सत्य का प्रमाण है। वह कहता है "बहुत दिन होगये बराबर हर समय राज का काम नही होता और प्रतिवेदकों से समाचार हर समय नही सुना जाता" (शि० ले० ६)। अतः स्पष्ट है कि अशोक गुप्तचर विभाग की प्रचलित परम्परा को पूर्णतया नाश करने की घोषणा नही करता वह तो इस विभाग के दोषों की ओर संकेत करता है और इन दोषों को दूर करने के लिये सुधार भी करता है। अतएव स्पष्ट हो जाता है कि अशोक के सुधार से गुप्तचर विभाग का वास्तविक कार्य

नष्ट नही हो जाता वरन् उसके स्थान मे परिवर्तन होता है और यह परिवर्तन जहाँ गुप्तचर विभाग को जन-प्रिय बना देता है, वही साम्राज्य को वह दृढ़ता भी प्रदान करता है, जो शक्ति से प्राप्त नही हो सकती।

दण्ड व्यवस्था :—

अशोक से पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य तथा बिन्दुसार के शासनकाल मे दण्ड व्यवस्था कठोर थी। साधारण से अपराधों के लिये कठोर दण्ड दिये जाते थे। अंग-भंग का दण्ड तो साधारण-सा दण्ड था। शिल्पियों का हाथ काटने वाले तथा बाँधों को हानि पहुँचाने वाले व्यक्तियों को मृत्यु दण्ड मिलता था। चन्द्र-गुप्त के प्रधान-मन्त्री चाणक्य की इस सम्बन्ध मे नीति तथा मेगस्थनीज का विवरण इस दण्ड सम्बन्धी कठोरता के प्रमाण है। यह अवश्य है कि चन्द्रगुप्त ने नन्द वंश का नाश कर राज्य प्राप्त किया था और इस शक्ति द्वारा प्राप्त राज्य को दृढ़ बनाने के लिये उसे दण्ड के क्षेत्र मे कठोरता का प्रदर्शन करने के लिये बाध्य होना पड़ा था, फिर भी मानवीय स्तर पर इस कठोरता का अनु-मोदन किसी भी रूप मे नही किया जा सकता।

अशोक के समय में दण्ड व्यवस्था क्या थी, इसका उचित ज्ञान प्राप्त करना प्रमाणों के अभाव मे कठिन है। किन्तु अशोक को भी भयंकर युद्ध के उपरान्त साम्राज्य प्राप्त करने में सफलता मिली थी और वह भी अपने प्रारं-भिक शासनकाल मे पूर्णतया साम्राज्यवादी था, इस सत्य के आधार पर यह अवश्य अनुमान किया जा सकता है कि इस काल मे उसका दण्ड विधान भी कठोर था। इस काल के उपरान्त बौद्ध धर्म के सम्पर्क मे आने तथा उसे स्वीकार कर लेने पर अवश्य उसकी नीति मे परिवर्तन हुआ। उसके लेख इस सत्य के प्रमाण है। इस काल में वह कठोर दण्डों को अमानुषिक मानने लगा था क्योंकि वह प्रजा को शासित व्यक्तियों का समूह न मानकर अपने पुत्रवत् मानता था। वह स्वयं कहता है "जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने लड़के को निपुण धाई के हाथ मे सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है (और सोचता है कि) यह धाई मेरे लड़के को सुख पहुँचाने की भरपूर चेष्टा करेगी, उसी प्रकार लोगों को सुख पहुँचाने के लिये मैंने रज्जुक नाम के कर्मचारी नियुक्त किये हैं" (स्तम्भ ले० ४)। अपनी इस मानवीय भावना को चिरतार्थ करने के लिये उसने पुरस्कार तथा दण्ड देने का अधिकार रज्जुकों को दे दिया था। उसकी आज्ञा थी की न्याय के क्षेत्र में व्यवहार समता तथा दण्ड समता से कार्य किया जाय (स्तम्भ ले० ४)। व्यवहार समता तथा दण्ड समता के विद्वानों ने विभिन्न अर्थ लगाये हैं। यह अवश्य है कि व्यवहार समता से अशोक का क्या तात्पर्य था स्पष्ट नहीं

होता फिर भी व्यावहारिक रूप से यही विदित होता है कि व्यवहार समता से तात्पर्य न्याय के क्षेत्र में समानता से है। न्याय प्राप्त करने का अधिकार समान रूप से सभी को प्राप्त होना चाहिये। इसमें गरीब-अमीर तथा ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं होना चाहिये। समाज में बहुधा देखा जाता है कि धनवान व्यक्तियों के समक्ष धनहीन व्यक्तियों की अवहेलना कर दी जाती है। एकसे अपराध करने पर धनहीन व्यक्ति न्यायालय के समक्ष उपस्थित कर दिया जाता है और धनवान उससे मुक्त। अशोक इस भेद को मिटा देना चाहते थे। दण्ड समता से तात्पर्य दण्ड की समानता से है। एक से अपराध के लिये अपराधी को चाहे वह धनवान हो अथवा धनहीन, उच्च वर्ण का हो अथवा निम्न-श्रेणी का एक सा ही दण्ड दिया जाना चाहिये। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अशोक ने व्यवहार-समता तथा दण्ड-समता का नियम बनाकर दण्ड विधान को वह मानवीय स्तर प्रदान कर दिया जो पिछले काल मे नही दिखाई देता। समानता की इस भावना द्वारा उसने राष्ट्रीयता के निर्माण मे भी महान् सहयोग प्रदान किया।

अशोक से पूर्व और अशोक के प्रारम्भिक शासन-काल में विद्रोह की आशंका पर अनेकों व्यक्ति अकारण ही बन्दी बना लिये जाते थे। अशोक अब इस नीति का समर्थन नहीं करता। वह इस सत्य से परिचित है कि अकारण बन्दी बनाये जाने पर और बहुत से लोगों को भी बड़ा दुःख होता है (कलिंग शि० ले० १)। अतः वह दण्ड देने के समय अधिकारियों को अत्यन्त कठोरता और अत्यन्त दया त्यागकर मध्य-पथ आलम्बन करने को कहता है (कलिंग शि० ले० १)। न्याय के लिये ईर्ष्या, श्रम का अभाव, निष्ठुरता, जल्दबाजी, अकर्मण्यता, आलस्य और तन्द्रा का त्याग वह आवश्यक समझता है (कलिंग शि० ले० १)। नगर-व्यवहारिकों को भी वह आदेश देता है कि वे सदा इस बात का प्रयत्न करें कि नगर निवासियों को अकारण बन्धन या दण्ड न हो" (कलिंग शि० ले० १)।

आज्ञा देकर ही अशोक को सन्तोष नही होता। वह अपनी आज्ञाओं का पालन चाहता है और इसी कारण यह ज्ञात करने के लिये कि उसके आदेशों का पालन होता है अथवा नहीं वह अपने क्रोध-रहित तथा दयालु कर्मचारियों द्वारा अधिकारी वर्ग के कार्यों का निरीक्षण कराने की योजना भी बनाता है।

दण्ड-व्यवस्था के क्षेत्र में अशोक का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा मौलिक सुधार मृत्यु-दण्ड पाये हुये अपराधियों को तीन दिन का समय प्रदान करने का था। उसकी आज्ञा थी "कारगार में पड़े हुये जिन मनुष्यों को मृत्यु का दण्ड

निश्चय हो चुका है उन्हें तीन दिन का समय दिया जाय। (इस बीच में अर्थात् इन तीन दिनों के अन्दर) जिन लोगों को बध का दण्ड मिला है उनके जाति-कुटुम्ब वाले उनके जीवन के लिये ध्यान करेंगे और अन्त तक ध्यान करते हुए परलोक के लिये दान देंगे तथा उपवास करेंगे। क्योंकि मेरी इच्छा है कि कारागार में रहने के समय भी दण्ड पाये हुये लोग परलोक का चिन्तन करें और लोगों में अनेक प्रकार का धर्माचरण, संयम और दान करने की इच्छा बढ़े" (स्तम्भ लेख ४)। इस प्रकार अशोक ने मृत्यु-दण्ड पाने वाले बन्दियों को तीन दिन का समय प्रदान कर उनके परिवार वालों को यह अवसर प्रदान कर दिया कि वे उनके जीवन को बचाने के लिये इस समय में अपील कर सकें।

अशोक के इस नियम से ऐसा प्रतीत होता है कि इस नियम के बनने से प्रथम मृत्यु दण्ड प्राप्त बन्दियों को निर्णय के शीघ्र उपरान्त ही मृत्यु-दण्ड दे दिया जाता था और यदि इस निर्णय से बन्दियों को न्याय प्राप्त न हो सका है तो वे न्याय से वंचित रह जाते थे। इस प्रकार तीन दिन का समय अपील के लिये प्रदान कर अशोक ने बन्दियों को नव-जीवन प्राप्त करने का अवसर प्रदान कर दिया। और यदि मृत्यु-दण्ड न बदला जा सके तो भी बन्दी तथा परिवार वालों को उपवास तथा दान आदि द्वारा बन्दी के जीवन को स्वर्ग प्राप्ति के योग्य बनाने का अवसर मिल जाता था। अशोक का यह सुधार जहाँ उसकी दण्ड-व्यवस्था की सरलता का परिचायक है वहीं इसके द्वारा उसकी मानवोचित भावना का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

सार्वजनिक कार्य :—

अशोक अपने सार्वजनिक कार्यो के लिये भारतीय इतिहास मे ही नही वरन् विश्व के इतिहास में चिर-स्मरणीय रहेगा। सम्भवतः विश्व के इतिहास मे अशोक ही सर्व प्रथम सम्राट है जिसने एक विशाल स्तर पर चिकित्सा का प्रबन्ध कराया। अपने साम्राज्य मे हा नहीं वरन् साम्राज्य से बाहर के देशों जैसे चोड, पांड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपर्णी, अन्तियोक तथा उसके पड़ोसी राज्यों में भी उसने चिकित्सालयों की स्थापना की (शि० ले० २) जहाँ निःशुल्क दवा दी जाती थी। ये चिकित्सालय दो प्रकार के थे। १—मनुष्यों के लिये तथा २—पशुओं के लिये (शि० ले० २)। मनुष्यों के लिये चिकित्सा का प्रबन्ध तो उससे प्रथम अन्य शासकों ने भी किसी न किसी सीमा तक किया था किन्तु पशुओं की चिकित्सा की ओर किसी ने भी ध्यान न दिया था। अशोक ने सर्व प्रथम इस क्षेत्र की ओर ध्यान ही नहीं दिया वरन् पशु-चिकित्सा की उसी संलग्नता से व्यवस्था की जिस प्रकार कि मनुष्य चिकित्सा की।

चिकित्सा के सम्बन्ध में यह सत्य और भी महत्वपूर्ण है कि अशोक ने औषधियों के सम्बन्ध मे आज के समान भारत को अन्य देशों पर निर्भर नहीं रहने दिया था। उसने औषधियों के उत्पादन मे आत्म-निर्भरता प्राप्त करली थी। देश मे स्थान-स्थान पर औषधियो के लिये आवश्यक वृक्षो के उद्यान लगाये गये थे, औषधियो के निर्माण के लिये केन्द्र स्थापित किये गये थे। वह स्वयं कहता है "औषधियाँ भी मनुष्यों और पशुओं के लिये जहाँ-जहाँ नहीं थी तहाँ-तहाँ लाई और रोपी गई है। इसी तरह से मूल और फल भी जहाँ-जहाँ नही थे सब जगह लाये और रोपे गये हैं" (शि० ले० २)।

इस प्रकार अशोक के चिकित्सा सम्बन्धी क्षेत्र और औषधियों के उत्पादन की व्यवस्था से स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि अशोक का यह मानवीय कार्य उसे सहज ही महानता प्रदान कर देने मे पूर्णतया समर्थ है। भारतीय व्यय पर विदेशी नागरिकों के लिये चिकित्सा के प्रबन्ध की योजना और वह भी बिना किसी राजनीतिक, धार्मिक तथा आर्थिक स्वार्थ के, इस सत्य का प्रत्यक्ष दिग्दर्शन करा देती है कि भारत सदैव ही विश्व बन्धुत्व की भावना को प्रमुख मानता रहा और आज जिस उद्देश्य को लेकर यू० एन० ओ० को जन्म दिया गया, उसका पथ प्रदर्शन भारत ने आज से सहस्रों वर्ष पूर्व ही कर दिया था। आज से यातायात सम्बन्धी साधनों के अभाव मे उस काल मे किस प्रकार इस विशाल योजना को क्रियान्वित किया गया होगा आज भी विद्वानों को आश्चर्य में डालने के लिये पर्याप्त है।

अशोक का सार्वजनिक-हित के क्षेत्र में दूसरा महत्वपूर्ण कार्य मार्गों में पशुओं और मनुष्यों के आराम के लिये वृक्ष लगवाना तथा कुएँ खुदवाना है (शि० ले० २)। स्तम्भ लेख ७ भी इस सत्य की पूर्णतया पुष्टि कर देता है। स्तम्भ लेख ७ मे अशोक ने स्वयं कहा है "सड़कों पर भी मैंने मनुष्यों और पशुओं को छाया देने के लिये बरगद के पेड़ लगवाये, आम्रवृक्ष की बाटिकाएँ लगवाईं, आठ-आठ कोस पर कुएँ खुदवाये, सरायें बनवाईं और जहाँ-तहाँ पशुओं और मनुष्यों के उपकार के लिये अनेक पौसले (आपान) बैठाये।"

उपर्युक्त लेख से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अशोक ने प्रजा के हितार्थ केवल कुएँ ही नहीं खुदवाये और वृक्ष ही नहीं लगवाये वरन् आपान भी बैठाये और सरायें भी बनवाईं जहाँ यात्री सुरक्षापूर्वक विश्राम कर सकें। अशोक के इन महत्वपूर्ण कार्यों के सम्बन्ध मे एक ऐसी समस्या उठ खड़ी हुई है जिसका समाधान अभी तक न हो सका है। स्तम्भ लेख में स्थान की दूरी के सम्बन्ध में 'अढकोसिक्यानि' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस शब्द के अर्थ विद्वानों

ने दो प्रकार से किये हैं। कुछ तो इसका अर्थ आठ कोस मानते हैं और कुछ आध कोस। फ्लीट महोदय अढकोसिक्यानि को अष्टक्रोशिक्यानि का अपभ्रंश रूप मानकर इसका अर्थ आठ कोस मानते हैं किन्तु ब्यूलर और उन्ही के आधार पर स्मिथ महोदय अढकोसिक्यानि को आर्धक्रोशिकीयानि का अपभ्रंश मानकर इसका अर्थ आध कोस लगाते हैं। इन दोनों ही विभिन्न मतों का मूल्यांकन करने के लिये सत्य की खोज नितान्त आवश्यक है। अशोक के लेखों में आठ के लिये अठ शब्द का प्रयोग हुआ है। शि० ले० १३ (कालसी) में संस्कृत के 'अष्टवर्षाभिषिक्तस्य' के लिये 'अठवषाभिसितषा' लिखा है। सम्भवतः यही 'अठ' 'अढ' में भी परिणित होगया। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान पिशल महोदय ने ऐसे बहुत से प्राकृत शब्दों के उदाहरण अपने प्राकृत भाषा के व्याकरण मे दिये हैं जिनमे 'अष्ट' का अपभ्रंश 'अढ' हुआ है। प्रचलित हिन्दी, मराठी, गुजराती तथा अन्य प्राकृत भाषाओं मे भी 'अष्ट' का 'अढ' रूप प्रायः देखा जाता है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि 'अढ' अष्ट का अपभ्रंश है, अर्ध का नही। व्यावहारिक रूप से भी 'अष्ट' ही उचित प्रतीत होता है। आध-आध कोस पर कुयें तथा सरायें आदि का निर्माण जितना हास्यास्पद है उतना ही व्यय के दृष्टिकोण से असम्भव भी। आध कोस मार्ग यात्री अधिक से अधिक १५ मिनटों मे तय कर लेगा। १५ मिनट में ही यात्री थक कर सरायों में आराम करना चाहेगा तथा प्यास अनुभव करने लगेगा, कहना सुकुमारता की वह पराकाष्ठा है जो मानव के पौरुष को पूर्णतया कलंकित करने मे समर्थ है। आठ कोस यात्रा करने के उपरान्त मनुष्य अवश्य विश्राम करना चाहता है। भारतीय इतिहास के पृष्ठ भी इस सत्य की पुष्टि करते है। ह्यानसांग कहता है कि सेना का एक दिन का कूच योजन के नाम से गिना जाता है। वह यह भी लिखता है कि एक योजन आठ कोस का होता है। हर्षचरित मे वाण ने भी यही लिखा है कि सेना एक दिन मे आठ कोस चलती है। वह लिखता है कि कूच के समय नगाड़ा आठ बार यह सूचित करने के लिये जोर से बजाया गया कि सेना को आठ कोस का मार्ग तय करना है। इस प्रकार ह्यानसांग तथा बाण के विवरण से यही स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल मे आठ कोस यात्रा करने के उपरान्त ही विश्राम करने की परम्परा थी। अतः अशोक के अढ कोसिक्यानि का अर्थ भी आठ कोस ही लेना चाहिये। यह अर्थ जहाँ प्राचीन परम्पराओं के अनुकूल है वही आर्थिक दृष्टिकोण से भी न्याय संगत प्रतीत होता है और फिर जब शुक्र के इस कथन कि "हस्तैश्चतुःसहस्त्रैर्वा मनोः क्रोशस्य विस्तरः" (१।१९४) पर दृष्टि जाती है उस दशा में तो यह निष्कर्ष पूर्णतया प्रमाणित सा हो जाता

है। शुक्र ने अपने इस कथन में यात्रा की दूरी के लिए ४००० हाथों का एक कोस माना है। एक हाथ आधुनिक १८ इंच के बराबर है। संभवतः हाथ प्राचीन काल में एक नाप का नाम भी था, क्योंकि यदि हाथ से तात्पर्य कुहनी से लगाकर मध्य की उंगली तक माना जाय, जो आज भी ग्रामीण मानते हैं, उस दशा मे हाथ छोटा-बड़ा होने से नाप में अंतर पड़ सकता है। अतः निश्चय ही प्राचीन काल में हाथ की नाप के इस अंतर को मिटाने के लिये हाथ की एक निश्चित नाप अवश्य निर्धारित कर दी गई होगी और उस नाप को हाथ कहते होंगे। शुक्र के अनुसार प्राचीन एक कोस आधुनिक २००० गज के बराबर हुआ और ८ कोस लगभग ९ मील के बराबर। अशोक द्वारा इस प्रकार नौ-नौ मील की दूरी पर कुएँ तथा सराये बनाना प्रमाणित होता है।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट हो जाता है कि अशोक ने प्रजा के हित के लिये अनेकों महत्वपूर्ण कार्य किये किन्तु इन कार्यों को करने के उपरान्त भी वह इनके लिये गौरवान्वित नही होना चाहता। वह तो केवल दुःख प्रगट करता है कि जो कुछ भी उपकार उसने किया है वह नही के समान है। वह कहता है "किन्तु यह उपकार कुछ भी नही है" (स्तम्भ लेख ७)। वह स्वयं को इन कार्यों का करने वाला प्रथम शासक भी नही मानता। वह कहता है कि ये कार्य तो उससे प्रथम भी अन्य शासक कर चुके है। किन्तु अशोक और उससे पूर्व के शासकों के उद्देश्यों मे महान् अन्तर है। अन्य शासको ने तो स्वयं यश के भागी बनने के लिये जन-हित के कार्य किये, किन्तु अशोक ये कार्य दृष्टान्त के लिये करता है। वह चाहता है कि अन्य लोग भी उसका अनुकरण कर इसी प्रकार जन-हित के कार्य करें। वह कहता है "मैंने यह (सुख की व्यवस्था) इसलिये की है कि लोग धर्म के अनुसार अचरण करे" (स्त० ले० ७)। अतः स्पष्ट है कि अशोक अपने जन-हितार्थ किये गये कार्यों को प्रजा को धर्म के अनुसार आचरण करने के लिये प्रोत्साहन देने का साधन मानता है। इस सत्य के आधार पर यह निःसंकोच स्वीकार किया जा सकता है कि अशोक यदि जन-हित के कार्य करने वाला प्रथम शासक न था किन्तु पशु-चिकित्सा तथा अपनी उपकार करने की भावनाओं तथा उद्देश्य के क्षेत्र मे प्रथम शासक अवश्य था।

सैन्य-व्यवस्था :—

प्रमाणों के अभाव मे अशोक की सैन्य-व्यवस्था के विषय में ज्ञान प्राप्त करना लगभग असंभव सा है। अशोक के शिलाभिलेख तथा स्तम्भ लेख भी

इस संबंध मे मौन हैं। किन्तु इस मौनता को न तो हम अशोक की दुर्बलता का परिचायक मान सकते है और न ही उसकी सेना की ओर से अवहेलना का दृष्टिकोण। अशोक दुर्बल अथवा डरपोक न था, इसका प्रमाण कलिग के भयंकर युद्ध मे मिल जाता है। रही सेना की अवहेलना की समस्या। इस सम्बन्ध मे विद्वानों ने एक अनोखी ही धारणा बना ली है। विद्वानों के अनुसार कलिग के भयकर युद्ध के उपरान्त अशोक ने सेना को निर्बल बना दिया क्योंकि उसे युद्धो से घृणा होगई थी। वह युद्ध के अवसर पर होने वाले भयंकर हत्या-काण्ड को मानवता का नाश मानने लगा था। अतः हिसा की परिचायक सेना की उसने पूर्ण अवहेलना प्रारम्भ कर दी। इस मत के समर्थन मे विद्वान स्वयं अशोक का कथन प्रस्तुत करते है। शि० ले० १३ मे अशोक कहते हैं "कलिग के जीतने पर देवताओ के प्रिय को बड़ा पाश्चाताप हुआ। क्योंकि जो देश पहले विजय नही हुआ है उस देश के विजय होने पर लोगों की हत्या वा मृत्यु अवश्य होती है और न जाने कितने आदमी कैद किये जाते हैं। देवताओं के प्रिय को इससे बहुत दुःख और खेद हुआ······कलिग देश की विजय मे उस समय जितने आदमी मारे गये, मरे या कैद हुए उनके सौवें या हजारवें हिस्से का नाश भी अब देवताओं के प्रिय को बड़े दुःख का कारण होगा।" इसी दुःख के परिणाम स्वरूप अशोक ने युद्ध न करने की प्रतिज्ञा की और उसने देश-विजय की नीति के स्थान पर धर्म-विजय की नीति अपनाई। इस सम्बन्ध में अशोक स्वयं कहते हैं "धर्म-विजय को ही देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी मुख्यतम विजय मानते है" (शि० ले० १३)। और इसी धर्म-विजय का सूत्रपात भी अशोक राज्याभिषेक के १० वर्ष पश्चात् अर्थात् कलिग युद्ध के २ वर्ष पश्चात् कर देते हैं (शि० ले० ८)। इस प्रकार अशोक हिसा से मुख मोड़कर अपनी सम्पूर्ण शक्ति धर्मानुशासन के प्रति व्यय करना प्रारम्भ कर देते है। वे अपने पुत्रों आदि से भी इसी नीति को अपनाने की आशा करते है। वे कहते हैं "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के पुत्र, नाती तथा प्रपौत्र इस धर्माचरण को कल्प के अन्त तक बढ़ायेगे और धर्म तथा शील का आचरण करते हुए धर्म के अनुशासन का प्रचार करेगे" (शि० ले० ४)। शि० ले० ६ मे पुनः अशोक कहते हैं "यह धर्म-लेख इसलिये लिखवाया गया है कि यह चिरस्थिर रहे और मेरे स्त्री, पुत्र पौत्र तथा प्रपौत्र सब लोगों के हित के लिए पराक्रम करें" (शि० ले० ६)। इस प्रकार अशोक धर्मानुशासन के महत्व को समझकर सेना की आवश्यकता को ही समाप्त कर देता है। विद्वानों के अनुसार अशोक की इसी भावना के परिणाम स्वरूप साम्राज्य में सेना का महत्व गिरता गया, अवहेलना

के परिणाम स्वरूप वह अस्त-व्यस्त होती गई। और अंत में इतनी निर्बल होगई कि वह मौर्य साम्राज्य के पतन को न रोक सकी। इसी निष्कर्ष के आधार पर विद्वान अशोक को मौर्य साम्राज्य के पतन का कारण भी मान बैठे हैं। किन्तु यह धारणा भ्रमात्मक है। यह अवश्य है कि कलिंग युद्ध के उपरान्त अशोक ने देश-विजय की नीति त्याग दी और उसे युद्धों से घृणा होगई। यह भी सत्य है कि अशोक ने जिस धर्मानुशासन का प्रारम्भ किया उसी का अनुकरण करने की आशा भी वह अपने पुत्रो तथा पौत्रों से करता है। किन्तु इसी आधार पर यह नही कहा जा सकता कि अशोक ने सैन्य-व्यवस्था ढीली कर दी थी अथवा इस ओर से उदासीन हो गया था। वास्तव मे अशोक ने न तो सैन्य-व्यवस्था ढीली की थी और न इसकी ओर से उदासीन ही हुआ था। शि० ले० १३ इस सत्य का प्रमाण है। इस लेख मे अशोक कहते है "जो अटवियाँ देवताओं के प्रिय के विजित मे हैं, उनसे भी वह अनुनय करता है, तथा उन्हे मानता है। देवताओं के प्रिय के पछतावे मे कितनी शक्ति है यह उन्हे बता दिया गया है। अतः वह (अटवियों से) कहता है कि वे बुरे कामों से लज्जित हो, व्यर्थ मे दण्ड न पायें। देवताओं के प्रिय सब चीजों से अक्षति, संयम, समचर्या तथा आनन्द चाहता है"। अशोक का यह कथन अटवियो के विद्रोह की ओर संकेत करता है और इस सम्बन्ध में अशोक की नीति भी स्पष्ट कर देता है। अशोक अटवियों को दुःख देना नही चाहता, वह तो उन्हे आनन्दमय देखना चाहता है, किन्तु यदि वे शान्तिमय जीवन व्यतीत करना नही चाहती अर्थात् विद्रोह ही करने पर कटिबद्ध है तो अशोक भी उन्हे क्षमा करने के लिये तत्पर नही। वह उन्हें शक्ति से दबाने की भी सामर्थ्य रखता है तभी तो वह उन्हे अपने पछ-तावे की याद दिलाना चाहता है। यह संकेत कलिंग के भयंकर हत्याकाण्ड की ओर है और उससे उत्पन्न अशोक के हृदय मे दुःख की ओर। अतः अशोक का कथन स्पष्ट है कि धर्मानुशासन की स्थापना के प्रयास में अशोक ने सैन्य-व्यवस्था की अवहेलना नही की। उसने केवल साम्राज्य मे शान्ति को स्थापना करने की नीति मे परिवर्तन किया। अशोक से पूर्व शासक सैन्य-शक्ति के आधार पर साम्राज्य मे शान्ति स्थापित करने का प्रयास करते थे, किन्तु अशोक इस शक्ति द्वारा स्थापित शान्ति को क्षणिक मानता था। वह भावनाओ पर आधारित विजय को ही वास्तविक विजय तथा प्रजा के पूर्ण आध्यात्मिक विकास को ही शान्ति का परिचायक मानता था। अतः उसने धर्मानुशासन को राजनीति मे प्रथम स्थान प्रदान किया तथा सेना को द्वितीय। वह सेना का प्रयोग उसी दशा मे करना चाहता था जब अन्य किसी साधन से वह अपना उद्देश्य पूरा न

कर पाये। अतः स्पष्ट है कि अशोक सैन्य व्यवस्था की ओर से उदासीन न था।

अशोक की वाह्य नीति भी इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डालती है। वह नवीन देशों की विजय करना नही चाहता और शि० ले० १० मे अपनी इस नीति का कारण भी प्रस्तुत कर देता है। वह साम्राज्य की विशालता तथा भौगोलिक सीमाओं की अपारता को राजा के यश का परिचायक नही मानता वरन् उसका परिचायक तो वह उस धर्मानुचरण तथा सुख को मानता है जो साम्राज्य की प्रजा राजा के प्रयासों से प्राप्त करती है। अपनी इसी नीति के आधार पर अशोक सीमान्त जातियों के प्रति कहता है "वे (सीमान्त जातियाँ) मुझसे न डरें, मुझ पर विश्वास करें और मुझसे सुख ही प्राप्त करें, कभी दुःख न पावें। वे यह भी विश्वास रक्खें कि जहाँ तक क्षमा का व्यवहार हो सकता है वहाँ तक राजा हम लोगों के साथ क्षमा का वर्ताव करेगे" (कलिग शि० ले० २)। यहाँ भी अशोक अपनी धर्मानुशासन की नीति की असफलता पर ही सीमान्त जातियों के अनुचित कार्यो का दमन शक्ति से करने को प्रस्तुत है। अतः यह कथन भी स्पष्ट कर देता है कि अशोक सेना की ओर से उदासीन न था।

दिव्यावदान द्वारा तक्षशिला के विद्रोह का उल्लेख और उसे दबाने के लिये अशोक के कार्यो का वर्णन पूर्णतया सिद्ध कर देता है कि अशोक साम्राज्य मे विद्रोही तत्वों की उपस्थिति तथा विद्रोहों की आशंकाओं से पूर्णतया परिचित था और उन्हे शक्ति से दमन करने के लिये भी तत्पर था। यह निष्कर्ष इस सत्य का प्रमाण है कि अशोक के पास एक दृढ़ तथा सुसंगठित सेना थी और सम्भवतः उसकी व्यवस्था चन्द्रगुप्त मौर्य तथा बिन्दुसार के शासन काल के समान ही रही होगी। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाने के उपरान्त कि अशोक के पास एक दृढ़ तथा सुसंगठित सेना थी, विद्वानों की यह धारणा भी कि अपनी सेना सम्बन्धी उदासीनता के कारण अशोक ने सेना को निर्बल बना दिया और इसी कारण वह मौर्य साम्राज्य के पतन का कारण है पूर्णतया भ्रमात्मक सिद्ध हो जाती है। वास्तव में अपनी नीति तथा शासन-प्रबन्ध द्वारा अशोक ने जो दृढ़ता तथा अमरता मौर्य साम्राज्य को प्रदान की वह विश्व के इतिहास में अप्राप्य है।

पाँचवां प्रकरण

धर्म

"नस्ति हि कमतर सव्रलोक हितेन" के महान् सिद्धान्त को चिरतार्थ करने वाला महान् मानव अशोक अपने प्रारम्भिक जीवन में एक साम्राज्यवादी तथा हिंसात्मक वृत्तियों से ओत-प्रोत व्यक्ति था। कलिग-विजय उसकी साम्राज्यवादी लिप्सा की पराकाष्ठा थी। यदि सम्राट की साम्राज्यवादी लिप्सा कलिंग-युद्ध की भयंकरता के समान ही भयंकर बनी रहती, उस दशा में अशोक संसार का महानतम विजेता सहज ही बन जाता और भारतीय ध्वज सिकन्दर महान् के उत्तराधिकारियों के महलों पर फहराती होती। किन्तु अशोक को नियति ने एक सेनानी बनने के लिये जन्म नहीं दिया था। उसका जन्म तो शस्त्र के स्थान पर धर्म द्वारा एक ऐसे विशाल साम्राज्य का निर्माण करने के लिये हुआ था जिसकी असीम सीमायें आज भी सजीव हैं। संसार के इतिहास मे विशाल साम्राज्यों का निर्माण हुआ और समय के साथ वे धुंधली छाया में भी परिणित हो गये किन्तु अशोक का साम्राज्य आज भी अमर है और अमर है उस साम्राज्य का निर्माता अशोक।

अशोक को यह अमरता प्रदान करने का श्रेय कलिंग के भीषण रक्त-पात को है। युद्ध में मृत और घायलों की सिसकियों ने उसके हृदय में छिपी मानवता को जागृत कर दिया। शि० ले० १३ इस सत्य का प्रमाण है। अशोक कहते हैं "कलिंग देश की विजय में उस समय जितने आदमी मारे गये, मरे या कैद हुये उनके सौवें या हज़ारवें हिस्से का नाश भी अब देवताओं के प्रिय को बड़े दु:ख का कारण होगा" (शि० ले० १३)। इस पश्चाताप के परिणाम-स्वरूप अशोक ने युद्धों द्वारा विजय न प्राप्त करने का निश्चय कर लिया। अब सम्राट के हाथों में तलवार के स्थान पर प्रेम तथा करुणा की अमृतमयी मंजूषा थी जिसे पिलाकर वह सम्पूर्ण संसार को "निरापद, संयमी, शान्त और प्रसन्न" (शि० ले० १३) बनाने के लिये आतुर हो उठा था। अपनी इस मंगलमयी

भावना को अशोक धर्म-विजय कहता है। उसका कथन है कि "धर्म-विजय को ही देवताओ के प्रिय मुख्यतम विजय मानते हैं" (शि० ले० १३)। अशोक की इन भावनाओं और उन्हे क्रियान्वित करने के प्रयासों के परिणाम स्वरूप 'रणभेरी के स्थान पर धर्म का शब्द सुनाई पडने लगा' (शि० ले० ४)। उसने इस धर्म का प्रचार अपने साम्राज्य मे तो किया ही साथ ही उसने अपने साम्राज्य से ६ सौ योजन दूर पडौसी राज्यो मे भी इस धर्म का प्रचार करने मे पूर्ण सफलता प्राप्त की। वह स्वय कहता है "यह धर्म-विजय देवताओं के प्रिय ने यहाँ (अपने राज्य मे) तथा ६ सौ योजना दूर पडौसी राज्यो मे प्राप्त की है, जहाँ अन्तियोक नाम यवन राजा राज्य करता है और उस अन्तियोक के बाद तुरमय, अन्तकिनि, मक और अलिकसुन्दर नाम के चार राजा राज्य करते है और उन्होने अपने राज्य के नीचे (दक्षिण मे) चोड, पाराड्य तथा ताम्रपर्णी मे भी धर्म-विजय प्राप्त की है। उसी प्रकार हिंदराजा के राज्य में तथा राज-विषयो मे—यवनो मे, कम्बोजो मे, नामक नामपक्तियों मे, पितनिको मे, आन्ध्रो मे और पुलिन्दो मे सब जगह लोग देवताओ के प्रिय का धर्मानुशासन अनुसरण करते है और अनुसरण करेगे। जहाँ देवताओ के प्रिय के दूत नही पहुंच सकते वहाँ-वहाँ भी लोग देवताओ के प्रिय का धर्माचरण, धर्म विधान और धर्मानुशासन सुनकर धर्म के अनुसार आचरण करते है और भविष्य मे आचरण करेगे" (शि० ले० १३)।

धर्म का प्रचार तथा उसकी सफलता सम्बन्धी अशोक के उपर्युक्त कथन से निम्न समस्याये उठ खड़ी होती है जिनका अध्ययन अशोक के धर्म का अध्ययन करने के लिये नितान्त आवश्यक है।

(क) अशोक किस धर्म का अनुयायी था ?

(ख) उस धर्म को अशोक ने कब स्वीकार किया ?

(ग) उस धर्म के क्या सिद्धान्त थे ?

(क) अशोक किस धर्म का अनुयायी था ?

कलिग-युद्ध के उपरान्त अशोक ने जिस धर्म का प्रचार किया, फ्लीट महोदय के अनुसार, वह धर्म राजधर्म के रूप में मानवधर्म था। अपने मत की पुष्टि मे फ्लीट महोदय निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं :—

(१) स्तम्भ लेख २ मे अशोक ने अपने धर्म की व्याख्या की है। अशोक कहते है "धर्म क्या है ? धर्म यही है कि पाप से दूर रहे, बहुत से अच्छे काम करे, दया, दान, सत्य, और शौच (पवित्रा) का पालन करे।" फ्लीट महोदय के

मतानुसार ये तत्व सभी धर्मो में पाये जाते हैं। इन्हें बौद्ध धर्म के ही तत्व नहीं माना जा सकता। और यदि ये बौद्ध धर्म के तत्व होते उस दशा में बौद्ध धर्म का संकेत कही न कही लेख में अवश्य होता।

(२) स्तम्भ लेख ७ मे अशोक ने संघ का उल्लेख किया है। वे कहते हैं "मैने उन्हे संघों मे, ब्राह्मणों मे, आजीवकों मे, निर्ग्रन्थों मे तथा विविध प्रकार के सम्प्रदायो मे नियुक्त किया है। फ्लीट महोदय के अनुसार यहाँ संघों से तात्पर्य बौद्ध भिक्षुओं के सम्प्रदाय से नही है। इसका तात्पर्य किसी भी संघ जैसे व्यापारी संघ आदि हो सकता है क्योंकि यदि संघ से तात्पर्य बौद्ध संघ से होता और अशोक बौद्ध धर्मानुयायी होते तो संघ शब्द का प्रयोग ब्राह्मणों तथा अजीवकों आदि के साथ समानता के स्तर पर न होता।

(३) शिलाभिलेख ५ मे धर्म की उन्नति के लिये धर्म महामात्रों की नियुक्ति का उल्लेख अशोक ने किया है। किन्तु शि० लेख मे जिन कर्त्तव्यो का उल्लेख किया गया है उनका सम्बन्ध सब धर्मो मे है केवल बौद्ध धर्म से नही। स्तम्भ लेख ७ भी इसी सत्य की पुष्टि करता है। इस लेख मे अशोक कहते हैं "वे (धर्ममहामात्र) सब सम्प्रदायों में भी नियुक्त हैं, मैने उन्हें संघों में ब्राह्मणों मे, अजीवकों मे, निर्ग्रन्थो मे तथा विविध प्रकार के सम्प्रदायों मे नियुक्त किया है।" अतः फ्लीट महोदय के अनुसार अशोक का धर्म बौद्ध धर्म न था वरन् सब धर्मो का सार था जिसे मानव धर्म कहा जा सकता है।

(४) फ्लीट महोदय के अनुसार अशोक के लेख प्रजा के लिये न थे वरन् वे राजाज्ञा के रूप में राज कर्मचारियों के लिये थे जिससे कि वे राजा के बताये मार्ग पर चलकर प्रजा को राजभक्त बनाने मे पूर्ण सफल हों।

फ़्लीट महोदय उपर्युक्त तर्कों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि अशोक ने जिस धर्म का प्रचार अपने लेखो मे किया है वह बौद्ध धर्म न था। किन्तु यह धारणा पूर्णतया भ्रमात्मक है। सम्भवतः फ़्लीट महोदय की भ्रमात्मक धारणाओं का कारण यही है कि उन्होंने न तो बौद्ध धर्म का और न अशोक की नीति का ही अध्ययन उचित रूप से किया।

फ़्लीट महोदय ने स्तम्भ लेख २ मे वर्णित धर्म की व्याख्या पर आपत्ति की है। उनके अनुसार लेख मे वर्णित धर्म के आधार भूत तत्व प्रत्येक धर्म से सम्बन्धित है। किन्तु सत्य यह है कि ये सिद्धान्त अन्य धर्मों से सम्बन्धित होते हुये भी पूर्णतया बौद्ध धर्म से सम्बन्धित हैं। सिगालोवाद सुतान्त मे इन तत्वों का उल्लेख किया गया है। इन्हें बौद्ध धर्म का प्रमुख आधार बताया गया

है। अतः स्पष्ट है कि सम्राट की धर्म की व्याख्या मानवीय स्तर पर होकर भी बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों पर आधारित है।

अशोक ने अपने लेखों मे अनेकों ही स्थानों पर विभिन्न उपदेश दिये है। यदि मानवीय स्तर पर इनका मूल्याङ्कन किया जाय तो ये सभी धर्मों से सम्बन्धित प्रतीत होंगे, किन्तु वास्तवि ता यह है कि ये सभी बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों पर आधारित हैं। शिलाभिलेख ९ मे अशोक ने धर्म के मंगलाचार का उल्लेख किया है। वे कहते है "धर्म का जो मंगलाचार है वह महाफल देने वाला है। इसमें (धर्म के मंगलाचार में) दास और सेवकों के प्रति उचित व्यवहार, गुरुओं का आदर, प्राणियो की अहिसा और श्रमण तथा ब्राह्मणों को दान—यह सब करना पड़ता है।" शिलालेख ९ का यह भाव महामंगल सुत्त जातक (सुत्त निपात २,४) पर आधारित है। इस सम्बन्ध में शि० ले० ११ का अध्ययन भी नितान्त आवश्यक हैं। इस लेख मे अशोक ने सच्चे दान की व्याख्या की है। सम्राट् कहते हैं "ऐसा कोई दान नही है जैसा धर्म का दान है। (ऐसी कोई मित्रता नही है जैसी) धर्म की मित्रता है। (ऐसी कोई उदारता नही है जैसी) धर्म की उदारता है। (ऐसा कोई सम्बन्ध नही है जैसा) धर्म का सम्बन्ध है। धर्म यह है कि दास और सेवकों से उचित व्यवहार किया जाय, माता और पिता की सेवा की जाय, मित्र, परिचित, सम्बन्धी, श्रमण और ब्राह्मणों को दान दिया जाय और प्राणियों की अहिसा की जाय।" शिलाभिलेख ११ का यह भाव पूर्णतया मानवीय होते हुये भी धम्मपद (बौद्ध ग्रन्थ) के श्लोक २५४ पर आधारित है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अशोक के उपदेश बौद्ध धर्म पर आधारित हैं। ये वे उपदेश हैं जिनका सम्बन्ध बौद्ध धर्मावलम्बी सामान्य उपासकों से है। सम्भवतः फ्लीट महोदय बौद्ध धर्म को भिक्षुओं का सम्प्रदाय ही मान बैठे हैं और इसी कारण लेखों के उपदेशों में उन्हें बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का आभास नही मिला। वास्तव मे बौद्ध धर्म के दो रूप है (१) भिक्षुओं का धर्म तथा (२) सामान्य उपासकों का धर्म। अशोक ने जिस धर्म का प्रचार किया वह सामान्य उपासकों का धर्म था। अतः लेखों पर आधारित अशोक के धर्म को बौद्ध धर्म के अन्तर्गत ही मानना चाहिये।

फ्लीट महोदय की दूसरी तथा तीसरी आपत्ति संघ के अर्थ तथा धर्म महामात्रों की नियुक्ति के सम्बन्ध मे है। फ्लीट महोदय संघ से तात्पर्य किसी भी प्रकार के संघ से लेते हैं जैसे व्यापारी-संघ आदि। किन्तु अर्थ अनुचित है। संघ शब्द का प्रयोग अन्य धार्मिक सम्प्रदायों के साथ हुआ है, अतः संघ का भी किसी

धार्मिक साम्प्रदाय से तात्पर्य मानना चाहिये। इसके अतिरिक्त अशोक के लेख स्वयं इस सत्य का प्रमाण है कि संघ शब्द सदैव ही बौद्ध सम्प्रदाय के लिये प्रयोग किया गया है। सारनाथ, कौशाम्बी तथा सांची के लघु स्तम्भ लेखों में जहाँ अशोक ने बौद्ध सम्प्रदाय में फूट डालने वालों के लिये दण्ड की व्यवस्था की और इस फूट की आशंकाओं को समाप्त करने का आदेश अपने उच्च कर्मचारियों को दिया है वहाँ बौद्ध सम्प्रदाय के लिये संघ शब्द का ही प्रयोग किया है। संघ शब्द का प्रयोग अन्य किसी भी अर्थ मे लेखो मे दिखाई नही देता। अतः स्पष्ट है कि स्तम्भ लेख ७ में भी संघ शब्द का प्रयोग बौद्ध सम्प्रदाय के लिये ही हुआ है।

संघ के सम्बन्ध में फ्लीट महोदय की यह आपत्ति कि यदि संघ से तात्पर्य बौद्ध संघ से है उस दशा मे भी सम्राट् बौद्ध-धर्मानुयायी नही प्रतीत होते क्योंकि यदि सम्राट् बौद्ध-धर्मानुयायी होते तो संघ शब्द अन्य सम्प्रदायों के साथ समानता के रूप में न प्रयोग किया गया होता, का अध्ययन धर्ममहामात्रों की नियुक्ति के साथ ही करना उचित होगा। यह तो स्पष्ट ही है कि धर्ममहामात्रों की नियुक्ति सभी सम्प्रदायों के हित के लिये की गई थी। सम्राट् स्वयं कहते हैं "ये (धर्म-महामात्र) धर्म की रक्षा करने के लिये, धर्म की वृद्धि करने के लिये, धर्म युत के हित और सुख के लिये तथा यवन, काम्बोज, गान्धार (राष्ट्रिक तथा पीतीनिक) तथा पश्चिमी सीमा (पर रहने वाली अन्त जातियों के) हित और सुख के लिये सब पाषंडों (सम्प्रदायों के) बीच मे नियुक्त हैं" (शि० ले० ५)। स्तम्भ लेख ७ भी इसी सत्य की पुष्टी करता है "मेरे धर्ममहामात्र भी उन बहुत तरह के उपकार के कार्यों में नियुक्त हैं जिनका सम्बन्ध सन्यासी और गृहस्थ दोनों से है, सब साम्प्रदायों में भी नियुक्त हैं" (स्त० ले० ७)। किन्तु धर्ममहामात्रों के कर्त्तव्यों से यह निष्कर्ष निकालना कि अशोक बौद्ध-धर्मानुयायी न थे भूल है। स्वयं अशोक की धार्मिक नीति इस सत्य का प्रमाण है। शि० ले० १२ में अशोक कहते हैं "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा विविध दान और पूजा से गृहस्थ अथवा सन्यासी सब सम्प्रदाय वालों का सत्कार करते हैं। किन्तु देवताओं के प्रिय दान या पूजा की इतनी परवाह नहीं करते जितनी इस बात की कि सब सम्प्रदायों के सार (तत्त्व) की वृद्धि हो।" वे अन्य धर्मों की निन्दा करना भी उचित नही मानते। वे कहते है "जो अपने साम्प्रदाय की भक्ति में आकर इस विचार से कि मेरे सम्प्रदाय का गौरव बढ़े अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा करता है और दूसरे सम्प्रदायों की निन्दा करता है, वह वास्तव में अपने सम्प्रदाय की पूरी हानि करता है" (शि० ले० १२)।

सम्राट् की यह नीति उसके धर्म-सम्बन्धी कार्यों को पूर्णतया स्पष्ट कर देती है। वह सभी साम्प्रदायों का उपकार कर अपने धर्म की वृद्धि करना चाहता है। फीरोज तुगलक तथा औरंगजेब की भांति अन्य धर्मों का नाश कर वह अपने धर्म की वृद्धि करना नही चाहता। वह इस सत्य से परिचित है कि अन्य सम्प्रदायों का अपमान करने से स्वय का धर्म भी घृणित बन जाता है। फीरोज तुगलक तथा औरंगजेब की नीति के परिणाम स्वरूप जो हानि इस्लाम को पहुंची, इस्लाम उसकी पूर्ति आज तक न कर पाया है और भारतीय इतिहास का यह काल आज भी नृशसता तथा मानवता के संहार का काल माना जाता है। इस काल के नायक भी इतिहास मे जहाँ अपने वंशों के पतन का कारण माने जाते है वही मानवता सदैव उनको धिक्कारती रहती है। अशोक ऐसी ही धर्मान्धिता की नीति को अपनाकर बौद्धधर्म का नाश करने के लिये तत्पर न था। वह बौद्ध धर्म के प्रति समस्त संसार का आदर प्राप्त करने का इच्छुक था और इस प्रयास के लिये उसकी धार्मिक नीति ही केवल सहायक हो सकती थी। अतएव स्पष्ट है कि अशोक द्वारा धर्ममहामात्रो की नियुक्ति तथा संघ का अन्य सम्प्रदाय वालों के साथ समानता के स्तर पर उल्लेख, बौद्ध धर्म के हित के लिये ही था। और फिर संघ को अन्य साम्प्रदाय वालों के साथ समानता के स्तर पर रखने से तथा धर्म महा-मात्रों की निर्युक्ति से यह तो सिद्ध नही होता कि अशोक बौद्ध धर्मानुयायी नही थे। इन सत्यों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि अशोक की धार्मिक नीति सहिष्णुता की नीति थी। वह बौद्ध धर्मानुयायी होते हुये भी अन्य धर्मो का आदर करना जानता था। उसका यही कार्य उसे अन्य शासकों से ऊँचा उठा देता है और उसे सहज ही महानता की उपाधि से आभूपित भी कर देता है।

अशोक के लेखों के सम्बन्ध मे फ्लीट महोदय का यह कथन कि वे प्रजा के लिये न थे वरन् वे राजाज्ञा के रूप में राजकर्मचारियों के लिये थे आंशिक रूप से ही सत्य है। यह अवश्य है कि अशोक के अनेकों लेख राजकर्मचारियों को सम्बोधित कर लिखे गये हैं और अनेकों मे विभिन्न राजकर्मचारियों के कर्त्तव्यों पर प्रकाश डाला गया है किन्तु इसका अर्थ यह नही कि लेखों का सम्बन्ध प्रजा से है ही नही। अपने लेखों मे अनेकों ही स्थानों पर अशोक ने प्रजा का इस प्रकार उल्लेख किया है जिससे सिद्ध हो जाता है कि लेखों का उद्देश्य प्रजा को इच्छित ज्ञान प्रदान करना था। स्तम्भ लेख ७ में अशोक कहते है "यह विचार मेरे मन में आया कि लोगों को धर्म श्रवण कराऊँ और उन्हे धर्म का उपदेश दूँ जिससे कि उसे लोग सुनकर उसीके अनुसार आचरण करें, उन्नति करे और विशेष रूप से धर्म की वृद्धि करे।" स्तम्भ लेख ६ मे भी सम्राट् ने लेखों के

लिखवाने का कारण प्रजा का हित बताया है। वे कहते हैं "राज्यभिषेक के १२ वर्ष बाद मैंने धर्म लेख लोगों के हित और सुख के लिये लिखवाये जिससे कि वे (पापाचरण के मार्ग को) त्यागकर किसी न किसी प्रकार से धर्म की वृद्धि करें।" अतः स्पष्ट है कि अशोक के लेखों का सम्बन्ध प्रजा से है। यही नही जहाँ कही भी अशोक ने राजकर्मचारियों का उल्लेख किया और उन्हे आज्ञायें प्रेषित की हैं वहाँ भी उसका उद्देश्य प्रजा ही है। फ्लीट महोदय के अनुसार उन्हे केवल राजकर्मचारियों के लिये प्रेषित आज्ञायें मान लेना हास्यास्पद प्रतीत होता है। यदि अशोक को अपने कर्मचारियों को उनके कर्त्तव्य और अधिकार बतलाने थे तो फिर उन्हें पत्थर पर खुदवाकर ढिढोरा पीटने की क्या आवश्यकता थी। इन सब की सूचना कर्मचारियो को अन्य उपायो द्वारा भी दी जा सकती थी। इसके अतिरिक्त लेखो में न तो अशोक के सभी अधिकारियों का ही उल्लेख हुआ है और न प्रत्येक के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का ही वर्णन स्पष्ट रूप से किया गया है। इस दशा मे इन लेखों को कर्मचारियों के लिये निर्मित नही माना जा सकता। वास्तव मे इन लेखों का उद्देश्य प्रजा को धर्म के वास्तविक तत्त्वो को बतलाना है और साथ ही प्रजा के सम्मुख सम्राट् की नीति स्पष्ट करना है। जहाँ कही भी अशोक ने राजकर्मचारियों का उल्लेख किया है वहाँ अशोक का केवल यही उद्देश्य है कि प्रजा सम्राट् के उन कार्यो से परिचित हो जाये, जो कार्य उसने प्रजा मे धर्म की वृद्धि के लिये अर्थात् प्रजा को इस ससार मे सुख प्राप्त कराने तथा परलोक मे स्वर्ग प्राप्ति के योग्य बनाने के लिये किये हैं। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि लेखों मे कर्मचारियो का उल्लेख उनकी नियुक्ति के सम्बन्ध में तथा उनके कार्यों के सम्बन्ध मे प्रजा को सूचना देने के लिये किया गया है। अतः लेखों के अस्तित्व को कर्मचारियों के प्रति ही मान लेना भूल होगी। वास्तव मे अशोक के लेख बौद्ध धर्म का प्रचार करने के साधन हैं जिसका वह स्वयं अनुयायी था।

अशोक के बौद्ध धर्मानुयायी होने के अन्य प्रमाण :—

उपर्युक्त तर्कों से अशोक के लेखों मे बौद्ध धर्म की शिक्षाओं की उपस्थिति तो प्रमाणित हो ही जाती है साथ ही यह भी प्रमाणित हो जाता है कि अशोक बौद्ध धर्मानुयायी थे। इन तर्कों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रमाण भी हैं जिनके आधार पर निश्चयात्मक रूप से अशोक का बौद्धधर्मानुयायी होना सिद्ध हो जाता है।

अशोक ने राज्याभिषेक के चौदह वर्ष उपरान्त कनकमुनि बुद्ध के स्तूप

की द्वितीय वार मरम्मत कराई और राज्याभिषेक के २० वर्ष पश्चात् स्वयं जाकर इस स्तूप की पूजा की और एक शिला-स्तम्भ खड़ा किया (निग्लीव स्तम्भलेख)। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार महात्मा बुद्ध के पूर्व २४ बुद्ध और हो चुके थे, तथा कनकमुनि बाइसवें बुद्ध थे। कनकमुनि के स्तूप की मरम्मत, अशोक द्वारा स्तूप की पूजा तथा शिला-स्तम्भ का निर्माण अशोक को बौद्ध धर्मानुयायी होना ही सिद्ध करता है। इस सत्य की पुष्टि पूर्णतया रुम्मिन देई स्तम्भ लेख से हो जाती है। अशोक के इस लेख के अनुसार वह राज्याभिषेक के २० वर्ष पश्चात् बुद्ध के जन्मस्थान (लुंबिनी ग्राम) की पूजा करने गया। वहाँ उसने एक पत्थर की प्राचीर स्थापित की, एक शिला-स्तम्भ का निर्माण कराया, ग्रामवासियों पर राजकर घटा कर उपज का आठवाँ भाग कर दिया तथा अन्य समस्त करों से ग्रामवासियों को मुक्त कर दिया। अपनी इस यात्रा से पूर्व अशोक सम्बोधि अर्थात् बुद्ध गया कि यात्रा राज्याभिषेक के १० वर्ष पश्चात् कर ही चुके थे। सम्बोधि के अर्थो से सम्बन्ध में विद्वानों मे मतभेद हैं। रीस डेविड्स सम्बोधि से ज्ञान प्राप्ति के मार्ग का अर्थ निकालते हैं। सम्बोधि अथवा ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिस मार्ग का अनुसरण अशोक ने किया था वह अष्टांग मार्ग के नाम से कहा जाता है। इसी मार्ग का अनुसरण करने से मनुष्य अर्हत पद को प्राप्त कर सकता है। किन्तु रीस डेविड्स का यह अर्थ न्याय संगत प्रतीत नही होता। यदि इस अर्थ को स्वीकार किया जाय, उस दशा में सम्राट द्वारा धर्म-यात्रा की प्रथा के प्रारम्भ का उल्लेख निरर्थक हो जाता है। सम्राट कहते है "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने राज्याभिषेक के १० वर्ष बाद सम्बोधि का अनुसरण किया। इस प्रकार धर्म-यात्रा (की प्रथा का प्रारम्भ हुआ)" (शि० ले० ८)। यदि सम्बोधि से अर्थ ज्ञान प्राप्ति के मार्ग से है अर्थात् अष्टांग मार्ग के अनुसरण से है उस दशा में यात्रा की क्या आवश्यकता है। इस मार्ग का अनुसरण तो किसी भी स्थान पर किया जा सकता है। किन्तु सम्राट इसके अनुसरण से धर्म-यात्रा की प्रथा के प्रारम्भ होने का उल्लेख कर यह प्रमाणित कर देते हैं कि सम्बोधि से तात्पर्य किसी निश्चित स्थान से है। अतएव सम्बोधि से तात्पर्य उस स्थान से है जहाँ सिद्धार्थ ने ज्ञान (बोध) प्राप्त किया था। अतः सम्राट की यह यात्रा बुद्ध के ज्ञान प्राप्ति के स्थान बोधि गया के लिये ही थी। अशोक द्वारा बुद्ध के जन्म स्थान तथा ज्ञान प्रप्ति के स्थान की पूजा उसे बौद्ध धर्मानुयायी ही सिद्ध करती है।

क्या अशोक संघाधीष थे ?

अशोक के लेखों मे कुछ लेख ऐसे हैं जो अशोक को प्रत्यक्ष रूप से बौद्ध होना तो सिद्ध कर ही देते हैं, साथ ही अशोक के सम्बन्ध मे इस समस्या को भी जन्म दे देते हैं कि क्या अशोक संघाधीष थे ? अशोक सारनाथ, कौशाम्बी तथा साँची के स्तम्भ लेखों में भिक्षुओं को संघ में फूट न डालने का आदेश देते हैं। उनकी आज्ञा है कि संघ में फूट डालने वाले भिक्षुक अथवा भिक्षुणी स्वेत वस्त्र पहनाकर संघ से निकाल दिये जायेंगे। इन लेखों मे अशोक इन स्थानों के महामात्रों को भी आदेश देते हैं कि वे सम्राट की इस आज्ञा का प्रचार करें और संघ मे फूट न पड़ने दें। इसी प्रकार भाब्रू शिला लेख में सम्राट बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति अपनी भक्ति तथा आदर का प्रदर्शन करते है और भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों के लिये समुत्कर्प, आर्यवंश, अनागतभय, मुनि गाथा, मौनेय-सूत्र, उपतिष्य प्रश्न तथा राहुलवाद नामक बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन का निर्देश देते हैं।

उपर्युक्त लेखों में अशोक का बौद्ध धर्मानुयायी होना तो पूर्णतया सिद्ध हो ही जाता है साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अशोक का सम्बन्ध बौद्ध संघ से एक सामान्य उपासक का सम्बन्ध न था। यदि अशोक केवल एक सामान्य उपासक ही होते उस दशा मे उन्हें संघ के कार्यो में हस्तक्षेप करने तथा भिक्षु तथा भिक्षुणियों को आदेश देने का साहस न होता। अशोक ने महामात्रों को संघ के कार्यो में हस्तक्षेप करने की आज्ञा प्रदान कर तो यह पूर्ण-तया सिद्ध कर दिया कि बौद्ध संघ राजाज्ञा के आधीन था। इन परिस्थितयों में अशोक को संघाधीश मानना अनुचित प्रतीत नही होता।

(ख) अशोक ने बौद्ध धर्म कब स्वीकार किया ?

अशोक बौद्ध धर्मानुयायी थे यह तो निश्चित ही हो चुका है, किन्तु उन्होंने बौद्धधर्म को किस प्रकार तथा कब स्वीकार किया, प्रत्यक्ष प्रमाणों के अभाव में निश्चयात्मक रूप से नही कहा जा सकता। इस सत्य का केवल अनु-मान ही किया जा सकता है। अशोक ने बौद्ध धर्म किस प्रकार स्वीकार किया, इस सम्बन्ध में अशोक के लेख पूर्णतया मौन हैं, किन्तु बौद्ध साहित्य का यह एक महत्वपूर्ण विषय है। यह अवश्य है कि बौद्ध ग्रन्थ इस घटना के सम्बन्ध में विभिन्न कथायें प्रस्तुत करते है फिर भी उनके आधार पर इस घटनाको एक निश्चयात्मक रूप अवश्य प्रदान किया जा सकता है।

महावंश की एक कथा के अनुसार राजा कालाशोक ने एक रात स्वप्न में

देखा कि उनकी आत्मा लोहो कुम्बिया नरक में ढकेल दी गई है। राजा को इस स्वप्न से अत्यधिक दु:ख हुआ। उनके इस दु.ख को मिटाने के लिये उनकी छोटी बहिन भिक्षुणी आनन्दी वायु द्वारा उनके पास पहुंची और उसने उसे अपने बुरे कर्मो के लिये प्रायश्चित करने का उपदेश दिया। उसने अपने भाई से दुखो से मुक्ति पाने के लिये बौद्ध धर्म का आश्रय लेने को कहा। प्रातःकाल ही सम्राट वैशाली गये और उन्होंने आचार्यो के त.ों को सुनकर बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया।

महावंश की उपर्युक्त कथा के आधार पर अशोक द्वारा धर्म-परिवर्तन के सम्बन्ध मे निश्चित तथ्य खोज निकालना कठिन है। इस कथा का उद्देश्य तो बौद्ध धर्म की महत्ता का प्रदर्शन करने के निमित्त यह बताना प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्मानुयायी होने से पहले अशोक का जीवन पापमय था और राजा कालाशोक को अशोक महान् बनाने का श्रेय बौद्ध धर्भ को है।

अशोक द्वारा धर्म-परिवर्तन के सम्बन्ध में महावंश की एक दूसरी कथा अवश्य महत्वपूर्ण ज्ञान प्रदान करती है। इस कथा के अनुसार सुमन के पुत्र सुमनरो ने सर्वप्रथम अशोक को बौद्ध धर्म की ओर आकर्षित किया। सुमनरो का दूसरा नाम निगरोध भी था, यह भी इस कथा से स्पष्ट हो जाता है। कथा के अनुसार अशोक ने, अपने सिहासन पर आसीन, सुमनरो का प्रमुदित मन से सत्कार करने के उपरान्त' उससे बुद्ध के नियोग-सिद्धान्तों पर प्रश्न किया। सुमनरो ने सम्राट् को क्षणिकता का सिद्धान्त समझाया जिसे सुनकर अशोक अन्यधिक प्रभावित हुआ और उसकी श्रद्धा बौद्ध धर्म पर दृढ़ हो गई। अभी तक अशोक नित्य ६०,००० ब्राह्मणो को भोजन कराते थे अब उनका स्थान बौद्ध भिक्षुओं ने ले लिया।

कुछ काल उपरान्त अशोक बौद्ध भिक्षु उपगुप्त के सम्पर्क मे आया और उसके उपदेशों से प्रभावित हो उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया।

दिव्यावदान भी इस सम्बन्ध मे पर्याप्त प्रकाश डालता है। इस ग्रन्थ के अनुसार भिक्षु बालपणदित्य ने अशोक को बौद्ध धर्म की ओर आकर्षित किया। तत्पश्चात् उपगुप्त के उपदेशों से प्रभावित हो उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। दिव्यावदान की एक कथा के अनुसार अशोक की लुम्बिनी यात्रा के समय आचार्य उपगुप्त भी उसके साथ थे। उन्होंने ही अशोकसे कहा था "अस्मिन महाराज प्रियदसि भगवानो जातः" (दिव्यावदान)। (इसी स्थान पर प्रियदर्शी महाराज, भगवान बुद्ध का जन्म हुआ था)।

महावंश तथा दिव्यावदान दोनों ही ग्रन्थ अशोक द्वारा धर्म-परिवर्तन के

सम्बन्ध में दो अवस्थाओं का वर्णन करते हैं। पहली अवस्था में सम्राट् बौद्ध धर्म की ओर केवल आकर्षित होते हैं। इस आकर्षण का श्रेय महावंश के अनुसार सुमनरो अथवा निगरोध को था किन्तु दिव्यावदान के अनुसार बालपणदित्य को था। दिव्यावदान बालपणदित्य के दूसरे नाम समुद्र का भी उल्लेख करता है। सम्भवतः निगरोध, बालपणादित्य तथा समुद्र सुमनरो के ही अन्य नाम हैं। दूसरी अवस्था में सम्राट् बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेते हैं और उसके प्रचार के लिये पराक्रम करना भी प्रारम्भ कर देते हैं। उपगुप्त को दोनों ही ग्रन्थ इस परिवर्तन के लिये उत्तरदायी मानते हैं। इस सत्य की पुष्टि अन्य साधनों से भी हो जाती है। चीनी तथा जापानी बौद्ध-ग्रन्थों में भी उपगुप्त का उल्लेख मिलता है। चीनी मे उपगुप्त को यु-पो-कीयू-टो (Yo.Po·Kiu-To) तथा जापानी मे उवकिकता (Uvakikta) नामों से सम्बोधित किया गया है। दोनों ही स्थानों के बौद्ध ग्रन्थ उपगुप्त को अशोक द्वारा धर्म-परिवर्तन के लिये उत्तरदायी मानते हैं।

इस प्रकार बौद्ध ग्रन्थ अशोक द्वारा बौद्ध धर्म स्वीकार करनेकी दो अवस्थाओं पर प्रकाश डालते हैं। महावंश के अनुसार अशोक प्रथम अवस्था में नित्य ६०,००० भिक्षुओं को भोजन कराते थे तथा दिव्यदान के अनुसार सम्राट् प्रथम अवस्था में ही बुद्ध तथा संघ की शरण ले धर्म के पराक्रम के लिये समस्त एश्वर्य का त्याग करने को तत्पर हो गये थे। अतः दोनों ही ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अशोक ने सुमनरो द्वारा बौद्ध धर्म की ओर आकर्षित होने के उपरान्त उस धर्म की शिक्षाओं को मानना तथा उसकी ओर सहानुभूति दिखाना प्रारम्भ कर दिया था। उसकी यह अवस्था दिव्यावदान के अनुसार पराक्रम की अवस्था नही है वरन् पराक्रम के लिये तैयारी की अवस्था है। अतः सम्राट् को इस प्रथम अवस्था में केवल उपासक ही कहा जा सकता है। उपगुप्त द्वारा बौद्ध धर्म की शरण मे आने के पश्चात् अशोक की दूसरी पराक्रमपूर्ण अवस्था प्रारम्भ होती है। इस दूसरी अवस्था मे सम्भवतः अशोक संघ की शरण मे आ गये थे। अशोक सम्बन्धी विश्व की परम्पराओं में जो स्थान उपगुप्त को प्राप्त है वह सुमनरो को नही है यद्यपि बौद्ध धर्म के प्रति अशोक को आकर्षिक कर उपासक बनाने का श्रेय सुमनरो को ही प्राप्त है। सम्भवतः इसका कारण यही है कि सुमनरो द्वारा बौद्ध उपासक बनने के उपरान्त भी अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये पराक्रम न किया किन्तु उपगुप्त द्वारा संघ की शरण में आने के उपरान्त जो पराक्रम अशोक ने प्रदर्शित किया उसके

परिणाम स्वरूप ही बौद्ध धर्म विश्व का एक प्रमुख धर्म बनने में सफलता प्राप्त कर सका ।

अपने धार्मिक जीवन की इन्ही दो अवस्थाओं का उल्लेख सम्भवत: अशोक ने रूपनाथ, ब्रह्मगिरि तथा मास्की के प्रथम लघु शिलालेखों में किया हैं । सम्राट् कहते है "अढ़ाई वर्ष से अधिक हुये कि मै उपासक हुआ पर मैंने अधिक उद्योग नही किया किन्तु एक वर्ष से अधिक हुये जब से मै संघ में आया हूँ तब से मैंने खूब उद्योग किया है । इस बीच जम्बूद्वीप में जो मनुष्य सच्चे माने जाते थे वे अब अपने देवताओं के सहित झूठे सिद्ध कर दिये गये है...इस बात (धर्म) का विस्तार होगा और खूब विस्तार होगा, कम से कम डेढ़ गुना विस्तार होगा । यह अनुशासन मैंने अपने प्रवास के २५६ वें दिन प्रचारित किया" (ब्रह्मगिरि प्रथम लघु शि० ले०) । अशोक के इस कथन से पूर्णतया विदित हो जाता है कि अशोक के धर्म की दो अवस्थाये हैं । प्रथम अवस्था का समय २½ वर्ष है । इस काल में अशोक ने कोई भी विशेष पराक्रम का प्रदर्शन नही किया । दूसरी अवस्था संघ की शरण मे आने के पश्चात् प्रारम्भ होती है और इस अवस्था मे अशोक विशेष पराक्रम करते है । अशोक के पराक्रम का परिणाम तथा भविष्य की आशाओं का उल्लेख भी इस लेख में कर दिया गया है । अशोक के कथनानुसार एक वर्ष के समय में ही जम्बूद्वीप में जो मनुष्य सच्चे माने जाते थे वे अब अपने देवताओं के सहित झूठे सिद्ध कर दिये गये है । इसी भाव का उल्लेख रूपनाथ के प्रथम लघु शि० ले० में दूसरी प्रकार से हुआ है । इस लेख के अनुसार "जम्बूद्वीप मे जो (देव) देवता सच्चे माने जाते थे वे अब झूठे सिद्ध कर दिये गये है" (रूपनाथ) । अशोक के इस कथन के सम्बन्ध में विद्वानों मे अत्यधिक मतभेद उठ खड़ा हुआ है । सिलवै लेवी महोदय ने देवता '(देव)' का अर्थ राजा तथा (मिमा) का अर्थ मिलना जुलना मानकर इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार किया है—इस बीच जम्बूद्वीप में जो राजा अब तक (मनुष्यों के साथ) नही मिलते जुलते थे वे अब मिलने जुलने लगे है । इसी सम्बन्ध मे अन्य विद्वानों ने निम्न मत दिये हैं :—

डाक्टर एफ० डब्लू० थोमस :—

"इस बीच मे (एक साल में) अशोक ने ब्राह्मणों के देवताओं का जंगली जातियों से जो अब तक उन देवताओं से अपरिचित थे, परिचय करा दिया है।"

जर्मन विद्वान हुल्श :—

"इस बीच जम्बूद्वीप में जो देवता अब तक मनुष्यों के साथ नहीं मिलते जुलते थे वे अब (मनुष्यों से) मिलने जुलने लगे हैं ।"

फ्लीट महोदय :—

(अशोक ने) "अपने उद्योग से जम्बूद्वीप को ऐसा आदर्श बौद्ध देश बना दिया है कि उसमें देवताओं और मनुष्यों में कोई भेद नही रह गया है।"

श्री देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर :—

"मैने लोगों को धर्म की शिक्षा देकर पुण्यवान् और देवताओं की तरह स्वर्ग का अधिकारी बना दिया है जिससे देवता और मनुष्य एक दूसरे के तुल्य हो गये है।"

उपर्युक्त वर्णित मतों के अध्ययन से अशोक के कथन के अर्थ की समस्या उलझ सी जाती है। इस उलझन का कारण केवल यही प्रतीत होता है कि विद्वानों ने अशोक के वाक्य के साथ, उस काल की परिस्थितियों तथा अशोक के मस्तिष्क का अध्ययन करने का प्रयास न कर, अपनी व्यक्तिगत भावनाओं के आधार पर वाक्य का अर्थ करने का साहस किया है। अशोक बौद्ध धर्मानुयायी होने से पूर्व ब्राह्मण धर्म का मानने वाला था। महावंश की गाथा के अनुसार अशोक ६०,००० ब्राह्मणों को नित्य भोजन कराता था किन्तु बौद्ध उपासक बनकर उसने ६०,००० भिक्षुओं को नित्य भोजन कराना प्रारम्भ कर दिया। अशोक ने ब्राह्मण धर्म क्यों त्यागा ? इसका कारण बौद्ध धर्म की सरलता, पवित्रता तथा मानवीयता को ही माना जा सकता है। अशोक ने बौद्ध धर्म में वास्तविक धर्म के दर्शन पाये और इस वास्तविकता ने उसके सामने ब्राह्मण धर्म की आडम्बरमय हिंसात्मक प्रथाओं तथा कर्मकाण्डों को एक ढोंग के रूप में प्रस्तुत कर दिया। उसे ब्राह्मण धर्म के देवता निरर्थक अथवा झूठे प्रतीत होने लगे। बौद्ध धर्म का जन्म भी ब्राह्मण धर्म के पाखण्डों का विरोध करने के लिये हुआ था। किन्तु अशोक के शासन काल के प्रारम्भ तक ब्राह्मण धर्म ही सर्वत्र फैला हुआ था और बौद्ध धर्म अधिक प्रगति न कर पाया था। वह गंगा तथा यमुना के मध्य ही अपना अस्तित्व बनाये हुये था। अशोक द्वारा बौद्ध धर्म स्वीकार करने के उपरान्त ये संकुचित सीमायें छिन्न-भिन्न हुईं और बौद्ध धर्म भारतीय ही नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय धर्म बना। अशोक ने बौद्ध धर्म का प्रचार शक्ति से नही किया वरन् मानवीय स्तर से किया। उसने ब्राह्मण धर्म की निन्दा नहीं की और न उसके देवताओं का खण्डन ही किया। उसने तो धर्म का वास्तविक रूप मानव जाति के समक्ष प्रस्तुत कर दिया। पाप को चण्डता, निष्ठुरता, क्रोध, मान तथा ईर्ष्या का कारण (स्तम्भ ले० ३) और इन्ही से बचकर रहने, अच्छे कार्य करने, दया, दान, सत्य तथा पवित्रता को धर्म का आधार (स्त०

लै० २) बताकर उसने मानवता के समक्ष धर्म का वास्तविक रूप प्रस्तुत कर दिया। जनता ने इस धर्म में ब्राह्मण धर्म की दुरूहता के स्थान पर सरलता तथा आडम्बरमय कर्मकाण्डों के स्थान पर पवित्रता के दर्शन किये। परिणाम-स्वरूप उसे भी ब्राह्मण धर्म तथा उसके देवता मिथ्या प्रतीत होने लगे। अशोक के उपर्युक्त वर्णित कथन में भी इसी सत्य का संकेत छिपा है। अशोक के कथनानुसार अभी तक देश में ब्राह्मण सर्वोच्च तथा उनके देवता पूज्यनीय माने जाते थे किन्तु धर्म का वास्तविक रूप लोगों के समक्ष आजाने से ब्राह्मणों की सर्वोच्चता नष्ट होगई और उनके देवता झूठे हो गये। सम्भवतः इसी भाव को अशोक ने अपने मधुर तथा शिष्ट शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है कि "जम्बूद्वीप में जो मनुष्य सच्चे माने जाते थे वे अब अपने देवताओं के सहित झूठे सिद्ध कर दिये गये हैं।" (ब्रह्मगिरि) अथवा "जम्बूद्वीप में जो देवता सच्चे माने जाते थे अब झूठे सिद्ध कर दिये गये हैं" (रूपनाथ)।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अशोक ने अपने पराक्रम के प्रदर्शन के सम्बन्ध मे सर्वप्रथम कार्य जनता की धर्म सम्बन्धी भ्रमात्मक तथा झूठी धारणाओं को नाश करने का किया। अपने इस कार्य के परिणामस्वरूप, उसे पूर्ण आशा है कि उसके धर्म का भविष्य में अत्यधिक विस्तार भी होगा।

अशोक ने जिस पराक्रम का उल्लेख रूपनाथ, ब्रह्मगिरि तथा मास्की के प्रथम लघु स्तम्भ लेखों में किया है और जिसके परिणाम स्वरूप उसने धर्म के अत्यधिक स्वर्णिम भविष्य की आशा की है, वह पराक्रम किस प्रकार तथा कब प्रारम्भ हुआ यह भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। अशोक ने इस महत्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर भी अप्रत्यक्ष रूप से इन्हीं लेखों में प्रस्तुत कर दिया है। अशोक कहते हैं "यह अनुशासन मैंने अपने प्रवास के २५६ वें दिन प्रचारित किया" (ब्रह्मगिरि)। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस समय यह अनुशासन प्रचारित किया गया उस समय अशोक अपने साम्राज्य का भ्रमण कर रहे थे। यह भ्रमण अथवा दौरा प्रशासनीय स्तर पर निरीक्षणात्मक ढंग का था अथवा धर्म-यात्रा सम्बन्धी कहना कठिन है। सम्भवतः यह भ्रमण धर्म-यात्रा सम्बन्धी विशेष रूप से रहा होगा क्योंकि यदि इस भ्रमण का उद्देश्य प्रशासनीय रहा होता उस दशा में उपर्युक्त आज्ञा धर्म-सम्बन्धी न होती और न ही इस क्षेत्र में अशोक अपने पराक्रम की घोषणा करते। इस भ्रमण के धर्म-यात्रा होने का एक प्रमाण यह भी है कि अशोक ने उपर्युक्त आज्ञा २५६ वें दिन प्रचारित की और इसी आज्ञा के अनुसार उसने आज्ञा प्रेषित करने के लगभग ३६५ दिन (१ साल) पूर्व ही संघ की शरण आकर पराक्रम करने का दृढ़

निश्चय किया था। इस प्रकार पराक्रम करने के दृढ़ निश्चय के लगभग ३½ महीने पश्चात् ही यह यात्रा प्रारम्भ हुई। यात्रा के २५६ वें दिन तक जम्बू-द्वीप के मनुष्य जो सच्चे माने जाते थे वे अपने देवताओं के सहित झूठे सिद्ध कर दिये गये। यह महान् कार्य ३½ मास मे ही समाप्त हो गया यह कल्पना भ्रमात्मक होगी। वास्तव मे अशोक अपनी इस यात्रा के समय यह महान् कार्य कर रहे थे और इसी कारण इसका उल्लेख भी उन्होंने आज्ञा में किया है। इस प्रकार इस यात्रा को धर्म-यात्रा मानना ही अधिक न्यायसंगत प्रतीत होता है।

इस स्थल पर अशोक के शि० ले० ८ का अध्ययन नितान्त आवश्यक तथा महत्वपूर्ण है। इस लेख मे अशोक कहते है "बहुत दिन हुये दवताओं के प्रिय बिहार यात्रा के लिये निकलते थे। इन यात्राओं में मृगया और इसी प्रकार के दूसरे आमोद-प्रमोद होते थे। देवताओं के प्रिय, प्रियदर्शी राजा ने राज्या-भिषेक के १० वर्ष बाद सम्बोधि (बोधि गया) का अनुसरण किया। इस प्रकार धर्म-यात्रा (की प्रथा का प्रारम्भ हुआ)।" इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि सम्राट ने राज्याभिषेक के १० वर्ष बाद धर्म-यात्रा की प्रथा प्रारम्भ की। इससे पूर्व ये यात्रायें बिहार-यात्रायें होती थी जिनमे मृगया तथा अन्य आमोद-प्रमोद का आयोजन किया जाता था। यात्राओं के उद्देश्य मे यह परिवर्तन अवश्य ही अशोक द्वारा संघ की शरण में आने के पश्चात् हुआ होगा। अशोक द्वारा बोधि-गया की यात्रा का उल्लेख इस सत्य की पुष्टि कर देता है। धर्म-यात्रा के उद्देश्य के विषय में अशोक स्वयं कहते है "धर्म-यात्रा मे यह होता है—श्रमण और ब्राह्मणों का दर्शन करना और उन्हें दान देना, वृद्धों का दर्शन करना और सुवर्ण दान देना, ग्रामवासियों के पास जाकर उन्हे उपदेश देना और धर्म विष-यक विचार करना" (शि० ले० ८)। अशोक का यह कथन उसकी रूपनाथ, ब्रह्मगिरि तथा मास्की के प्रथम लघु शि० लेखों की घोषणा से पूर्णतया मिल जाता है। इन लेखों में अशोक संघ की शरण में आने के उपरान्त अत्यधिक पराक्रम करने की घोषणा करता है और शि० ले० ८ उसके इसी पराक्रम के रूप को स्पष्ट कर देता है। इस प्रकार यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अशोक राज्याभिषेक के १० वर्ष बाद संघ की शरण में आ गये थे। संघ की शरण में आने से प्रथम २½ वर्ष तक अशोक केवल उपासक ही रहे थे। (ब्रह्मगिरि, रूपनाथ तथा मास्की)। इस आधार पर अशोक द्वारा बौद्ध-धर्म स्वीकार करने का समय राज्याभिषेक के लगभग ८ वर्ष बाद ठहरता है। शि० ले० १३ के अनुसार अशोक ने राज्याभिषेक के आठ वर्ष बाद कलिंग की विजय की। अतः

स्पष्ट है कि अशोक ने कलिंग-युद्ध के उपरान्त ही बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था और इस धर्म-परिवर्तन का कारण कलिंग-युद्ध की भयंकरता थी। अशोक स्वयं शि० ले० १३ मे युद्ध की भयंकरता से उत्पन्न दुःख और अपनी अहिंसात्मक भावनाओं का स्पष्ट प्रदर्शन कर उपर्युक्त धारणा की पुष्टि कर देते है। वे कहते हैं "कलिंग को जीतने पर देवताओं के प्रिय को बड़ा पाश्चाताप हुआ क्योंकि जिस देश का पहले विजय नही हुआ है उस देश का विजय होने पर लोगों की हत्या व मृत्यु अवश्य होती है और न जाने कितने आदमी कैद किये जाते हैं......कलिंग देश की विजय मे उस समय जितने आदमी मारे गये या कैद हुये उनके सौवें या हजारवें हिस्से का नाश भी अब देवताओं के प्रिय को बड़े दुःख का कारण होगा।" इस युद्ध के उपरान्त अशोक की हिंसात्मक नीति ने अपना रूप बदला और उसके साथ ही भारतीय इतिहास की रूप-रेखा भी बदली। हिंसा के मञ्च से गरजने वाला मानव करुणा तथा प्रेम की मूर्ति बन विश्व बन्धुत्व का संदेश मानव जाति को देने के लिए आतुर हो उठा। विश्व ने उसका विश्वास किया और उसने विश्व को विश्वास देकर विश्वास पाया।

विश्वासके इस आदान-प्रदान का इतिहास कलिंग-युद्ध के उपरान्त ही अशोक द्वारा बौद्ध धर्म स्वीकार करने की तिथि से प्रारम्भ हुआ। अशोक का राज्याभिषेक २७० ई० पू० के लगभग हुआ और उसने राज्याभिषेक के ८ वर्ष उपरान्त कलिंग की विजय की। इस प्रकार कलिंग-विजय की तिथि २६२ ई० पू० के लगभग ठहरती है। अशोक ने बौद्ध धर्म कलिंग-विजय के उपरान्त ही स्वीकार कर लिया था, यह सिद्ध ही किया जा चुका है। बौद्ध धर्म स्वीकार करने के उपरान्त वह लगभग २½ वर्ष तक उपासक रहा तत्पश्चात् वह संघ की शरण मे आ गया और उसने धर्म के प्रचार के लिये पूर्ण पराक्रम करना प्रारम्भ कर दिया। इन आधार पर अशोक द्वारा बौद्ध धर्म स्वीकार करने की तिथि २६२ ई० पू० तथा संघ की शरण में आकर पूर्ण पराक्रम करने के दृढ़ निश्चय की तिथि २६० ई० पू० के लगभग ठहरती है। अशोक ने बोधि गया की यात्रा राज्याभिषेक के १० वर्ष उपरान्त कर धर्म-यात्रा की प्रथा का प्रारम्भ किया (शि० ले० ८)। फलतः अशोक ने बोधि गया की यात्रा तथा धर्म-यात्रा की प्रथा का प्रारम्भ २६० ई० पू० के लगभग किया, पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है।

(ग) अशोक का धर्म :—

अशोक बौद्ध धर्मानुयायी था और उसने बौद्ध धर्म की शिक्षाओं का ही प्रचार किया, यह तो स्पष्ट किया जा चुका है। किन्तु जिस रूप में अशोक ने तथागत के धर्म का प्रचार किया वह प्रचलित परम्पराओं से भिन्न था। उसने बौद्ध दर्शन को अपने धर्म का अधार नही बनाया और न उसने उन समस्यायों को ही सुलझाने का प्रयास किया जिन्हे लेकर प्रचारक धर्म का वादविवाद तथा संघर्षो का केन्द्र बना देते थे। उसे धार्मिक संघर्षो से घृणा थी और घृणा थी उन आलोचनात्मक सम्भाषणों से जिनमें अपने धर्म के प्रचार के प्रति, विरोधी धर्मों की निन्दा करने के लिये, शब्दों का बाहुल्य होता था। प्रचारको द्वारा एक दूसरे के धर्म की निन्दा करने के परिणाम स्वरूप धर्म उदारता, दया तथा प्रेम आदि गुणों का प्रादुर्भाव करने के स्थान पर ईर्ष्या, द्वेष तथा घृणा आदि त्याज्य गुणों को जन्म देने का साधन बन गया था। इस सत्य से अशोक पूर्णतया परिचित था और यह भी जानता था कि जब तक धार्मिक संघर्षो और उससे उत्पन्न कटुता का नाश नही किया जायेगा उस समय तक राष्ट्रीयता की भावना को प्रस्फुटित होने का अवसर नही मिलेगा।

अशोक इस सत्य से भी परिचित था कि धार्मिक संघर्षों के कारण लोग धर्म के वास्तविक रूप का भी ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं। प्रचारक अथवा धर्माधिकारी या तो अपने धर्म के प्रचार का आधार दर्शन को बना लेते हैं या दूसरे धर्मों के दर्शन के खण्डन को। परिणाम स्वरूप लोग साधारणतया न तो दर्शन का ही ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं और न उन साधारण नियमों का जो जीवन के विकास के लिये नितान्त महत्वपूर्ण हैं। उनका सम्पर्क तो केवल धर्मों के उन तत्वों से स्थापित हो पाता है जिनकी निन्दा की जाती है और वे भी उन्ही तत्वों की व्याख्या को ही वास्तविक धर्म मान बैठते हैं। परिणाम स्वरूप देश विभिन्न धर्मानुयायी वर्गो का योग बन जाता है और सभी सम्प्रदायों के सार (तत्व) की वृद्धि, जो धर्म का वास्तविक उद्देश्य है, अछूता ही रह जाता है।

अशोक धर्म द्वारा सभी सम्प्रदायों के सार की वृद्धि चाहता है। (शि० ले० १२) और इसीलिए दार्शनिक स्तर पर वह धर्म के गुण एवम् दोषों की विवेचना करने का प्रयास नहीं करता। वह सम्प्रदायों के सार की वृद्धि के लिये वाक्संयम को प्रमुख स्थान प्रदान करता है (शि० ले० १२)। उसकी इच्छा है कि "लोग केवल अपने ही सम्प्रदाय का आदर और बिना कारण दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा न करें (शि० ले० १२)। अशोक दूसरे सम्प्रदाय की

निन्दा करने वाले व्यक्तियों को धर्म का शत्रु मानता है और इसी कारण वह स्पष्ट घोषणा भी करता है। "जो कोई अपने सम्प्रदाय की भक्ति में आकर इस विचार से कि मेरे सम्प्रदाय का गौरव बढ़े अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा करता है और दूसरे सम्प्रदायों की निन्दा करता है वह वास्तव में अपने सम्प्रदाय को पूरी हानि पहुंचाता है" (शि० ले० १२)।

अशोक अपने धर्म के प्रचार के लिए न तो महमूद गजनवी के समान हिन्दुओं को काफिर मानकर उनके विरुद्ध जिहाद की घोषणा ही करता है और न अलाउद्दीन के समान काजी से ही पूछता है कि इस्लाम के साम्राज्य मे हिन्दुओं का क्या स्थान है ? वह न तो धर्म के नाम पर योरुप के समान धधकती अग्नियो को ही विरोधी धर्मानुयायियो को जलाने के लिये भारत मे प्रज्ज्वलित करता है और न सिकन्दर लोदी के समान अन्य सम्प्रदाय वालों को केवल इसीलिये नष्ट करने का प्रयास करता है कि वे अपने सम्प्रदाय को भी उसके सम्प्रदाय के समान मानते हैं। सिकन्दर लोदी ने बुद्धन नामक ब्राह्मण को केवल यह कहने पर ही जीवित जलवा दिया था कि ब्राह्मण धर्म उतना ही श्रेष्ठ है जितना इस्लाम। वह अन्य सम्प्रदाय वालों पर जजिया सा कोई कर भी नही लगाता। वह तो सभी सम्प्रदायो का मान करता है। वह चाहता है कि लोग एक दूसरे के धर्म को ध्यान देकर सुनें और उसकी सेवा करे (शि०ले० १२)। अशोक की यह भावना विभिन्न धर्मावलम्बियों को एक सामूहिक रंगमंच पर खड़ा कर देती हैं जहाँ वे अन्य धर्मों की निन्दा नही करते वरन् विभिन्न धर्मों के सिद्धान्तों का मनन कर अपना संकुचित दृष्टिकोण विशाल बनाते है।

अशोक धर्म को न तो किसी वर्ग विशेष की निजी सम्पत्ति ही मानता है और न उसके अनुयायी प्रचारकों को उस धर्म विशेष की वस्तु ही। वह धर्म तथा उसके अनुयायी प्रचारकों की राष्ट्र की सम्पत्ति मानता है। वह चाहता है कि धर्म का मनुष्यों पर ऐसा प्रभाव पड़े कि उनमे चित्त-शुद्धि, संयम, कृतज्ञता तथा दृढ़ भक्ति की भावना की वृद्धि हो। इन गुणों के प्रादुर्भाव से न केवल देश की संकीर्णता का ही नाश होगा वरन् एक शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण भी होगा। किन्तु धर्म के द्वारा राष्ट्रीयता की भावना जागृति करने से अशोक का यह अभिप्राय नही कि विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायी अपने सम्प्रदाय के अस्तित्व को ही मिटा डालें। इस सम्बन्ध मे स्तम्भ लेख ६ अशोक की नीति पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। इस लेख में अशोक कहते हैं "मैंने सब सम्प्रदायों का भी विविध प्रकार से सत्कार किया है। तथापि अपने धर्म के प्रति

अनुराग मेरे मत में मुख्य वस्तु है।" इस कथन से स्पष्ट है कि अशोक किसी भी सम्प्रदाय (धर्म) अथवा उसके अनुयायी के अस्तित्व को मिटाना नहीं चाहता। वह तो चाहता है कि लोगों की अपने धर्म में अटूट श्रद्धा हो और सभी सम्प्रदाय तथा उसके अनुयायी [illegible] कार्य करते हुए फलें-फूलें। शि० ले० १२ अशोक की इस भावना की पुष्टि कर देता है। वह कहता है "देवताओं के प्रिय की यह इच्छा है कि सब सम्प्रदाय वाले बहुत विद्वान् और कल्याण का कार्य करने वाले हों।" अतः स्पष्ट है कि अशोक की धार्मिक नीति औरंगजेब के समान धर्मान्धता की नीति न थी। वह औरंगजेब के समान अपने धर्म का प्रचार करने के प्रयास मे अन्य धर्मावलम्बियों को कष्ट देकर अपने धर्म का विरोधी बनाने को तत्पर न था। इस नीति के परिणाम से वह पूर्ण परिचित था। शासन के रंगमंच से उसके सर्वोच्च सत्ताधारी व्यक्ति होने के नाते यदि वह चाहता तो औरंगजेब के समान शक्ति का प्रयोग धर्म के प्रचार के प्रति कर सकता था किन्तु उस दशा में उसे भी औरंगजेब के समान जीवन-पर्यन्त विद्रोहों का ही दमन करना पड़ता और बौद्ध धर्म अन्य धर्मावलम्बियों की दृष्टि में घृणा का पात्र बन जाता साथ ही उसका शासन भी उन्ही वीभत्स घटनाओं का इतिहास बन जाता, जिनका करुण क्रन्दन आज भी मध्य-कालीन भारत तथा यूरोप के इतिहास को सिसकियाँ भरने के लिये बाध्य कर रहा है।

अशोक की यह धार्मिक नीति जिसे अनेकों विद्वानों ने अन्य धर्मो के प्रति सहिष्णुता की नीति कहा है वास्तव में मानवीय नीति थी। सिंहासन को धर्म पर आधारित करने के उपरान्त भी उसने धर्म को सिंहासन पर शासन नहीं करने दिया। जहाँ उसने बोद्ध धर्मानुयायी होने के नाते बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रयास किया वहीं उसने शासक होने के नाते देश के समस्त सम्प्रदायों को अपना विकास करने का पूर्ण अवसर भी प्रदान किया। उसने प्रजा को बौद्ध धर्म स्वीकार करने के लिए कभी भी वाध्य नही किया, फिर भी उसने जितना प्रचार बौद्ध धर्म का किया उतना अन्य किसी शासक ने नही किया। इतना होते हुये भी वह समस्त सम्प्रदायों का विश्वासपात्र बना रहा। अशोक की इस सफलता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण जहाँ उसकी उदारता तथा मानवीयता को है वही उसके धर्म के रूप को भी है। उसने महात्मा बुद्ध के जीवन सम्बन्धी दार्शनिक तर्कों को धर्म का आधार नहीं माना। उसने तो केवल उन तत्वों को चुना जिनका सम्बन्ध व्यवहारिक जीवन से है और जिनके पालन से मनुष्य इस जीवन में सुखी तथा मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग की प्राप्त का अधिकारी बन

सकता है। इस धर्म के तत्व इतने व्यवहारिक थे कि अन्य सम्प्रदायों द्वारा उनके विरोध की कोई सम्भावना ही न थी, साथ ही वे इतने सरल तथा स्पष्ट भी थे कि सामान्य जनता उन्हें सहज ही समझ भी सकती थी। वह इन सिद्धान्तों अथवा नियमो का पालन कर बौद्धधर्म का पालन करती थी किन्तु यह नही जानती थी कि वह बौद्ध धर्म की स्वतः ही अनुयायी बन गई है। वह तो अशोक के नियमो को आदर्श मानवीय नियम मानती थी और इस नाते उसने बौद्ध धर्म को मानवीय धर्म की अप्रत्यक्ष रूप से उपाधि भी प्रदान कर दी थी।

धर्म का रूप :—

अशोक ने बौद्ध धर्म को जिस रूप मे संसार के समक्ष प्रस्तुत कर मानव धर्म मे परिणित कर दिया वह रूप कौन सा है, इसका अध्ययन भी नितान्त आवश्यक है। इस सम्बन्ध मे अशोक के लेख स्पष्ट प्रकाश डालते हैं। अशोक के लेखो के अनुसार अशोक के धर्म को दो भागों मे विभाजित किया जा सकता है :—

(१) गृहस्थो के लिये तथा
(२) भिक्षुओं के लिये।

(१) गृहस्थों के लिये अशोक के धर्म का रूप:—

तत्कालीन धार्मिक दृष्टिकोण देवी-देवताओं की आराधना तथा कर्मकाण्ड की क्रियाओं पर आधारित था। बौद्ध तथा जैन धर्मों ने हिन्दू धर्म की इन प्रथाओं का विरोध किया था। वास्तव मे इन दोनों धर्मो का जन्म ही इन प्रथाओं का खण्डन करने के लिये हुआ था और इसी कारण हिन्दू धर्म के कर्मकाण्डों पर आधारित आडम्बरों से उकताई हुई जनता ने इनका स्वागत भी किया था, कितु ये दोनों धर्म भी वास्तविक रूप में धर्म को जनता के सम्मुख प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे थे। उनकी इस असमर्थता का कारण उनकी दार्शनिक विचार-धारा थी। सामान्य जनता दर्शन को समझने मे असमर्थ थी और इसी कारण इन धर्मो मे भी नियमों के स्थान पर वाह्य आडम्बरो का प्रभुत्व बढ़ता जा रहा था। अशोक को इन वाह्य आडम्बरों से घृणा थी। तत्कालीन धर्मों को अशोक मानव पर थोपी गई वस्तु मानता था। इसी कारण अशोक ने अपना धर्म न तो देवी-देवताओं की आराधना पर आधारित किया और न कर्मकाण्ड की क्रियाओं पर। वह धर्म को भिक्षुओं तथा सन्यासियों के अधिकार की वस्तु भी नहीं बनाना चाहता था। उसके लिये तो धर्म का अस्तित्व मानव के लिये था, मानव, धर्म

के लिये नहीं। धर्म मानव के कल्याण के लिये तभी हो सकता था जब उसका सम्बन्ध मानव के व्यवहार से हो। वह परम्पराओं तथा रूढ़ियों का दास न हो, वरन् उसमे परिस्थितियों के अनुकूल आवश्यकतानुसार परिवर्तन किये जा सकें। अशोक ने इसी दृष्टिकोण से धर्म को व्यवहारिक जीवन से सम्बन्धित किया। उसकी धर्म की परिभाषा इस सत्य का प्रमाण है। स्तम्भ लेख २ में अशोक कहते हैं "धंमे साधू। कियं चु धंमे ति? अपासिनवे बहुकयाने दया दाने सचे सोचये।" अर्थात् "धर्म अच्छा है। पर धर्म क्या है? धर्म यही है कि पाप से दूर रहे, बहुत से अच्छे काम करे, दया, दान, सत्य और शौच का पालन करे।"

धर्म सम्बन्धी अशोक की यह परिभाषा धर्म को पूर्णतया व्यवहारिक रूप में प्रस्तुत कर देती है। अशोक को इस परिभाषा से ही सन्तोष नही होता वह धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों की भी व्याख्या कर उसे और भी अधिक स्पष्ट कर देता है। अशोक की उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार धर्म के निम्न ६ लक्षण हैं:—

१. अपसिनवे (पाप से दूर रहना)
२. बहुकयाने (अच्छे कार्य करना)
३. दय (दया)
४. दाने (दान)
५. सचे (सत्य) तथा
६. सोचये (शुद्धता)

(१) अपसिनवे :—अशोक मानव स्वभाव से पूर्णतया परिचित थे। अपने स्वार्थो की पूर्ति के लिये ही मानव परिश्रम करता है, इस सत्य का उसे पूर्ण अनुभव था। वह यह भी जानता था कि मनुष्य अपने स्वार्थों के अनुसार ही अपनी इच्छाओं तथा अनुराग में परिवर्तन करते हैं। धर्म का पालन वे वही तक करते हैं जहाँ तक उन्हें उनके स्वार्थ उसके पालन की सुविधा प्रदान करते हैं। स्वार्थों का यह संघर्ष ही मनुष्य को कर्त्तव्यों का पालन पूर्ण रूप से नही करने देता। अशोक कर्त्तव्यों के इसी त्याग को पाप कहते है (शि० ले० ५)। मानव के लिये उसके स्वार्थ प्रमुख होते हैं और इसी कारण वह सहज ही कर्त्तव्य-विमुख हो जाता है। इसी सत्य के आधार पर अशोक के मतानुसार "पाप करना आसान है" (शि० ले० ५)। धर्म के पालन के लिये पाप से दूर रहना अत्यधिक आवश्यक है क्योंकि "पाप ही एक मात्र विपत्ति है" (शि० ले० १०)। इस विपत्ति से छुटकारा प्राप्त करने से ही मनुष्य इस जीवन मे सुखी तथा परलोक में स्वर्ग का अधिकारी बन सकता है। किन्तु इस विपत्ति (पाप) से छुटकारा

किस प्रकार प्राप्त किया जाय ? अशोक इस सम्बन्ध में भी जो आदेश देते हैं वे पूर्णतया मानव स्वभाव के गहन अध्ययन पर आधारित हैं। वह चण्डता, निष्ठुरता, क्रोध, मान तथा ईर्ष्या को सब पापों का कारण मानना है (शि० ले० ३) इनसे दूर रहना ही विपत्ति अथवा पाप से मुक्ति प्राप्त करना है। किन्तु ये तत्व मानव स्वभाव के साथ इतने घुल-मिल गये हैं और मानव अपने कार्यों में इनकी अवहेलना करने का इतना आदी हो गया है कि इनका त्याग उसके लिये एक कठिन समस्या बन गया है। "वह अपने अच्छे ही काम को देखता है......पर वह अपने पाप को नहीं देखता" (स्त० ले० ३) यदि मनुष्य अपने समस्त कार्यों का अध्ययन करे उस दशा मे वह अपने पापमय-कार्यों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है और इस आत्म-परीक्षा द्वारा पाप के कारणों का नाश कर सकता है। किन्तु "इस प्रकार की आत्म-परीक्षा बड़ी कठिन है" (स्त० ले० ३), अशोक इस सत्य से भी परिचित है। वह यह भी जानता है कि मनुष्य का अस्तित्व देवत्व तथा दानवत्व की सम्मिलित भावनाओं पर आधारित है और मनुष्य को मनुष्य ही रहना है। वह अनायास ही देवता नही बन सकता। यही प्रकृति का नियम है। वह इस नियम को तोड़ना भी नहीं चाहता और इसी कारण वह मनुष्यों से यह आशा भी नही करता कि वे आत्म-परीक्षा से कठिन मार्ग का अनायास ही अनुसरण भी कर लेगे। वह उनसे केवल उद्योग करते रहने की प्रार्थना करता है। उसे आशा है कि उद्योग से वे अवश्य सफल होंगे और उसका उद्देश्य पूर्ण हो सकेगा। उद्योग करने का आदेश देकर ही अशोक मौन नहीं हो जाते। वे उद्योग के लिये एक मार्ग का संकेत भी कर देते हैं और वह मार्ग है अच्छे कार्य करने का।

(२) बहुकायने (अच्छे कार्य करना) :—

लोक कल्याण की भावना से ओत-प्रोत सम्राट् अशोक का सिद्धान्त था "नस्ति हि क्रमतर सव्रलोक हितेन।" इसी भावना से अशोक अपनी प्रजा को भी ओत-प्रोत करना चाहते हैं। किन्तु वे धर्माधिकारियों की भाँति लोगों से आदर्श बनने के लिये नही कहते। वे उनके लिये आध्यात्मिक विश्व के दर्शन का मार्ग भी नही चुनते। वे तो केवल उनका जीवन सुखमय बनाने के अभिलाषी हैं। अशोक की धारणा है कि यदि मानव जीवन सुखमय बन जायेगा उस दशा मे वे स्वयं आध्यात्मिक विश्व के दर्शन का मार्ग चुनकर एक आदर्श जीवन का निर्माण कर लेंगे। सुखी जीवन कैसे बने इस सम्बन्ध में भी अशोक ने अपने लेखों में पर्याप्त रूप से बताया है। अशोक के मतानुसार सुखी जीवन मनुष्य के

पारिवारिक तथा सामाजिक सम्बन्धों पर निर्भर है और इसी कारण वह लोगों को इन्हीं क्षेत्रों में अच्छे काम करने का आदेश देता है। इस सम्बन्ध में अशोक द्वारा निर्धारित नियमों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(क) व्यक्तिगत

(ख) सार्वजनिक

(क) व्यक्तिगत :—

१. माता-पिता की सेवा (शि० ले० ३, ४, ९, ११, १३ तथा स्त० ले० ७)

२. ब्राह्मण तथा श्रमण की सेवा (शि० ले० ३, ४, ११, १३ तथा स्त० ले० ७)

३. वृद्धों की सेवा (शि० ले० ४, तथा स्त० ले० ७)

४. गुरु के प्रति सेवा तथा आदर (शि० ले० १३ तथा स्त० ले० ७)

५. सम्बन्धियों के प्रति उचित व्यवहार (शि० ले० ४, ९, ११)

६. दास तथा भृत्यों के प्रति उचित व्यवहार (शि० ले० ११, १३ तथा स्त० ले० ७)

७. निर्बल तथा दु:खियों के प्रति उचित व्यवहार (स्त० ले० ७) तथा

८. मित्र, स्वामी, पड़ोसी, परिचित, सहायक तथा परिवार वालों के साथ उचित व्यवहार। (शि० ले० ३ ९, ११ तथा १३)।

उपर्युक्त व्यक्तिगत व्यवहार के नियमों का निर्माण कर, अशोक लोगों में उन पारिवारिक तथा सामाजिक गुणों को उत्पन्न करना चाहता है जिन पर आदर्श घर, परिवार तथा उत्कृष्ट समाज का अस्तित्व निर्भर है। इस प्रकार अशोक के धर्म का यह लक्षण सर्वाधिक महत्वपूर्ण बन जाता है। अशोक स्वयं लक्षण के महत्व का अनुभव करता है और इसे ही धर्म भी घोषित कर देता है। वह कहता है "धर्म यह है कि दास और सेवकों के साथ उचित व्यवहार किया जाय, माता और पिता की सेवा की जाय, मित्र, परिचित, सम्बन्धी, श्रवण और ब्राह्मणों को दान दिया जाय और प्राणियों की अहिसा की जाय" (शि० ले० ११)।

(ख) सार्वजनिक :—

सार्वजनिक क्षेत्र में भी अशोक व्यवहार के कुछ नियमों की ओर-संकेत करता है। वह इस सत्य से परिचित है कि जब तक मनुष्यो के व्यक्तिगत व्यवहारों

से सम्बन्धित अच्छे कार्य सार्वजनिक स्तर पर केन्द्रीभूत नही हो जाते और उनका रूप लोक-कल्याण के कार्यो में परिणित नही हो जाता उस समय तक एक उत्कृष्ट समाज का निर्माण सम्भव नही है। इस सत्य के साथ ही वह यह भी जानता है कि मनुष्यों के कार्यों की एक सीमा होती है और वह उसके साधनों पर निर्भर रहती है। व्यक्तिगत व्यवहार के नियमों का पालन तो मनुष्यों की भावनाओं पर निर्भर रहता है और इन भावनाओं को परिणित भी किया जा सकता है। किन्तु सार्वजनिक स्तर पर भावनाओं के साथ धन की भी आवश्यकता रहती है। मनुष्य भावनाओं के होते हुये भी धन के प्रभाव में इच्छानुसार कार्य नही कर पाता। सार्वजनिक स्तर पर अशोक का कार्यक्रम रचनात्मक बन जाता है, जिसकी सफलता के लिये परिश्रम तथा धन दोनों की ही आवश्यकता है। सभी मनुष्य इन दोनों वस्तुओं का दान नही कर सकते। अशोक भी इसी कारण सार्वजनिक स्तर पर अपने रचनात्मक कार्यक्रम के अनुसार लोगों से कार्य करने की आशा नही करता। फिर भी इस क्षेत्र मे वह उन कार्यों की ओर लोगों का ध्यान आकिपत करता है जिन्हें वह अच्छे कार्यो की कोटि मे रखता है। इन कार्यों को वह स्वयं करता है किन्तु यश अथवा कीर्ति की प्राप्ति के लिये नही। उसका उद्देश्य लोगो के सामने एक आदर्श उपस्थित कर उन महान् कार्यों के मार्ग का प्रदर्शन करना है। अशोक के लेख इस सत्य के प्रमाण हैं। अपने द्वितीय स्तम्भ लेख मे अशोक कहते हैं "........और भी बहुत से अच्छे काम मैंने किये हैं। यह लेख मैंने इसलिये लिखवाया है कि लोग इसके अनुसार आचरण करें और यह चिरस्थायी रहे। जो इसके अनुसार कार्य करेगा वह पुण्य का कार्य करेगा।" अशोक ने जिन अपने अच्छे कार्यों का उल्लेख द्वितीय स्तम्भ लेख मे किया है उनका पूर्ण विवरण भी उसने शि० ले० २ तथा स्त० ले० ७ में प्रस्तुत कर दिया है "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो प्रकार की चिकित्सा एक मनुष्य की चिकित्सा तथा दूसरी पशुओं की चिकित्सा का प्रबन्ध किया है। औषधियाँ भी मनुष्यों और पशुओं के लिये जहाँ-जहाँ नही थी वहाँ-वहाँ लाई और रोपी गई हैं। इसी तरह से मूल और फल भी जहाँ-जहाँ नही थे सब जगह लाये और रोपे गये हैं। मार्गों में मनुष्यों और पशुओं के आराम के लिये वृक्ष लगाये और कुएँ खुदवाये गये हैं" (शि० ले० २)। स्तम्भ लेख ७ मे भी सम्राट् इसी प्रकार कहते हैं "सड़कों पर भी मैंने मनुष्यों और पशुओ को छाया देने के लिये बरगद के पेड़ लगवाये, आम्रवृक्ष की बाटिकायें लगवाईं, आठ-आठ कोस पर कुएँ खुदवाये सराये बनवाईं और जहाँ-तहाँ पशुओं तथा मनुष्यों के उपकार के लिये अनेक पौंसले बैठाये। किन्तु यह उपकार कुछ भी नही है। पहिले के राजाओं ने और

मैंने भी विविध प्रकार के सुखों से लोगों को सुखी किया है। किन्तु मैंने यह (सुख की व्यवस्था) इसलिये की है कि लोग धर्म के अनुसार आचरण करें।"

उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि जो भी कार्य सार्वजनिक हित के लिये अशोक ने किये हैं वे दृष्टान्त के रूप मे किये हैं और वह ऐसे कार्य करने को धर्म के अनुसार आचरण मानता है। वह चाहता है कि लोग ऐसे ही कार्य करें। अतः अशोक के कार्यों तथा कथन के आधार पर सार्वजनिक रचनात्मक कार्यों की जिन्हें अशोक अच्छे कार्यों के अन्तर्गत मानता है निम्न सूची बनाई जा सकती है।

१. मनुष्यों तथा पशुओं के लिये चिकित्सालय खुलवाना
२. औषधियों की वाटिकायें तथा अन्य बाटिकायें लगवाना
३. मार्ग में छायादार वृक्ष लगवाना
४. कुयें खुदवाना तथा सरायें बनवाना एवम्
५. पौंसले बैठाना

(३) दय (दया)

दया अशोक के धर्म का तृतीय महत्वपूर्ण लक्षण है। सम्राट् इस दया के अन्तर्गत समस्त प्राणी मात्र के कल्याण की कामना करते हैं (शि० ले० १३) और लोगों को अहिंसा का सिद्धान्त अपनाने का आदेश देते हैं। अशोक की अहिंसा हिंसा न करने के निषेधात्मक सिद्धान्त पर आधारित है। मानव के स्वार्थ-स्वाद तथा इच्छा—की पूर्ति के लिये न जाने कितने पशु-पक्षी नित्य बलिदान हो जाते है। उसकी यह धारणा बन गई है कि पशु-पक्षियों का जन्म तो उनके ही लिये हुआ है। प्रारम्भिक जीवन मे अशोक की भी यही धारणा थी। उसकी हिंसा-त्मक वृत्तियों की तृप्ति के लिये भी सहस्रों ही पशुओं की नित्य हिंसा की जाती थी, किन्तु अब वह पशु-पक्षियों की हिसा नही देख सकता और आदेश देता है कि "जीव-हिंसा न करना अच्छा है" (शि० ले० ३) "यहाँ (इस राज्य में) कोई जीव मारकर होम न किया जाय और न समाज किया जाय"(शि० ले० १)। इस निषेधात्मक आदेश को प्रेषित कर ही सम्राट् मौन नहीं हो जाते। वे आदेश देने से पूर्व स्वयं उस आदेश का पालन भी करते है। वे कहते हैं "पहिले देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा की पाकशाला में प्रतिदिन कई सहस्र जीव सूप (शोरवा) बनाने के लिये मारे जाते थे पर अब से जबकि यह धर्म-लेख लिखा जा रहा है केवल तीन ही जीव मारे जाते हैं दो मोर और एक मृग। पर मृग का मारा जाना नियत नहीं है। यह तीनों प्राणी भी भविष्य में न मारे जायेंगे"(शि० ले० १)।

इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि अशोक ने जीवों की हिंसा समाप्त करने का दृढ़ निश्चय कर लिया था और वह स्वयं आदर्श बनकर लोगों के सम्मुख आदर्श रखने के लिये आतुर हो उठा था।

अशोक के सतत प्रयास से जीव-हिंसा में कमी हो गई। अशोक स्वयं इस सत्य की पुष्टि कर देता है। वह कहता है "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्मानुशासन से प्राणियों की अहिंसा, जीवों की रक्षा......बढ़ गई है।" (शि० ले० ४)। वह पुनः इसी सत्य को दोहराता है "......प्राणियों की अहिसा और यज्ञों मे जीवों का अनालंभ बढ़ा है" (स्त० ले० ७)। अशोक जीवों के प्रति अहिंसा की इस नीति को धर्माचरण के अन्तर्गत मानता है। वह उन लोगों को जो इस धर्माचरण के विरुद्ध कार्य करते हैं "दुःशील" (दुराचारी) (शि० ले० ४) कहता है।

जीवों की हिंसा के क्षेत्र मे सतत् प्रयास करने के उपरान्त भी अशोक को पूर्ण सफलता न मिल सकी। सहस्त्रों वर्षों से चली आने वाली परम्परा मानव स्वभाव का इतना दृढ़ अंग बन चुकी थी कि उसका शीघ्र तथा पूर्ण नाश करना अत्यधिक कठिन था। अशोक भी अपने महान् कार्य की इस कठिनाई से परिचित था। किन्तु वह निराश न था। अपने धर्म के अन्तर्गत वह मनुष्यों के समान पशु-पक्षियों को भी जीवन-दान देने के लिये व्यग्र था। वह क ता है "दोपायों, चौपायों, पक्षियों और जलचर प्राणियों पर मैने अनेक प्रकार की कृपा की है। यहाँ तक कि मैने उन्हें प्राण-दक्षिणा तक भी दी है" (स्त० ले० २)। अपने इस प्रयास की मन चाही सफलता न देखकर सम्राट् को विवश होकर इस क्षेत्र में मनुष्यों के धर्माचरण के लिये विशेष नियम बनाने को वाध्य होना पड़ा। वे कहते हैं "मैंने धर्म के नियम इसीलिये बनाये हैं कि अमुक-अमुक प्राणी न मारे जायँ" (स्त० ले० ७)। अशोक के इस कथन से सम्बन्धित स्त० ले० ५ का विवरण अत्यधिक महत्वपूर्ण है।" इस लेख में अशोक कहते हैं :—

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—राज्याभिषेक के २६ वर्ष बाद मैंने इन प्राणियों का बध करना मना कर दिया है यथा सुग्गा, मैना, अरुण, चकोर, हंस, नान्दीमुख, गेलाट, जतुका, अम्बाकपीलिका, दुडि, बे हड्डी की मछली, वेदवेयक, गंगापुपुटक, संकुजमत्स्य, कछुआ, साही, पर्णशश, बारहसिंहा, सांड, ओकपिण्ड, मृग, सफेद कबूतर, ओर गाँव के कबूतर और सब तरह के सब चौपाये जो न तो किसी प्रकार उपयोग में आते हैं और न खाये जाते हैं। गाभिन या दूध पिलाती हुई बकरी, भेड़ी, सुअरी तथा इनके बच्चों को जो ६ महीने तक के हों न मारना चाहिये। मुर्गों को बधिया न करना चाहिये।

जीवित प्राणियों के साथ भूसी को न जलाना चाहिये। अनर्थ करने के लिये या प्राणियों की हिंसा करने के लिये बन में आग न लगानी चाहिये। एक जीव को मारकर दूसरे जीव को न खिलाना चाहिये। प्रति चार-चार महीने की तीन ऋतुओं की तीन पूर्णमासी के दिन, पौष मास की पूर्णमासी के दिन, चतुर्दशी अमावस्या और प्रतिपदा के दिन तथा प्रत्येक उपवास के दिन मछली न मारना चाहिये और न बेचना चाहिये। इन सब दिनों में हाथियों के बन में तथा तालाबों में कोई भी दूसरे प्रकार के प्राणी न मारे जाने चाहिये। प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या वा पूर्णिमा तथा पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन और प्रत्येक चार महीने के त्यौहारों के दिन बैल को न दागना चाहिये। तथा बकरा, भेड़ा, सुअर और इसी तरह के दूसरे प्राणियो को, जो दागे जाते हैं न दागना चाहिये। पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन, प्रत्येक चातुर्मास्य की पूर्णिमा के दिन और प्रत्येक चातुर्मास्य के शुक्लपक्ष में घोड़े और बैल को न दागना चाहिये।"

अशोक के उपर्युक्त कथन से दो बातें पूर्णतया स्पष्ट हो जाती हैं :—

(क) अशोक ने पशु-पक्षियों का वध पूर्णतया नही वरन् आंशिक रूप से बन्द किया था (तथा)

(ख) यह वध वर्ष मे ५६ दिन नही किया जा सकता था।

अशोक के धर्म के अन्तर्गत दया का लक्षण विशेष-रूप से पशु-पक्षियों की अहिंसा पर आधारित है, फिर भी अशोक ने इनकी हिंसा का पूर्णतया निषेध नही किया। उसने केवल वर्ष में निश्चित ५६ दिनों में ही इनके वध न किये जाने की आज्ञा दी। अशोक की इस व्यवस्था के सम्भवतः निम्न कारण थे :—

(१) भारतीय समाज में यज्ञों के अवसर पर पशुओं की हिसा धार्मिक कृत्य बन गई थी। साथ ही पशुओं की हिंसा-मानव स्वभाव का इतना दृढ़ अंग बन गई थी कि उसका पूर्ण नाश असम्भव था।

(२) पशु-पक्षी सहस्त्रों ही मनुष्यों के भोजन के रूप में जीविका के केवल साधन थे।

वर्ष में ५६ दिन निश्चित करके उन दिनों अशोक ने पशु-बध न करने की आज्ञा सम्भवतः निम्न कारणों से दी थी :—

(१) त्योहारों तथा पुण्य पर्वों पर हिंसा न की जाय। ऐसे अवसरों पर अशोक की इच्छा थी कि लोग हिंसा से बचें और धर्म का मनन करें।

(२) सम्राट द्वारा निश्चित दिन पशु-पक्षियों की वंश-वृद्धि के दिन थे। इन दिनों में इनके वध से इनके पूर्णतया लोप हो जाने की सम्भावना थी।

अपने इन नियमों द्वारा जहाँ अशोक ने पशु-बध नियन्त्रित कर दिया वहीं

अपनी व्यावहारिकता भी स्पष्ट कर दी। वह धर्म को ऐसे नियमों से लादना नही चाहता था जिनका पालन असम्भव हो। इसी कारण उसने दया के अन्तर्गत जीव हिंसा का निषेध करने के उपरान्त भी (इस सम्बन्ध में उसने नियमों का निर्माण भी किया) अहिंसा के सिद्धान्त का पालन लोगों के लिये अनिवार्य नही किया। उसने केवल लोगों के हृदय मे पशु-पक्षियों के प्रति दया का भाव जागृति कर उन्हे हिंसा से दूर रहने को प्रोत्साहित किया और उनके इसी प्रयास को उसने धर्मानुचरण भी स्वीकार कर लिया।

स्तम्भलेख ५ में, जहाँ अशोक ने विभिन्न पशु पक्षियों का बध कुछ निश्चित दिनों मे न किये जाने के आदेश का उल्लेख किया है, गाय का उल्लेख नही किया है। गाय की इस सूची में अनुपस्थिति ने अनेको विद्वानों को आश्चर्य मे डाल दिया है। उनके आश्चर्य का कारण सम्भवत: उनके मस्तिष्क में उठने वाला यह प्रश्न है कि अशोक ने गाय की अवहेलना क्यों की ? अन्य पशुओं के सामान उसने गाय के लिये भी किन्ही निश्चित दिनों मे बध न किये जाने की आज्ञा क्यों नही प्रेषित की ? अशोक ने अपनी गाय सम्बन्धी अवहेलना का कारण अपने लेखों में स्पष्ट नहीं किया है किन्तु भारतीय परम्परा के आधार पर इस अवहेलना का स्पष्टीकरण अवश्य किया जा सकता है। गाय भारतीय सभ्यता के विकास के प्रारम्भ में ही भारतीयों के जीवन का घनिष्ट अंग बन चुकी थी। वे इसे परम-पूज्य मानते थे और इसका माँ के समान आदर करते थे आज भी गाय को माता की उपाधि से आभूषित किया जाता है। इस परम-पूज्य माता के सदृश गाय का बध करना तो दूर उसका विक्रय तक भारतीय समाज मे मान्य न था। आज भी कुलीन हिन्दू वर्गो में गाय का विक्रय नही किया जाता। समय के साथ गाय का महत्व समाज मे इतना बढ़ गया था कि लोग उसे मृत्यु के उपरान्त पापों से मुक्ति दिलाने का साधन मानने लगे थे। लोगों की धारणा थी कि मृत्यु से पूर्व गाय का दान करने वाले व्यक्ति को गाय अपनी पूँछ का सहारा देकर स्वर्ग पहुंचा देती है। जिस पशु के सम्बन्ध में इतनी पुनीत धारणायें समाज में बन गई हों और जिसके महत्व से साहित्य भरा पड़ा हो, उस के बध की परम्परा का अनुमान करना ही भयंकर भूल है। अत: स्पष्ट है कि गाय का बध किया ही न जाता था और इसी कारण अशोक ने गाय का उल्लेख करने की आवश्यकता न समझी। इस प्रकार अशोक की सूची में गाय की अनुपस्थिति आश्चर्य में डालने वाली समस्या नहीं है वरन् वह इस सत्य की द्योतक है कि तत्कालीन भारत में गाय के बध की प्रथा थी ही नहीं और समाज द्वारा

सर्व मान्य यह नियम स्वतः ही इतना दृढ़ था कि इसकी पुष्टि राजकीय आज्ञा द्वारा किये जाने की आवश्यकता ही न थी।

४. दाने :—(दान)

दान अशोक के धर्म का चतुर्थ महत्वपूर्ण लक्षण है। सामान्यतः लोग दान से तात्पर्य भौतिक वस्तुओं के दान से मानते हैं किन्तु अशोक के लिये भौतिक वस्तुओं के दान का कोई महत्व नही है। भौतिक वस्तुयें नाशवान होती हैं किन्तु दान एक धार्मिक कृत्य है। अतः धार्मिक कृत्य के लिये नाशवान वस्तुओं का दान निरर्थक है। इससे न तो दान देने वाले को ही लाभ होता है और न दान प्राप्त करने वाले को ही। अशोक के जीवन का उद्देश्य मनुष्यों को पूर्णतया धार्मिक बना देना है जिससे वे इस लोक में सफल तथा परलोक मे अनन्त पुण्य के भागी बन सकें। इसी उद्देश्य के अनुरूप अशोक की दान सम्बन्धी धारणा भी है। शि० ले० ११ मे अशोक कहते हैं "ऐसा कोई दान नही है जैसा धर्म का दान है। (ऐसी कोई मित्रता नही है जैसी) धर्म की मित्रता है, (ऐसी कोई उदारता नही है जैसी) धर्म की उदारता है, (ऐसा कोई सम्बन्ध नही है जैसा) धर्म का सम्बन्ध है। धर्म यह है कि दास और सेवकों से उचित व्यवहार किया जाय, माता और पिता की सेवा की जाय, मित्र, परिचित, सम्बन्धी, श्रमण तथा ब्राह्मणों को दान दिया जाय और प्राणियों की अहिंसा की जाय। इसलिये पिता, पुत्र, माता, स्वामी, मित्र, परिचित और कहाँ तक कहे पड़ोसी को भी यह कहना चाहिये "यह पुण्य कार्य है इसे करना चाहिये"। जो इस प्रकार आचरण करता है (अर्थात् इस प्रकार धर्म-दान करता है) वह इस लोक को भी सिद्ध करता है और परलोक में उस धर्मदान से अनन्त पुण्य का भागी होता है।"

अशोक का उपर्युक्त कथन उसकी दान सम्बन्धी धारणा को पूर्णतया स्पष्ट कर देता है। वह धर्म-दान, धर्म-मित्रता, धर्म-उदारता तथा धर्म-सम्बन्ध को मुख्य मानता है। धर्म भी अशोक के लिये दास, सेवक, माता, पिता, मित्र, परिचित, सम्बन्धी, श्रमण तथा ब्राह्मण के प्रति उचित व्यवहार तथा प्राणियों के प्रति अहिंसा का ही रूप है। वह चाहता है कि लोग उसके द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करें जिससे उनके चरित्र का पूर्ण विकास सम्भव हो सके। अतः इस पूर्ण विकसित चरित्र का दान ही अशोक का धर्म-दान है। इस चरित्र-दान के द्वारा लोग जहाँ दान देने के लिये अपने चरित्र का पूर्ण विकास करने का प्रयास करेंगे वहीं दान प्राप्त करने वाले को भी चिरस्थाई लाभ पहुंचायेंगे। उनके इस कार्य का परिणाम भी अत्यधिक लाभदायक होगा। धर्म पर आधारित मनुष्यों

के पारस्परिक सम्बन्ध दृढ़ होंगे, उनकी मित्रता नैतिक स्तर पर आधारित होगी तथा उनके व्यवहारों में उदारता होगी। इन सब गुणों के मनुष्यों मे पूर्ण होने से उनका पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन भी सुखमय बन जायेगा। इस प्रकार अशोक दान के क्षेत्र में भी अपने व्यावहारिक दृष्किोण का समावेश कर, दान को भी एक मौलिक रूप प्रदान कर देता है। वह दान को व्यक्तिगत दिखावे की वस्तु न मानकर, उसे धार्मिक स्तर पर मानव को वास्तविक रूप में मानव बना देने का साधन बना देता है।

५, ६ सचे, सोचये :—(सत्य तथा शुद्धता)

सत्य तथा शुद्धता अशोक के धर्म के अन्तिम महत्वपूर्ण लक्षण हैं। मनुष्य के प्रत्येक कार्य की दो अवस्थायें होती हैं—वाह्य तथा आन्तरिक। वाह्य रूप से मनुष्य चाहें जितने ही अच्छे कार्यों का करने वाला क्यों न हो और अपने कार्यो के लिये वह समाज द्वारा चाहे जितना ही प्रशंसित क्यों न हो जाय किन्तु जब तक वाह्य के समान उसका अन्तर भी उतना ही अच्छा नही होता उस समय तक प्रशंसा का पात्र होकर भी उसे स्वयं आत्म-सन्तोष प्राप्त नही होता। उसका हृदय सदैव ही ग्लानि का केन्द्र बना रहता है और वह सतत् ऐसे स्थल पर खड़ा रहता है जहाँ से उसकी आन्तरिक भावनायें उसे किसी भी क्षरा नाश के पथ पर ढकेल सकती हैं। अशोक वाह्य कार्यों तथा आन्तरिक भावनाओं के इस अन्तर से परिचित् है और इसी कारण वह चाहता है कि लोग सत्य का मार्ग ग्रहण करने वाले तथा पवित्र भावनाओं वाले हों।

अशोक के मतानुसार सत्य तथा पवित्रता, संयम तथा स्वच्छता से सम्बन्धित हैं। संयम से तात्पर्य मर्यादा से है तथा स्वच्छता का हृदय की निर्मलता से। मनुष्य को वास्तविक रूप से मनुष्य बनने के लिये मर्यादा की रक्षा करनी ही पड़ती है। मर्यादा की रक्षा के लिये उसे अनेकों ही दुर्गुणों से दूर रहना पड़ता है। अशोक के अनुसार ईर्ष्या, श्रम का अभाव, निष्ठुरता जल्दबाजी, अकर्मण्यता, आलस्य और तन्द्रा ऐसी प्रवृत्तियाँ है जो मनुष्य की सफलता के मार्ग में बाधक बन जाती हैं (प्रथम० क० शि० ले०)। मर्यादा की रक्षा के लिये अथवा सत्य का मार्ग ग्रहण करने के लिये इन प्रवृत्तियों से बचना नितान्त आवश्यक है।

अशोक पवित्रता अथवा स्वच्छता के मार्ग में भी अनेकों बाधायें देखते हैं। साम्प्रदायिकता को वे पवित्रता का सर्वाधिक भयंकर शत्रु मानते हैं। जो व्यक्ति अपने सम्प्रदाय में ही अटूट श्रद्धा रखता है और अन्य सम्प्रदायों के प्रति घृणा की भावना रखता है वह न तो धर्म के वास्तविक तत्व का ही ज्ञान प्राप्त

कर पाता है और न उसका दृष्टिकोण ही विशाल बन पाता है। अन्य धर्मों की निन्दा कर अपने धर्म को अच्छा सिद्ध करने की भावना सदैव उसके हृदय को झकझोरा करती है और इस प्रकार वह अपने हृदय को विकारों का केन्द्र बना डालता है। अशोक के मतानुसार ऐसे व्यक्ति केवल अपनी हानि ही नहीं करते वरन् धर्म तथा राष्ट्र की हानि भी करते हैं। इन विकारों से बचने के लिये मनुष्य को अपनी करनी पर नियन्त्रण करना चाहिये अर्थात् उसे बिना कारण दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा न करनी चाहिये तथा दूसरे सम्प्रदाय वालों के साथ बैठकर उसे उनके सिद्धान्तों को सुनना तथा मनन करना चाहिए (शि० ले० १२)। इस प्रकार आचरण करने से मनुष्य धर्म के वास्तविक तत्व को समझ लेता है और उसमे साम्प्रदायिक भावना की कटुता के स्थान पर उदारता की भावना जागृत हो जाती है। अशोक ने अपने धर्म के रूप मे इसी उदारता की भावना को जाग्रति करने का प्रयास किया है। वह सभी सम्प्रदायों के सार (तत्व) की वृद्धि का इच्छुक है (शि० ले० १२)। इस प्रकार अशोक मनुष्यों को उदार बनने की शिक्षा देकर उनके विकारों का नाश करने का प्रयास करता है। विकार-रहित हृदय ही निर्मल अथवा स्वच्छ होता है और उसी में पवित्रता का वास भी होता है।

अपने धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करने के लिये अशोक मनुष्यों मे सत्य तथा पवित्रता का होना आवश्यक मानता है। उसके मतानुसार जिन व्यक्तियों मे सत्य तथा पवित्रता का अभाव होता है वे नीच होते हैं (शि० ले० ७)। नीच व्यक्ति न तो इस जीवन मे सुख ही प्राप्त कर सकते है और न परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति ही।

उपर्युक्त वर्णित अशोक के धर्म की व्याख्या से यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि सम्राट् का धर्म न तो किसी देवी-देवता की आराधना पर आधारित है और न कार्मकाण्ड की किन्हीं आडम्बरमय क्रियाओं पर। बौद्ध धर्मानुयायी होते हुए भी अशोक ने किसी भी स्थल पर महात्मा बुद्ध तक की पूजा का आदेश नही दिया है। भाब्रू शिलालेख में अवश्य अशोक ने बुद्ध के प्रति अपनी श्रद्धा का प्रदर्शन करते हुये कहा है कि "हे भदन्तगण आपको ज्ञात है कि बुद्ध धर्म और संघ में हमारी कितनी भक्ति और गौरव है। हे भगन्तगण जो कुछ भगवान बुद्ध ने कहा है वह सब अच्छा कहा है।" किन्तु यहाँ भी अशोक बुद्ध के स्थान पर बुद्ध के वचनों का मान करते हुये प्रतीत होते हैं। यह सत्य भी इस धारणा की पुष्टि कर देता है कि अशोक का धर्म सिद्धान्तों पर आधारित है।

अनेकों विद्वान् अशोक के इन सिद्धान्तों का वाह्य अध्ययन कर अनायास

ही कह उठते हैं कि इनमें न तो बौद्ध धर्म के चार महान् सत्यों का ही उल्लेख है और न अष्ट पथ का ही। निर्वाण का भी इसमें कोई स्थान नहीं है। अतः इन सिद्धान्तों को बौद्ध धर्म के अन्तर्गत न मानकर मानव-धर्म के अन्तर्गत मानना चाहिये। इस शंका का समाधान पूर्व ही किया जा चुका है, फिर भी सिगालोवाद-सुत्त की एक कथा का उल्लेख यहाँ पर अनुचित न होगा। कथा के अनुसार एक समय बुद्ध राजगृह के पास एक बन में निवास कर रहे थे। एक दिन भिक्षा के लिए जाते समय उन्होंने सिगालो नामक व्यक्ति को आकाश और पाताल की विभिन्न दिशाओं को आदर समर्पित करते हुये देखा। उन्होंने सिगालो से इस कार्य का कारण पूछा। सिगालो ने कहा कि वह यह कार्य पिता के आदेश से कर रहा है। बुद्ध ा कहा कि आकाश-पाताल की पूजा धर्म नही है। फिर धर्म क्या हैं सिगालो का प्रश्न था। बुद्ध ने समझाया "माता-पिता की सेवा, पड़ोसी की सेवा, गुरु, मित्र, परिचित, सम्बन्धी, स्त्री तथा बच्चों की सेवा और उचित मान तथा दास एवम् भृत्य आदि के प्रति उचित व्यवहार करना ही गृहस्थियों की पूजा एवम् धर्म है।" अशोक का धर्म महात्मा बुद्ध के इन्ही शब्दों से ओत-प्रोत है। अशोक जीवन पर्यन्त इन्ही व्यावहारिक नियमों का उपदेश लोगों को देते रहे। अतः स्पष्ट है कि अशोक ने जिन सिद्धान्तों का संकलन कर अपने धर्म-विधान का निर्माण किया वह पूर्णतया बौद्धधर्म के गृहस्थों से सम्बन्धित नियमों पर आधारित है।

पूर्णतया बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों पर आधारित करके भी जिस प्रकार अशोक अपने धर्म को साम्प्रदायिकता की कटुता से बचाये रहा और जिस प्रकार उसने धर्म को करुणा एवम् सार्वलौकिक कल्याण की भावना से ओत-प्रोत कर उसे व्यापकता तथा मानवीय स्तर प्रदान कर दिया, उसका महान् श्रेय उसे अवश्य मिलना चाहिये। धर्म को मानव व्यवहार पर आधारित कर तथा समस्त सम्प्रदायों के सार की वृद्धि ही मानव की सफलता की माप मानकर, उसने जिस मौलिक रूप से साम्प्रदायिकता की समस्या को सुलझाया, वह आज भी अनुकरणीय है। उसने अन्य धर्माधिकारियों की भाँति इस संसार को नश्वर बता कर लोगों के हृदय में इसके प्रति विरक्ति उत्पन्न नही की वरन् उसने लोगों को संसार से प्रेम करना सिखाया। वास्तविक सुख पारिवारिक एवम् सामाजिक सम्बन्धों की दृढ़ता मे तथा विश्व-बन्धुत्व की भावना के उत्कर्ष में है, इस सिद्धान्त का प्रचार कर उसने अपने धर्म को आध्यात्मिक जगत के रहस्यों के समाधान का साधन न बनने दिया वरन् इसे वह व्यावहारिक रूप प्रदान कर दिया जिससे प्रभावित होकर ही संसार ने अशोक के धर्म-विधान को मानव-व्यवहार-संहिता

की उपाधि से आभूषित कर डाला। अशोक का यह व्यावहारिक दृष्टिकोण ही उसकी मौलिकता है और अपनी इस मौलिकता के कारण ही अशोक संसार के समस्त धर्म-प्रवर्तकों मे मानव के अधिक निकट है।

धर्मानुचरण का परिणाम :—

लाभ-रहित पराक्रम मनुष्य के लिये असम्भव है। अशोक इस सत्य से परिचित था और इसीलिये उसने अपने लेखों मे बराबर धर्मानुचरण के परिणाम-स्वरूप दो प्रकार के लाभों का उल्लेख किया है—(१) इस जीवन मे सुख तथा (२) परलोक मे स्वर्ग की प्राप्ति (शि० ले० ६, १०, ११ तथा १३; क० शि० ले० १ तथा २; स्त० ले० ३, ४ तथा ७)। स्वर्ग के उल्लेख से आनायास ही यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि अशोक का स्वर्ग से क्या तात्पर्य है ? अशोक ने अपने लेखों मे धर्मानुचरण के परिणाम-स्वरूप स्वर्ग की प्राप्ति का उल्लेख तो किया है किन्तु स्वर्ग की स्पष्ट व्याख्या कही नहीं की है। अतः स्वर्ग के प्रति अशोक की वास्तविक धारणा का अनुमान लगाना कठिन है। फिर भी भारतीय परम्पराओं मे स्वर्ग के प्रति लोगों की धारणा के आधार पर अशोक की धारणा का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। भारतीय परम्परायें अनेकों ही स्वर्गों के अस्तित्व को मानती है। मनुष्य अपने अच्छे कर्मों के अनुसार मृत्यु के उपरान्त इनमें से किसी एक स्वर्ग की प्राप्ति करता है। स्वर्ग में मनुष्य देवता का रूप धारण कर लेता है और प्रत्येक प्रकार के दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर वह सुख तथा शान्ति का जीवन व्यतीत करता है। स्वर्ग में उसे अनेकों ही ऐसे उपहार भी प्राप्त होते हैं जिनके द्वारा वह अपनी प्रत्येक इच्छा सहज ही पूरी कर लेता है। किन्तु जो व्यक्ति अच्छे कार्य न कर बुरे कार्य करते है उन्हें अपने कार्यो के अनुसार नरक की प्राप्ति होती है। नरक में मनुष्य को दारुण दुःख तथा भयं-कर यातनायें सहन करनी पड़ती हैं। परम्पराओं पर आधारित स्वर्ग तथा नरक के अस्तित्व को तो स्वीकार नही किया जा सकता किन्तु इस सत्य को स्वीकार करने में लेशमात्र भी संकोच नहीं होता कि इनके अस्तित्व की कल्पना इसीलिये की गई होगी कि मनुष्य बुरे कार्यों से दूर रहे तथा अच्छे कार्यों को करे। मनुष्य सदैव ही सुख की प्राप्ति के लिये प्रयास करता रहता है और उसकी इच्छायें निरन्तर बढ़ती ही रहकर उसे अधिक से अधिक सुख प्राप्त करने के लिये प्रोत्साहित करती रहती हैं। अधिक से अधिक सुख प्राप्त करने के प्रयास में वह औरों के सुखों पर आघात करता है तथा दूसरे उसके सुखों पर। आघात-प्रत्याघात का यह संघर्ष जीवन पर्यन्त चलता रहता है और अंत में मनुष्य

अपनी अपूर्ण इच्छाओं के लिये आँसू बहाता काल के मुख में समा जाता है। जीवन का यह सत्य स्पष्ट कर देता है कि मनुष्य के जीवन का केवल उद्देश्य सुख की प्राप्ति तथा इच्छाओं की पूर्ति है। स्वर्ग में इन्हीं उद्देश्यों की चिर-स्थायी पूर्ति सहज ही हो जाती है, यह कल्पना मनुष्यो के लिये कितनी प्रलो-भनकारी बन सकती है, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि स्वर्ग मनुष्यों के लिये एक ऐसा काल्पनिक प्रलोभन है जो उन्हें अच्छे कार्य करने के लिये उत्तेजित करता है। अशोक की स्वर्ग सम्बन्धी धारणा भी इसी प्रकार की रही होगी।

अशोक की स्वर्ग सम्बन्धी धारणा का कुछ भी रूप क्यों न रहा हो किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि अशोक का स्वर्ग के अस्तित्व मे पूर्ण विश्वास था और इसी कारण उसने स्वर्ग की प्राप्ति का प्रलोभन बारबार लोगों को दिया है। उसे इस धारणा का भी विश्वास था कि धर्मानुचरण (अच्छे कार्य) के परिणाम स्वरूप ही स्वर्ग की प्राप्ति संभव है। यहाँ एक समस्या और उठ खड़ी होती है। अशोक बौद्ध धर्मानुयायी था और उसका उद्देश्य बौद्ध धर्म का प्रचार करना था। बौद्ध धर्म निर्वाण की प्राप्ति को जीवन का अन्तिम महान् उद्देश्य मानता है। तो फिर अशोक ने निर्वाण के स्थान पर स्वर्ग का उद्देश्य क्यों अपनाया ? क्या यह उसकी बौद्ध धर्म को स्वयं अपनी देन है ? इस समस्या का समाधान स्वयं महात्मा बुद्ध के कथन से हो जाता है। महात्मा बुद्ध ने कहा था कि एक सामान्य उपासक तथा अच्छे कार्य करने वाला गृहस्थ अपने कार्यों के कारण मृत्यु के उपरान्त कर्मों के अनुसार किसी एक स्वर्ग मे देवता के रूप में जन्म लेता है। इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध धर्म भी अनेकों ही स्वर्गों के अस्तित्व मे विश्वास करता है तथा स्वर्ग की प्राप्ति के लिये अच्छे कार्य करना नितान्त आवश्यक मानता है। किन्तु जैसा कि महात्मा बुद्ध के कथन से स्पष्ट है, बौद्ध धर्म स्वर्ग का अस्तित्व केवल साधारण उपासकों तथा गृहस्थों के लिये ही मानता है। निर्वाण का उद्देश्य जिसे बौद्ध धर्म में प्रमुख स्थान प्राप्त है केवल भिक्षुओं के लिये था, यह सत्य भी स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है। अतः स्वर्ग की कल्पना अशोक की बौद्ध धर्म को देन है नहीं मानी जासकती। वास्तव में अशोक की स्वर्ग सम्बन्धी धारणा भी बौद्ध धर्म से ही सम्बन्धित है।

धर्मानुचरण से मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग की प्राप्ति होती है और वहाँ दिव्य उपहारों की प्राप्ति कर मनुष्य देवता बन जाता है, इस भावना को और भी अधिक स्पष्ट कर लोगों को दृढ़ धर्मानुयायी बनाने के लिये अशोक ने एक नवीन योजना बनाई। उसने धर्म-घोष को भेरी-घोष का स्थान प्रदान किया

तथा दिव्य वस्तुओं के प्रदर्शन का आयोजन किया (शि० ले० ४) इसी लेख में अशोक ने विमान, हाथी, अग्निस्कन्ध तथा अन्य दिव्यानि रूपानि के प्रदर्शन का उल्लेख किया है।

विमान :—विमान देवताओं के रथ का परिचायक है। इसका अधिकारी इच्छानुसार कहीं भी आ जा सकता है। इसके प्रदर्शन से सभवतः अशोक लोगो को यह बताना चाहता था कि धर्मानुचरण से स्वर्ग मे ऐसे ही विमानों की प्राप्ति होगी।

हाथी :—बौद्ध धर्म की एक कथा के अनुसार महात्मा बुद्ध ने श्वेत हाथी के रूप मे अपनी माँ के गर्भ मे प्रवेश किया था। श्वेत हाथी की आज भी बौद्ध धर्मानुयायी पूजा करते हैं। अतः हाथी को महात्मा बुद्ध के अस्तित्व का प्रतीक माना जाना चाहिये। संभवतः हाथी के प्रदर्शन से अशोक का उद्देश्य महात्मा बुद्ध के प्रति लोगों का ध्यान आकर्षित करना था और उन्हे इस महान् पुरुष के पद-चिन्हों पर चलने के लिये प्रोत्साहित करना था।

अग्निस्कन्ध :—अग्निस्कन्ध से अशोक का क्या तात्पर्य था आज तक स्पष्ट न हो सका है। खदिरांगर जातक में अग्निस्कन्ध का उल्लेख हुआ है। इसी आधार पर भंडारकर महोदय का मत है कि अग्निस्कन्ध महात्मा बुद्ध के जीवन की किसी घटना से सम्बन्धित है। प्रोफेसर कृष्णास्वामी आयंगर इस सम्बन्ध मे दक्षिण भारत के एक उत्सव का उल्लेख करते हैं। दक्षिण भारत मे कार्तिक की पूर्णिमा को मन्दिरों में दीपावली होती है। नारियल या ताड़ का तना पृथ्वी मे गाड़ दिया जाता है और भूमि झण्डियों से सजाई जाती है। जब सहस्त्रों दीप जल जाते हैं उस समय तने मे आग लगा दी जाती है। आयंगर महोदय के मतानुसार सम्भवतः अशोक के समय में भी ऐसा ही कोई दृश्य प्रदर्शित किया जाता हो।

अग्निस्कन्ध का सम्बन्ध किसी भी घटना से क्यों न हो किन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि इस दृश्य में अग्नि की प्रमुखता है। भारतीय परम्परा मे अग्नि को दिव्य तथा तेज का प्रतीक माना गया है। इसके प्रकाश से अन्धकार का नाश होता है और मनुष्य पूर्ण ज्ञान का केन्द्र बन जाता है। सम्भवतः अशोक अग्नि स्कन्ध के प्रदर्शन द्वारा लोगों को यह बताना चाहता था कि धर्मानुचरण से मनुष्य के मन का अन्धकार दूर हो जाता है और वह अग्नि-सा दैदीप्यमान होकर दिव्य रूप बन जाता है।

दिव्यानि रूपानि :—(अन्य स्वर्गीय दृश्यों का प्रदर्शन)। सम्भवतः इन तीन दृश्यों (विमान, हाथी तथा अग्निस्कन्ध) के अतिरिक्त अन्य अनेकों दृश्यों

का प्रदर्शन भी किया जाता होगा। इन्हीं सब दृश्यों के लिये अशोक ने दिव्यानि-रूपानि का प्रयोग किया है।

इन दृश्यों का जिस क्रम से उल्लेख किया गया है उस पर एक आपत्ति उठाई जा सकती है। वह यह कि अशोक ने महात्माबुद्ध के प्रतीक हाथी का उल्लेख देवताओं के रथ के परिचायक विमान के उपरान्त क्यों किया ? क्या देवता महात्मा बुद्ध से अधिक महत्वपूर्ण थे ? वाह्य रूप से इस क्रम का अध्ययन करने वालों के लिये तो यह क्रम अशोक की भयंकर भूल का परिचायक प्रतीत होता है किन्तु इस समस्या का गहन अध्ययन अशोक को एक महान् मनोविज्ञानिक के रूप में प्रस्तुत कर देता है। अशोक धर्म को उद्देश्य की पूर्ति का साधन मानता है। उद्देश्य स्वर्ग तथा उसके सुखों की प्राप्ति है। महात्मा बुद्ध एक ऐसे धर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसने स्वर्ग की प्राप्ति के सामान्य लोगों के प्रति भी सुलभ बना दिया। अतः बुद्ध और उनके धर्म को भी साध्य न मान कर एक उद्देश्य का साधक ही माना जा सकता है। लोग बौद्ध धर्म का आदर करते हैं, उसके अनुयायी बनते हैं धर्म के उद्देश्य से नही और न ही इस कारण कि बुद्ध इस धर्म के प्रवर्तक हैं, उनका उद्देश्य तो स्वर्ग की प्राप्ति का होता है, जिसका सरल मार्ग महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म में प्रदर्शित किया है। अतः स्पष्ट है कि लोगों के लिये जितना महत्व उद्देश्य का होता है। उतना साधन का नही। स्वर्ग उद्देश्य है और बुद्ध साधन। लोगों की इसी धारणा पर अशोक के दृश्यों का क्रम आधारित है। विमान द्वारा वह लोगों के सम्मुख स्वर्ग के सुखों का प्रदर्शन करता है और हाथी द्वारा उस साधन की ओर संकेत करता है जिसका सहारा उस सुख की प्राप्ति करा सकता है। अग्नि स्कन्ध को यदि अज्ञानता के अन्धकार का नाश करने वाले तेज का परिचायक माना जाय उस दशा में अशोक का इसके प्रदर्शन से यही तात्पर्य रहा होगा कि बौद्ध-धर्म की शरण में आने पर मनुष्य देवताओं सा ज्योतिमय बन जाता है। इन तीन दृश्यों के उपरान्त अशोक ने दिव्यानि रुपानि का उल्लेख किया है। सम्भवतः अशोक का तात्पर्य यही है कि बौद्ध धर्म की शरण में आने पर मनुष्य को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। वह देवताओं सा ज्योतिमय बन जाता है तथा अन्य स्वर्गीय वस्तुयें (जिनके दृश्यों का उल्लेख न कर दिव्यानि रुपानि के प्रयोग से ही जिनका संकेत कर दिया गया है) मनुष्य को सहज ही प्राप्त हो जाती हैं।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अशोक द्वारा स्वर्ग के दृश्यों का प्रदर्शन जहाँ एक ओर लोगों को धर्मानुचरण के प्रति प्रोत्साहित करने के लिये

था, वहाँ दूसरी ओर महात्मा बुद्ध तथा उनके धर्म के महत्व का प्रदर्शन कर इसका उद्देश्य बौद्ध धर्म का प्रचार करना भी था।

सामाजिक सुधार :—

मनुष्य भविष्य की अपेक्षा वर्तमान के लिये अधिक चिन्तित रहता है। मनुष्य का यह कार्य बहुत कुछ अर्थों में उचित भी है क्योंकि वर्तमान ही भविष्य का निर्माण करता है। अशोक भी इस सत्य से परिचित था और इसी कारण उसने धर्मानुचरण के परिणामस्वरूप दो प्रकार के लाभों का उल्लेख भी किया है। परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति सम्बन्धी लाभ की व्याख्या की ही जा चुकी है। दूसरा लाभ इस जीवन में सुख की प्राप्ति से सम्बन्धित है। स्वर्ग की धारणा के समान 'इस जीवन में सुख' से अशोक का क्या तात्पर्य है, यह भी एक विचारणीय समस्या है।

सुख अशोक के प्रति इच्छाओं की पूर्ति के लिये भौतिक अथवा नाशवान वस्तुओं की प्राप्ति का नाम नही है। यदि सुख भौतिक वस्तुओं से सम्बन्धित होता उस दशा में अशोक विहार-यात्रा तथा भेरी-घोष का स्थान क्रमशः धर्म-यात्रा तथा धर्म-घोष को प्रदान करता हुआ न दिखाई देता और न ही इस सुख की प्राप्ति के लिये वह समस्त सम्प्रदायों के सार की बृद्धि के प्रति मनुष्य के वाह्य तथा आन्तरिक व्यवहार के सिद्धान्तों का निर्माण करता। अशोक की सुख सम्बन्धी धारणा उसके धार्मिक दृष्टिकोण पर आधारित है। धर्म द्वारा वह मनुष्यों में एक आदर्श चरित्र का निर्माण करना चाहता है और इस चरित्र के पूर्ण विकास को ही वह सुख की प्राप्ति का कारण भी मानता है। उसके धर्म के व्यावहारिक सिद्धान्त इस सत्य की पुष्टि कर देते हैं। अतः स्पष्ट है कि अशोक का सुख से तात्पर्य मनुष्य के पूर्ण विकास से है।

मनुष्य का पूर्ण विकास उसकी अभ्यान्तर क्रियाओं पर आधारित होकर भी बहुत अंशों में सामाजिक वातावरण अथवा परिस्थितियों पर निर्भर रहता है। यह अवश्य है कि कभी-कभी एक व्यक्ति ही अपनी प्रतिभा से समाज में महत्वपूर्ण परिवर्तन कर देता है किन्तु सामान्यतः लोगों में यह शक्ति नहीं होती और वे अपने विकास के लिये समाज पर निर्भर रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों का ही समाज में बहुमत होता है। अतः व्यक्तियों का पूर्ण विकास करने के लिये उनके अनुकूल परिस्थितियों का उत्पन्न करना आवश्यक हो जाता है। परिस्थितियों का उत्पन्न करना ही समाज के प्रचलित नियमों अथवा परम्पराओं में परिवर्तन करना है। अशोक ने भी तत्कालीन समाज में ऐसी अनेकों परम्परायें देखी जो

मानव के पूर्ण विकास के उद्देश्य की पूर्ति में बाधक बन रही थीं। ऐसी परम्परायें निम्न थी :—

१. हिसा (शि० ले० १, ३, ४; स्त० ले० ५)
२. भेरी-घोष (शि० ले० ४, तथा १३)
३. बिहार-यात्रा (शि० ले० ८) तथा
४. मंगलाचरण (शि० ले० ६)

अशोक ने उपर्युक्त परम्पराओं को अपने सुधारों द्वारा ऐसी परिस्थितियों अथवा वातावरण में परिणित करने का प्रयास किया जो मनुष्य के विकास में सहायक हो सकें। अपने इस प्रयास में उसे अत्यधिक सफलता भी प्राप्त हुई।

१. हिंसा :—

हिसा के सम्बन्ध में अशोक की आज्ञा थी :—

"यहाँ (इस राज्य में) कोई जीव मारकर होम न किया जाय और न समाज किया जाय" (शि० ले० १)

"·······माता पिता की सेवा करना तथा मित्र, परिचित, स्वजातीय ब्राह्मण और श्रमण को दान देना अच्छा है। जीवंहिसा न करना अच्छा है" (शि० ले० ३)

"···आज देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्मानुशासन से प्राणियों की अहिसा, जीवों की रक्षा ···बढ़ गई है" (शि० ले० ४)

"······राज्याभिषेक के २६ वर्ष बाद मैंने इन प्राणियों का बध करना मना कर दिया है यथा-सुग्गा, मैना ·····आदि" (स्तम्भ ले० ५)

उपर्युक्त आज्ञाओं के आधार पर सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि अशोक के समय मे दो प्रकार की हिंसा प्रचलित थी।

(क) यज्ञों के अवसर पर होने वाली जीव-हिंसा।

(ख) आहार अथवा मनोविनोद के प्रति की जाने वाली जीव-हिंसा।

यज्ञों के अवसर पर प्राणियों के बलि दिये जाने की प्रथा ब्राह्मण धर्मानुयायी शक्ति के उपासकों मे अत्यधिक प्रचलित थी। प्राणियों के बलिदान के प्रश्न को लेकर बलिदान की परम्परा में विश्वास तथा सहानुभूति रखने वालों तथा बौद्ध धर्मानुयायियों के मध्य बहुधा वाद-विवाद संघर्ष की सीमा तक पहुंच जाता था। नित्यप्रति के ऐसे ही संघर्षों के परिणामस्वरूप धर्म इन्हीं संघर्षो में केन्द्रित होकर रह गया था।

आहार तथा मनोविनोद के प्रति तो नित्य ही सहस्त्रों जीवों का नाश

किया जाता था। स्वयं "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा (अशोक) की पाक-शाला में प्रतिदिन कई सहस्त्र जीव सूप (शोरवा) बनाने के लिये मारे जाते थे" (शि० ले० १)।

यज्ञ तथा आहार के प्रति नित्य ही की जाने वाली सहस्त्रों ही जीवों की हत्याओं ने मनुष्यों की मनोवृत्ति को हिंसात्मक बना दिया था और वे मानवता के प्रतीक करुणा, दया तथा प्रेम आदि लक्षणों से दूर हो दानवत्व के परिचायक बन गये थे। सम्भवतः उनके उत्सवों में भी इसी हिंसात्मक वृत्ति पर आधारित कार्यों की ही प्रमुखता रहती थी। शि० ले० प्रथम में अशोक द्वारा समाज का उल्लेख और उसके निषेध की आज्ञा इस सत्य की पुष्टि कर देती है। समाज के अवसर पर पशुओं के युद्ध, रथों की दौड़ तथा नृत्य एवम् गान का आयोजन होता था। मदिरा के प्रयोग के साथ सहस्त्रों ही जीवों की हिंसा मांस के लिये की जाती थी।

अशोक ने इन हिंसात्मक परम्पराओं को मानवीय स्तर पर परिणित करने का प्रयास किया। उसने आज्ञा दी कि न तो यज्ञों के अवसर पर जीवों की हिंसा की जाय और न समाज का ही आयोजन किया जाय (शि० ले० १) समाज के निषेध से यह तात्पर्य नहीं कि अशोक ने सभी उत्सवों का निषेध कर दिया। उसकी आज्ञा केवल ऐसे (उत्सवों) समाजों के लिये थी जो हिंसात्मक कार्यों पर आधारित थे। अशोक की आज्ञा "तथापि एक प्रकार के ऐसे समाज हैं जिन्हें देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा पसन्द करते हैं" (शि० ले० १) इस सत्य की पुष्टि कर देती है। सम्भवतः दूसरे प्रकार के समाज में धार्मिक कार्यों की प्रमुखता रहती थी और अशोक ने इनके आयोजन की आज्ञा प्रदान कर दी थी। आहार तथा मनोविनोद के प्रति की जाने वाली जीवों की हिंसा के प्रति अशोक की आज्ञा यज्ञों के अवसर पर की जाने वाली हिसा के समान पूर्णतया निषेधात्मक न थी। इस क्षेत्र में सम्राट केवल एक उपदेशक के रूप में सामने आते हैं। वे कहते हैं "जीव हिंसा न करना अच्छा है" (शि० ले० ३)। सम्भवतः मांसाहार प्रजा के भोजन का एक मुख्य अंग बन गया था और अनेकों ही व्यक्तियों की जीविका मांस पर ही आधारित थी, इसी कारण अशोक ने इसके अनायास ही निषेध की आज्ञा न दी। उसने इस प्रथा का धीरे-धीरे नाश करना चाहा और इसी कारण वह उपदेशक के रूप में प्रजा के सामने आया। अशोक की निषेधात्मक आज्ञाओं का तो प्रजा ने पालन किया होगा किन्तु उसके उपदेशों का प्रजा पर क्या प्रभाव पड़ा कहना कठिन है। शि० ले० ४ में अशोक के इस कथन के आधार पर कि उसके धर्मानुशासन से प्राणियों की अहिंसा तथा जीवों

की रक्षा बढ़ गई है यह अनुमान किया जा सकता है कि जीवों की हिंसा पूर्ण-तया बन्द न की जा सकी और इसी कारण अशोक को राज्याभिषेक के २६ वर्ष बाद विभिन्न प्राणियों की रक्षा के लिये वर्ष के ५६ विभिन्न दिनों में विभिन्न प्राणियों की हिंसा न करने की आज्ञा प्रेषित करनी पड़ी (स्त० ले० ५)। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अशोक के प्रयासों के परिणामस्वरूप जीवों की हिंसा में कमी के साथ मानव के स्वभाव में भी अवश्य परिवर्तन हुआ होगा। यज्ञों के अवसर पर बलि दिये जाने की प्रथा के निषेध से धार्मिक संघर्षों का भी अन्त हो गया होगा। संघर्षों के अभाव में समाज का विकास सरल हो जाता है। अशोक के समय के समाज का विकास, जिसका प्रमाण स्वयं अशोक के लेख हैं, उपर्युक्त सम्भावनाओं को दृढ़ धारणा का रूप सहज ही प्रदान कर देता है।

(२) भेरी-घोष :—

समाज का विकास शांति मे ही सम्भव है। युद्ध शांति का सर्वाधिक भयंकर शत्रु है। युद्ध में मानव की हिंसात्मक वृत्तिया जागृत हो उठती हैं और वह दानव का रूप धारण कर लेता है। समाज भी इसी दानवत्व के अट्टहास से विनाश की साकार मूर्ति बन जाता है। द्वितीय महासमर के परिणाम स्वरूप समाज का जो विनाश हुआ था उसके घावों की पूर्ति आज तक न हो पाई है। कलिंग युद्ध के पश्चात् अशोक ने युद्ध के भयंकर परिणामों का अनुभव किया और उसने युद्धों को समाज के विनाश का कारण भी घोषित कर दिया। वह कहता है" कलिंग को जीतने पर देवताओं के प्रिय को बड़ा पाश्चाताप हुआ। क्योंकि जिस देश का पहिले विजय नहीं हुआ है उस देश की विजय होने पर लोगों की हत्या व मृत्यु अवश्य होती है और न जाने कितने आदमी कैद किये जाते हैं। देवताओं के प्रिय को इसमे बहुत दुःख और खेद हुआ। देवताओं के प्रिय को इस बात से और भी दुःख हुआ कि वहां ब्राह्मण श्रमण तथा अन्य सम्प्रदाय के मनुष्य और गृहस्थ रहते हैं, जिनमें ब्राह्मण की सेवा, माता-पिता की सेवा गुरुओं की सेवा, मित्र, परिचित, सहायक, दास और सेवकों के प्रति अच्छा व्यव-हार किया जाता है और जो दृढ़-भक्ति-युक्त होते हैं ऐसे लोगों का वहाँ विनाश, बध या प्रियजनों से बलात् वियोग होता है। अथवा जो स्वयं तो सुरक्षित होते हैं पर जिनके मित्र, परिचित, सहायक और सम्बन्धी विपत्ति में पड़ जाते हे उन्हें भी अत्यन्त स्नेह के कारण बड़ी पीड़ा होती है। यह सब विपत्ति प्रायः हर एक मनुष्य के हिस्से में पड़ती है इससे देवताओं के प्रिय को विशेष दुःख होता है" (शि० ले० १३)।

अशोक के उपर्युक्त कथन से पूर्णतय: स्पष्ट हो जाता है कि अशोक के हृदय में युद्ध के प्रति अथवा भेरी-घोष के प्रति जो घृणा उत्पन्न हुई उसका कारण, उसकी भीरुता न थी वरन् वह मानवीय क्रन्दन था जो सामाजिक विकास का शत्रु और विनाश का द्योतक था। उसने यह भी अनुभव कर लिया था कि युद्ध द्वारा प्रभुत्व के विस्तार तथा शान्ति की स्थापना का प्रयास केवल मृगतृष्णा है। राजाकी कीर्ति उसके साम्राज्य की भौगोलिक सीमाओं की विशालता पर निर्भर नही करती, उसका आधार तो वह नैतिक तथा धार्मिक प्रगति है जो साम्राज्य की प्रजा उसके सुशासन से प्राप्त करती है (शि० ले० १०)। परिणामस्वरूप अशोक ने सदैव के लिये देशों की विजय के प्रति युद्धों का त्याग कर दिया और उसकी प्रतिज्ञा पाषाणों के हृदय पर चिरकाल के लिये शान्ति, करुणा, प्रेम तथा दया का सन्देश विश्व को प्रदान करने के प्रति चिर-स्थित हो गई।

अशोक द्वारा भेरी-घोष के निषेध की आज्ञा और इसके परिणामस्वरूप सम्राट की नीति में परिवर्तन समाज के प्रति वरदान बन गया। जहाँ मानव ने युद्धों की भयंकरता से मुक्ति पा सन्तोष की साँस ली वहीं समाज अपने उत्कर्ष के लिये प्रगति के मार्ग पर द्रुत गति से दौड़ चला। अशोक की इस नई नीति के परिणाम का अनुभव स्वयं उसके शब्द करा देते हैं "यह धर्म-विजय (करुणा, प्रेम तथा दया के सन्देश पर आधारित) देवताओं के प्रिय ने यहाँ (अपने साम्राज्य में) तथा ६ सौ योजन दूर पड़ोसी राज्यों में प्राप्त की है। जहाँ अन्तियोक नाम यवन राजा राज्य करता है और उस अन्तियोक के बाद तुरमय अन्तिकिन, मक और अलिकसुन्दर नाम के चार राजा राज्य करते है और उन्होंने अपने राज्य के नीचे चोड, पाण्डय तथा ताम्रपर्णी में भी धर्म विजय प्राप्त की है। उसी प्रकार हिंदराज के राज्य में तथा राजविषयों मे—यवनों में, काम्बोजों में नाभक नाभ पंक्तियों में, भोजों में, पितनिकों में, आन्ध्रों में और पुलिन्दों में सब जगह लोग देवताओं के प्रिय का धर्मानुशासन अनुसरण करते हैं और अनुसरण करेंगे। जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं पहुंच सकते वहाँ-वहाँ भी लोग देवताओं के प्रिय का धर्माचरण, धर्म विधान और धर्मानुशासन सुनकर धर्म के अनुसार आचरण करते हैं और भविष्य में आचरण करेंगे" (शि० ले० १३)।

यह था अशोक के भेरी-घोष सम्बन्धी सुधार का परिणाम, जिसने विभिन्न स्वतन्त्र तथा शक्तिशाली साम्राज्यों की भौगोलिक सीमाओं को मानवीय स्तर पर एक कर दिया और जहाँ के समाज विश्व-बन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत हो, विभिन्नता में एकता उत्पन्न कर, सम्पूर्ण विश्व को इकाई का रूप प्रदान करने के लिये आतुर हो उठे।

३. विहार-यात्रा

सभ्यता के प्रारम्भ से ही आखेट मनोविनोद का एक महत्वपूर्ण साधन रहा है। ऐसी ही आखेट तथा अन्य मनोविनोद सम्बन्धी यात्राओं को अशोक ने विहार-यात्रा कहा है। वह कहता है "बहुत दिन हुये देवताओं के प्रिय विहार-यात्रा के लिये निकलते थे। इन यात्राओं में मृगया और इसी प्रकार के दूसरे आमोद-प्रमोद होते थे" (शि० ले० ८)। अन्य आमोद-प्रमोदों से सम्भवतः अशोक का तात्पर्य मांसाहार, मदिरा तथा नृत्य आदि के आयोजनों से है। किन्तु लोकमंगल की भावना से ओत-प्रोत अशोक के प्रति रचनात्मक कार्यक्रम प्रमुख था। वह इसीलिये विहार-यात्राओं को हिंसा पर आधारित होने के कारण मनुष्य तथा समाज की शक्ति, धन तथा समय के नाश के साथ ही उसके नैतिक स्तर के पतन का कारण मानता था। किन्तु वह समाज की इस अत्यधिक प्रचलित परम्परा का प्रत्यक्ष रूप से विरोध भी नहीं करना चाहता था। अतः उसने अप्रत्यक्ष रूप से इस परम्परा मे सुधार करने का प्रयास किया। उसने विहार-यात्रा के स्थान पर धर्म-यात्रा को अभिनन्दनीय बताया और इसके पूर्व कि प्रजा इस मार्ग का अनुसरण करे, उसने स्वयं विहार-यात्राओं पर जाना त्याग दिया। धर्म-यात्रा की प्रथा के प्रारम्भ के सम्बन्ध में अशोक ने स्वयं कहा है "देवताओं के प्रिय, प्रियदर्शी राजा ने राज्याभिषेक के १० वर्ष बाद सम्बोधि का अनुसरण किया। इस प्रकार धर्म-यात्रा (की प्रथा का प्रारम्भ हुआ)" (शि० ले० ८)। धर्म-यात्राओं के प्रचलन से अशोक का एक निश्चित उद्देश्य भी था। वह समाज की हिंसात्मक तथा पाशविक मनोवृत्तियों को जिन्हें बिहार-यात्राओं द्वारा उत्तेजना तथा प्रोत्साहन मिलता था अहिंसात्मक तथा मानवीय प्रेमोत्पादक भावनाओं में परिणित करना चाहता था। धर्म-यात्राओं से सम्बन्धित उसका कार्यक्रम उसके इसी उद्देश्य की पूर्ति का परिचायक है। इन अवसरों पर उसका कार्यक्रम था :—

"१. श्रमण तथा ब्राह्मणों का दर्शन करना और उन्हें दान देना।

२. वृद्धों का दर्शन करना और उन्हें सुवर्ण दान देना तथा

३. ग्रामवासियों के पास जाकर उन्हें उपदेश देना और धर्म विषयक विचार करना।" (शि० ले० ८)।

उपर्युक्त कार्यक्रम से स्पष्ट हो जाता है कि अशोक की धर्म-यात्राओं सम्बन्धी योजना केवल धार्मिक स्थानों के दर्शनार्थ ही न थी वरन् यह उसके रचनात्मक कार्यक्रम का प्रमुख अंग थी। उसकी इच्छा थी कि जनता उसके दिखाये मार्ग का अनुसरण करे और श्रमण, ब्राह्मणों तथा वृद्धों के दर्शन तथा

उन्हें दान देकर जहाँ वह मानवीय भावनाओं का उपार्जन करे वही ग्रामवासियों को वास्तविक धर्म का ज्ञान कराकर उन अन्धविश्वासों पर आधारित उनकी भ्रमात्मक धारणाओं का नाश भी कर दे जिनसे वे पूर्णतया प्रभावित हैं और जिस प्रभाव के कारण वे वास्तविक सुख की प्राप्ति भी नहीं कर पाते।

४. मंगलाचार :—

अन्धविश्वासों के नाश सम्बन्धी अशोक का सुधार भी अपना अनोखा महत्व रखता है। अशोक के इस सुधार का सम्बन्ध न तो धर्म के सिद्धान्तों से है और न किसी धर्म विशेष से ही। इस सुधार द्वारा उसका उद्देश्य मनुष्यों के धार्मिक दृष्टिकोण को परिवर्तित करना था। उसका विश्वास था कि धर्म का कोई भी सम्बन्ध परम्पराओं तथा रूढ़ियों से नही है। धर्म, अशोक के लिये व्यवहार तथा चरित्र से सम्बन्धित उन उचित सम्बन्धों का नाम है जो मनुष्य परिवार तथा देश में स्थापित करता है। किन्तु अशोक ने तत्कालीन समाज को परम्पराओं तथा रूढ़ियों से परिपूर्ण पाया। मंगलाचार के नाम पर उसने लोगों को इन परम्पराओं का बिना इनका महत्व समझे अनुकरण करते देखा। स्त्रियों में तो यह अनुकरण उनके स्वभाव का एक शक्तिशाली अंग बन गया था। वे विपत्ति काल में, पुत्र के विवाह में, कन्या के विवाह मे, सन्तान की उत्पत्ति में, परदेश जाने के समय और इसी प्रकार के दूसरे अवसरों पर अनेकों प्रकार के क्षुद्र और निरर्थक मंगलाचार करती थी। वे यह नही जानती थी कि उनके इन संदिग्ध कार्यो का कोई भी अच्छा परिणाम न होगा। हो सकता है कि उन्हें इन कार्यों से क्षणिक भौतिक सुख की प्राप्ति हो जाय किन्तु वास्तविक सुख इनसे प्राप्त होना असम्भव था। वास्तविक सुख की प्राप्ति जीवन के नैतिक स्तर से सम्बन्धित है और जीवन के नैतिक स्तर का विकास परिवार तथा देश में उचित सम्बन्धों की स्थापना पर। अतः अशोक धर्म के इस निरर्थक तथा सन्दिग्ध रूप को ऐसे धर्म-मंगल में परिणित करना चाहता है जिनमें जीवन का नैतिक स्तर ऊँचा उठाने की पूर्ण शक्ति है और जो न तो काल से सीमित हैं और न फल की क्षणिकता से ही। इस धर्म-मंगल के सम्बन्ध में अशोक का कथन है "धर्म का जो मंगलाचार है वह महाफल देने वाला है। इसमें······

१. दास और सेवकों के प्रति उचित व्यवहार
२. गुरुओं का आदर
३. प्राणियों की अहिंसा तथा
४. श्रमण और ब्राह्मणों को दान, यह सब करना पड़ता है। यह सब

कार्य तथा इस प्रकार के अन्य कार्य धर्म के मंगलाचार कहलाते हैं। इसीलिये पिता, पुत्र, भाई, स्वामि, मित्र, साथी और कहाँ तक कहें पड़ोसी को भी यह कहना चाहिये—"यह मंगलाचार अच्छा है और इसे तब तक करना चाहिये जब-तक अभीष्ट कार्य की सिद्धि न हो" (शि० ले० ९)। वह पुनः कहता है "यदि इस लोक में उनसे अभीष्ट कार्य की सिद्धि न हो तो परलोक में अनंत पुण्य होता है। यदि इस लोक में अभीष्ट कार्य सिद्ध हो गया तो दोनों लाभ हुये अर्थात् यहाँ भी कार्य सिद्ध हुआ और परलोक में भी अनन्त पुण्य प्राप्त हुआ" (शि० ले० ९)। अतः स्पष्ट है कि अशोक मंगलाचार की ओर से धर्म पर आधारित निरर्थक रूढ़ियों तथा परम्पराओं के पालन की क्रियाओं को भी मानव-व्यवहार तथा कल्याण की भावना से सम्बन्धित करना चाहता था। वह अपने इस कार्य द्वारा लोगों को वास्तविक धर्म का ज्ञान कराकर उनमें नव-चेतना तथा स्फूर्ति भर देने के लिये आतुर था। उसकी कामना थी कि उसकी प्रजा प्रगतिशील भावनाओं से ओत-प्रोत हो जिससे कि एक ऐसे सुखमय संसार का निर्माण हो सके जहाँ न तो धार्मिक संघर्ष हो और न हिंसा का ही श्राप मनुष्यों को काल बनकर डस रहा हो; वहाँ हो विश्व बन्धुत्व की अमर भावना और इस भावना से ओत-प्रोत उस संसार में प्रेम, करुणा तथा अहिंसा की सम्मिलित शक्तियों का साम्राज्य।

२. भिक्षुओं के लिये अशोक के धर्म का रूप :—

अशोक के लेख जहाँ राजनीतिक स्तर पर राजा तथा प्रजा एवम् अधिकारियों के सम्बन्धों के परिचायक हैं वहीं मानवीय स्तर पर वे मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के रूप का भी निश्चय करते हैं। अशोक का धर्म इन्हीं मानवीय सम्बन्धों का व्यावहारिक रूप है। अशोक एक सम्राट था और साथ ही बौद्ध धर्मानुयायी भी। किन्तु मानवीय स्तर पर वह न तो सम्राट ही था और न बौद्ध धर्मानुयायी ही। मानव जाति का कल्याण उसके लिये प्रधान था। वह सम्राट् के महान् पद का प्रयोग इसी मानव-कल्याण के लिये करने का इच्छुक था। बौद्धधर्म के विमल उपदेशों का प्रयोग भी वह मानव जाति के हितार्थ करना चाहता था। उसने बौद्ध धर्म इसलिये स्वीकार नहीं किया था कि वह एक सर्वाधिक महान् धर्म था वरन इसलिये किया था कि उसमें मानव-कल्याण करने की सर्वाधिक शक्ति थी। अतः स्पष्ट है कि अशोक सिद्धान्तों के स्थान पर व्यावहारिक नियमों को अधिक महत्वपूर्ण मानता है, और फिर वह संसार के सामने बौद्ध धर्म के आचार्य के रूप के स्थान पर एक

सामान्य उपासक के रूप में ही आना चाहता है। वह बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों में परिवर्तन करने का इच्छुक नहीं है, वह तो सामान्य जनता के नैतिक स्तर को इतना ऊँचा उठाना चाहता है कि वे स्वर्ग के अधिकारी बन जायें। यही कारण है कि अशोक के लेखों में हमें [illegible] गृहस्थों का ही उल्लेख मिलता है और जिस धर्म के दर्शन होते हैं वह भी गृहस्थों के लिये ही है। बौद्ध भिक्षुओं के प्रति अशोक का धर्म जैसे मौनता धारण कर लेता है। यह मौनता स्पष्ट कर देती है कि अशोक ने भिक्षुओं के प्रति धर्म के उसी रूप को स्वीकार कर लिया था जिसका निर्माण महात्मा बुद्ध ने किया था। और फिर भिक्षुओं के लिये धर्म के उपदेश से तात्पर्य था बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों की विवेचना। यह विवेचना भी भिक्षुओं को ही प्रिय होने के कारण संघों में होने वाले वाद-विवाद का ही विषय बन सकती थी। ऐसे विवादों का उल्लेख शिला तथा स्तम्भ लेखों पर करना निरर्थक ही होता।

अतः स्पष्ट है कि अशोक के धर्म में भिक्षुओं का कोई स्थान नहीं। वह भिक्षुओं के लिये न तो नियमों का निर्माण करता है और न उन्हें किन्ही सिद्धांतों के पालन का आदेश ही देता है। वह यह कार्य संघ की इच्छा पर छोड़ देता है। भिक्षुओं के प्रति उपदेशों के सम्बन्ध में उसका विश्वास है कि "जो कुछ भगवान बुद्ध ने कहा है सो सब अच्छा कहा है" (भाब्रू शिलालेख)। वह चाहता है कि भिक्षु उन्ही शब्दों का अनुकरण करें। हां बौद्ध धर्म की दृढ़ता के प्रति तथा उसे चिर-स्थायी बनाने के प्रति वह अवश्य व्यग्र दिखाई देता है और इसी आन्तरिक व्यग्रता के आवेश में वह कुछ बौद्ध ग्रन्थों का उल्लेख भी करता है और चाहता है कि भिक्षु तथा भिक्षुणी बराबर उनका श्रवण करें और ज्ञान प्राप्त करें। इस सम्बन्ध में वे कहते हैं "हे भदन्त गण (इस विचार से कि) "इस प्रकार सद्धर्म चिरस्थायी रहेगा" मैं इन धर्म ग्रन्थों (का नाम लिखता हूँ) यथा-विनय समुकसे, अलिय वसानि, अनागनभयानि, मुनिगाथा, मोनेय सूते, उपतिस पसिने, लाहुलोवादे जिसे भगवान बुद्ध ने झूठ बोलने के बारे में कहा है। इन धर्म-ग्रन्थों को हे भदन्तगण मैं चाहता हूँ कि बहुत से भिक्षुक और भिक्षुणी बराबर श्रवण करें और धारण करें और इसी प्रकार उपासक तथा उपासिका भी (सुनें और धारण करें) (भाब्रू शिलाभिलेख)।

उपर्युक्त वर्णित सात ग्रन्थों के सम्बन्ध में अभी तक विद्वान एक मत न थे किन्तु अब इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान निश्चित हो गया है यथा :—

पाली	संस्कृत	कहाँ मिला
(१) विनय समुकसे	— विनय-समुत्कर्ष	— पाटिमोक्ख
(२) अलिय वसानि	— आर्य वंशा	— अंगुत्तर निकाय (द्वितीय भाग)
(३) अनागत भयानि	— अनागत भयानि	— अंगुत्तर निकाय (तृतीय भाग)
(४) मुनि गाथा	— मुनि गाथा	— सुत्तनिपात (मुनि सुत्त) (प्रथम भाग)
(५) मोनेय सूते	— मौनेय सूत्रम	— सुत्तनिपात (नालक सुत्त) (तृतीय भाग)
(६) उपतिस पसिने	— उपतिष्य प्रश्न	— सुत्तनिपात, (चतुर्थ भाग)
(७) लाहुलोवादे	— राहुलवाद	— मज्झिम निकाय (राहुलो-वाद सुत्त)(प्रथम भाग)

भाब्रू शिलाभिलेख में अशोक द्वारा सात ग्रंथों का उल्लेख भिक्षु, भिक्षुणिओं तथा उपासक, उपासिकाओं के प्रति इनके अध्ययन का आदेश दो सत्यों की सम्भावनाओं पर प्रकाश डालता है :—

(१) बौद्ध धर्म के प्रति अशोक का दृष्टि कोण तथा

(२) बौद्ध संघ में अशोक का स्थान ।

(१) बौद्ध धर्म के प्रति अशोक का दृष्टिकोण :—

उपर्युक्त वर्णित सातों ग्रंथों का अध्ययन अशोक के बौद्ध धर्म के प्रति दृष्टिकोण को पूर्णतया स्पष्ट कर देता है। विनय-समुत्कर्ष में उन चार सत्य सम्बन्धी सिद्धान्तों की व्याख्या की गई जिनको बुद्ध ने सर्व प्रथम सारनाथ में अपने शिष्यों से कहा था। वे चार सत्य है :—

(क) दुःख

(ख) दुःख का कारण

(ग) दुःख का परिणाम

(घ) दुःख का नाश ।

इन चार सत्यों की व्याख्या में ही व्यावहारिक स्तर पर बुद्ध ने अपने धर्म का स्पष्टीकरण कर दिया था। अन्य शेष ग्रंथ बुद्ध धर्म के उपदेशों के संग्रह हैं। वैसे तो महात्मा बुद्ध के उपदेशों से सम्बन्धित और भी अनेकों ग्रन्थ हैं किन्तु उपर्युक्त वर्णित ग्रंथ सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इनके महत्व का कारण इनमें संग्रहीत उपदेशों की सरलता तथा व्यावहारिकता है। ग्रहस्थों तथा

भिक्षु एवंम् भिक्षुणियों का व्यावहारिक जीवन किस प्रकार का होना चाहिये, इन ग्रंथों के अध्ययन से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है।

अलिय वसानि (आर्य वंश) में भिक्षुओं के प्रति आचरण के नियमों का निर्देश किया गया है। इसमें चार प्रकार के आचरणों का उल्लेख है।

(१) भिक्षुओं को साधारण वस्त्र पहनने चाहिये।

(२) उनका भोजन सात्विक होना चाहिये।

(३) उनकी नीति नम्रता पर आधारित होनी चाहिये तथा

(४) उनका उद्देश्य मन की एकाग्रता की प्राप्ति होना चाहिये।

मुनि गाथा तथा मोनेय सूते में भी ऐसे ही सरल तथा सुन्दर नियमों का वर्णन है। अतः स्पष्ट है कि अशोक को धर्म के सरल तथा व्यवहारिक नियम ही प्रिय थे। आध्यात्मिक तथा विधि-पद्धति सम्बन्धी सिद्धान्तों की ओर उनकी रुचि न थी। यही कारण है कि उन्होंने अपने आदेश में ऐसे किसी भी ग्रंथ का उल्लेख नहीं किया है जिसका सम्बन्ध सिद्धान्तों से है। यहाँ तक कि उन्होंने बौद्ध धर्म के अत्यधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ त्रिपटक का भी उल्लेख नही किया है। सुत्त पिटक, अभिधम्म पिटक तथा विनय पिटक जो त्रिपटक के नाम से विख्यात हैं, बुद्ध के बचनों तथा सिद्धान्तों का संग्रह हैं। सम्राट् का धर्म से उद्देश्य भिक्षु, भिक्षुणियों तथा ग्रहस्थों के चरित्र के विकास से था। वे धर्म के सार की वृद्धि में विश्वास करते थे। शि० ले० १२ उनकी इस धारणा का प्रमाण है। वे कहते हैं "किन्तु देवताओं के प्रिय दान या पूजा की इतनी परवाह नहीं करते जितनी इस बात की कि सब सम्प्रादायों के सार की वृद्धि हो।" सम्भवतः इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे अनुशासन तथा व्यवहार सम्बन्धी नियमों को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं और इसीलिये उन्होंने त्रिपटक आदि की अवहेलना कर केवल उन ग्रंथों का अध्ययन अनिवार्य कर दिया जिन-से अनुशासन तथा चरित्र का विकास एवम् धर्म के सार की वृद्धि होती है।

सिद्धान्तों के अध्ययन को ही धर्म का आधार मान कर तथा व्यावहारिक नियमों को सिद्धान्तों के अर्न्तगत मान लेने से, धर्म, वाद-विवाद और उसके परिणाम स्वरूप उत्पन्न संघर्षों का केन्द्र बन जाता है। ये संघर्ष पारस्परिक कटुता को जन्म देने के साथ धर्म के पतन का कारण भी बन जाते हैं। अशोक इस सत्य से पूर्णतया परिचित था। बौद्ध धर्म में भी इन्हीं सिद्धान्तों की प्रधानता के कारण पारस्परिक फूट उत्पन्न हो गई थी और अशोक को इस फूट को रोकने के लिये कठोर आदेश भी देने पड़े थे। उसके सारनाथ, कौशाम्बी तथा साँची के स्तम्भ लेख इस सत्य के प्रमाण हैं। उसकी आज्ञा थी "देवताओं

के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं कि पाटलिपुत्र तथा प्रान्तों में कोई संघ में फूट न डाले। जो कोई, चाहे वह भिक्षु हो या भिक्षुणी संघ में फूट डालेगा वह सफेद कपड़ा पहनाकर उस स्थान में रख दिया जायगा जो भिक्षुकों या भिक्षुनियों के लिये उचित नहीं है (अर्थात् वह भिक्षु-समाज से बहिष्कृत कर दिया जायगा" (सारनाथ स्त० ले०)।

अशोक का उपर्युक्त आदेश तथा अध्ययन के प्रति निर्धारित पुस्तकों का साथ-साथ अध्ययन करने से अशोक का धार्मिक दृष्टिकोण और उसकी नीति पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है। सिद्धान्तों की प्रधानता धर्म के पतन का कारण बन जाती है जबकि व्यवहार के नियमों की प्रधानता, सहिष्णुता को जन्म दे, धर्म को लोक मंगलाकारी भावनाओं से ओत-प्रोत कर, उसे मानवीय स्तर पर खड़ा कर देती है। अशोक का उद्देश्य बौद्ध-धर्म को मानवीय धर्म बना देना था। वह "नस्ति हि क्रमतर सव्रलोक हितेन" के अपने आदर्शानुसार ही बौद्धधर्म के संकुचित रूप को विशाल एवम् मानवीय बनाने का इच्छुक था और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये धर्म के अनुयायी भिक्षु तथा भिक्षुणिकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन नितान्त आवश्यक था। यह परिवर्तन सिद्धान्तों के स्थान पर व्यावहारिकता को प्रधानता देने से ही प्राप्त हो सकता था। अतः अशोक ने भिक्षु तथा भिक्षुणियों को व्यावहारिकता का सन्देश देकर, बौद्ध धर्म के रूप में जो अप्रत्यक्ष रूप से क्रान्तिकारी परिवर्तन किया, उसके परिणाम स्वरूप ही बौद्धधर्म संसार का एक महान् धर्म बनने में सफलता प्राप्त कर सका। बौद्ध धर्म अपनी इस प्रगति के लिये सदैव ही अशोक का ऋणी बना रहेगा।

(२) बौद्ध संघ में अशोक का स्थान :—

भाब्रू शिलाभिलेख की, ग्रन्थों के अध्ययन सम्बन्धी आज्ञा से, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध संघ को भी आज्ञा देने का अशोक को अधिकार था। यह अधिकार अशोक को बौद्ध-धर्मानुयायी सम्राट होने के नाते प्राप्त था कहना उचित प्रतीत नहीं होता। यदि इस अधिकार की प्राप्ति का कारण उसका सम्राट होना ही मान लिया जाय, उस दशा में सारनाथ, कौशाम्बी तथा साँची की दण्ड सम्बन्धी आज्ञाओं का वास्तविक अर्थ नष्ट हो जाता है। यदि सम्राट केवल बौद्ध धर्मानुयायी सम्राट ही होते उस दशा में संघ के प्रति उनके सुझाव ही होते आज्ञायें नही होतीं और यदि सम्राट के रूप में ही उनकी ग्रन्थों के अध्ययन सम्बन्धी आज्ञा को किसी स्तर पर औचित्य भी प्रदान कर दिया जाय तो भी उनकी भिक्षु तथा भिक्षुणियों के प्रति दण्ड सम्बन्धी आज्ञा

को औचित्य प्रदान नहीं किया जा सकता। यह अधिकार संघ को ही प्राप्त होना चाहिये था। सम्राट के रूप में अशोक बौद्ध संघ के आधीन थे और धर्म सम्बन्धी मामलों में तथा अनुशासन सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करने का अधिकार बौद्धसंघ को प्राप्त होना चाहिये था। किन्तु ये अधिकार अशोक के हाथ में थे। इस दृष्टि से अशोक संघ के ऊपर ठहरते हैं और संघ उनके आदेशों का पालन करने वाला। अशोक का संघ में यह स्थान उनकी धर्म के क्षेत्र में भी महान् सत्ता का परिचायक है। सम्भवतः अशोक सम्राट होने के साथ ही बौद्ध संघ के भी प्रधान थे। उनको संघाधिपति मान लेने पर ही उनकी भाब्रू शिलालेख तथा सारनाथ, कौशाम्बी एवम् सांची के स्तम्भ लेखों की आज्ञाओं को पूर्णतया औचित्य प्रदान किया जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि अशोक का स्थान बौद्ध संघ में भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण था और वह निश्चय ही संघाधिपति थे।

छटा प्रकर

धर्म का प्रचार

बौद्ध-धर्म के प्रचारक के रूप में अशोक तथा उनके कार्यों का अध्ययन वास्तव में विश्व में बौद्ध धर्म के साथ भारतीय संस्कृत के प्रसार तथा भारत के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की स्थापना का अध्ययन है। वैसे तो महात्मा बुद्ध के जीवन काल में ही बौद्ध धर्म का प्रचार उत्तरी भारत के अधिकांश भाग में हो चुका था, किन्तु दक्षिण भारत तथा विदेशों में इसके प्रभुत्व का प्रसार न हो सका था। यह कार्य अशोक ने पूरा किया। इस सम्बन्ध मे मास्की का प्रथम लघु शिलाभिलेख अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इस लेख में अशोक कहते हैं "अढ़ाई वर्ष से अधिक हुये कि मैं उपासक हुआ हूँ किन्तु अधिक उद्योग नहीं किया। पर एक वर्ष से अधिक हुये जब से मैं संघ मे आया हूँ मैंने खूब उद्योग किया है।" यह पूर्व ही निर्धारित किया जा चुका है कि अशोक ने २६० ई० पूर्व में संघ की शरण ली। अतः स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये २६० ई० पू० से ही अशोक ने पूर्ण पराक्रम करना प्रारम्भ कर दिया। उसके इस पराक्रम के परिणाम स्वरूप बौद्ध धर्म का जो भी प्रचार हुआ उसे दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(१) भारत में तथा

(२) विदेशों में।

भारत मे तथा विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचारके लिए जो भी कार्य अशोक ने किये उन पर अशोक के लेख अवश्य पर्याप्त रूप से प्रकाश डालते हैं, फिर भी विदेशों में उसके कार्यों के लिये हमें बौद्ध साहित्य पर अधिकांशतः निर्भर रहना पड़ता है। भारत में धर्म-प्रचारार्थ किये गये उपायों पर स्तम्भ लेख ७ महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। अशोक इस लेख में कहते हैं "यह विचार मेरे मन में उदय हुआ कि पूर्व समय में राजा लोग यह चाहते थे कि किसी प्रकार लोगों में उचित रूप से धर्म की वृद्धि हो पर लोगों में उचित रूप से धर्म की वृद्धि नहीं हुई। तो

अब किस प्रकार से लोगों को (धर्म-पालन में) प्रवृत किया जाय, किस प्रकार लोगों में उचित रूप से धर्म की वृद्धि की जाय, किस प्रकार मैं धर्म की वृद्धि से कम से कम कुछ लोगों को तो धर्म में तत्पर करा सकूँ"····· इसी सम्बन्ध मे अशोक पुनः कहते है "यह विचार मेरे मन में आया कि लोगों को धर्म श्रवण कराऊं और उन्हें धर्म का उपदेश दूँ जिससे कि लोग उसे सुनकर उसीके अनुसार आचरण करें, उन्नति करें और विशेष रूप से धर्म की वृद्धि करे।" किन्तु धर्म का उपदेश किस प्रकार दिया जाय यह भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न था। यह कार्य शक्ति के प्रयोग द्वारा भी किया जा सकता था। किन्तु इस प्रयास का परिणाम महमूद गजनवी, अलाउद्दीन खिलजी तथा औरंगजेब आदि के प्रयासों के समान प्रजा में घृणा उत्पन्न करने वाला होता। अशोक इस सत्य से परिचित था और इसी कारण वह अहिंसा, प्रेम तथा करुणा का संदेश देकर जनता का आत्मिक विश्वास तथा बौद्ध धर्म के प्रति उनकी दृढ श्रद्धा प्राप्त करने का इच्छुक था। उसे विश्वास था कि उसकी यह मानवोचित नीति अवश्य सफल होगी और लोग स्वतः ही बौद्ध धर्म के अनुयायी बन जायेगे। अतएव अशोक ने धर्म-प्रचार के लिये एक नवीन मौलिक योजना बना डाली। इस सम्बन्ध में वह स्वयं कहता है "इसी उद्देश्य से मैंने धर्म स्तम्भ बनवाये, धर्म महामात्र नियुक्त किये और धर्म-विधि की रचना की" (स्त० ले० ७)। अशोक से पूर्व भी विश्व के शासकों ने स्तम्भों का निर्माण कराया था और उस पर लेख भी खुदवाये थे किन्तु इस कार्य द्वारा उनका उद्देश्य अपनी प्रशंसा करना ही था। शासकों के व्यक्तिगत गुणों तथा कार्यों का ही उल्लेख इन लेखों में होता था। अशोक स्तम्भों का निर्माण व्यक्तिगत गुणों के प्रदर्शन के लिये नही कराता। वह अपनी कीर्ति का स्थायित्व भी नहीं चाहता। उसकी धारणा थी कि राजा की कीर्ति अथवा यश उसके साम्राज्य की विशाल भौगोलिक सीमाओं पर निर्भर नही करती, उसकी माप तो वह प्रगति है जो प्रजा उसके सुशासन के परिणाम स्वरूप नैतिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में करती है (शि० ले० १०)। अतः अशोक स्तम्भों का निर्माण उन उपदेशों तथा कल्याणकारी संदेशों के उल्लेख के लिये करता है जिनमें जनता का नैतिक तथा धार्मिक स्तर ऊंचा उठाने की अपार शक्ति है। इस प्रकार लोक-मंगलकारी कार्यों के लिये स्तम्भों का निर्माण और प्रयोग अशोक के शासन काल से ही प्रारम्भ होता है। अशोक से पूर्व अन्य शासकों ने भी धार्मिक कार्यों के लिये अधिकारियों की नियुक्ति की थी, शासकों का स्वयं अपना धार्मिक दृष्टिकोण था और उनके अधिकारी उसी दृष्टिकोण के अनुसार कार्य भी करते थे, किन्तु अशोक के धर्म महामात्र उन

अधिकारियों से भिन्न थे। प्राचीन भारतीय शासकों के मंत्री के रूप में पुरोहितों के समान वे धर्म विशेष की रक्षा के लिये न थे और न ही वे कर्मकाण्ड सम्बन्धी क्रियाओं का आयोजन ही करने के लिये थे। मध्यकालीन भारत के इतिहास में शासकों पर भी नियन्त्रण रखने वाले मुल्लाओं के समान वे केवल शरियत की ही व्याख्या न करते थे, वरन् अशोक के धर्ममहामात्र मानवीय स्तर पर लोक कल्याण के रचनात्मक कार्यों को क्रियान्वित करनेके लिये थे। वे शासक न होकर प्रजा के वास्तविक सेवक थे। अशोक स्वयं को भी तो प्रजा का ऋणी मानता है (शि० ले० ६) और चाहता है कि उसके अधिकारी भी स्वयं को जनता का सेवक मानकर जनता की सेवा के कार्यों में व्यस्त रहें। इस प्रकार अशोक के धर्म-महामात्र तथा अन्य अधिकारी अन्य शासकों के अधिकारियों की तुलना मे कही ऊंचे उठ जाते हैं। अशोक की धर्म-विधि भी, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है, अपना अनोखा मौलिक स्थान रखती है। यद्यपि वह पूर्णतया बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों पर आधारित है किन्तु जिस मानवीयता के स्तर पर उसके रूप को परिवर्तित कर प्रजा के सम्मुख प्रस्तुत किया गया है उसने न केवल अशोक को ही अमरता प्रदान कर कर दी है वरन् बौद्ध धर्म को भी अमर बना दिया है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अशोक ने जिन साधनों का प्रयोग बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये किया वे यद्यपि मौलिक न थे, किन्तु उनके प्रयोग का रूप अवश्य मौलिक था। वह प्रयोग का रूप क्या था ? इस सत्य का अध्ययन ही अशोक द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये प्रयोग किये गये उपायों का अध्ययन है। अशोक के स्तम्भ तथा शिलाभिलेख इन उपायों के वर्णन से पूर्ण हैं। अतः इन उपायों के अध्ययन के प्रति लेखों का अध्ययन आवश्यक है।

अहिंसा की नीति :—

बौद्ध धर्म अहिंसा के सिद्धान्त पर आधारित है। अहिसा का पालन, मानव की पाशविक कृतियों का नाश कर, उसे वह सरलता तथा सहृदयता प्रदान कर देता है जो प्रेम और करुणा के गुणों के प्रादुर्भाव के लिये नितान्त आवश्यक है। अशोक ने सर्व प्रथम अहिंसा के प्रचार को बौद्ध धर्म के प्रचार का साधन बनाया। उसने आज्ञा दी कि "यहाँ (इस राज्य में) कोई जीव मार कर यज्ञ न किया जाय" (शि० ले० १)। इस सम्बन्ध में उसने स्वयं अपना आदर्श प्रजा के सामने प्रस्तुत किया। उसने राजकीय पाकशाला में नित्य सूप के प्रति सहस्रों जीवों का बध समाप्त कर दिया। अब केवल दो मोर और एक मृग का बध सूप के प्रति किया जाता था, किन्तु अशोक ने उसे भी निकट भविष्य में बन्द कर देने का आश्वासन दे (शि० ले० १) प्रजा को जीवों के प्रति भी प्रेम रखने का उप-

देश दिया। सम्भवतः अशोक को अपने इस आदेश द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफलता न मिली। पशुओं का बध बन्द न हो सका। अतएव उसने एक द्वितीय घोषणा द्वारा वर्ष में निश्चित ५६ दिनों के लिये पशु-बध का पूर्ण निषेध कर दिया (स्तम्भ लेख ५)। यही नहीं सम्राट् अपने लेखों में बराबर जीवों के प्रति लोगों को दया का व्यवहार करने का आदेश देते हैं। शि० १, २, ३, ४ तथा ९ एवम् स्त० ले० २ तथा ७ इस सत्य के प्रमाण हैं। सम्राट् जीवों के प्रति अहिंसा को पुण्य का कार्य मानते हैं। उनकी धारणा थी कि समाज में जीव-हिंसा का प्रचलन रोकने के लिये उस धार्मिक भ्रमात्मक धारणा का नाश करना नितान्त आवश्यक है जिसके आधार पर ही लोगों को जीव हिंसा करने की प्रेरणा मिलती है। अतः उन्होंने लोगों के सम्मुख धर्म का वास्तविक रूप भी प्रस्तुत किया। स्त० ले० २ में उन्होंने धर्म के रूप का चित्रण किया "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते है—"धर्म करना अच्छा है।" "पर धर्म क्या है ? धर्म यही है—पाप से दूर रहे, बहुत से अच्छे काम करे, दया, दान, सत्य और पवित्रता का पालन करे। मैंने कई प्रकार से परमार्थिक दृष्टि का दान भी लोगों को दिया है। दोपायों, चौपायों, पक्षियों और जलचर प्राणियों पर मैंने अनेक प्रकार की कृपा की है। यहाँ तक कि मैंने उन्हें प्राण-दक्षिणा तक भी दी है। और भी बहुत से अच्छे काम मैंने किये हैं। यह लेख मैने इसलिये लिखवाया कि लोग इसके अनुसार आचरण करें और यह चिरस्थायी रहें। जो इसके अनुसार कार्य करेगा वह पुण्य का काम करेगा।" अतः स्पष्ट है कि सम्राट् के धर्म के अन्तर्गत पशु-पक्षियों का भी महत्वपूर्ण स्थान था। उन्होंने जहाँ कही भी मनुष्यों के प्रति आदर्श व्यवहार के नियमों का उल्लेख किया है वहीं उन्होंने प्राणियों के प्रति अहिंसा को भी प्रमुख स्थान प्रदान किया है। उदाहरणार्थ वे शि० ले० ३ में अपने अधिकारियों को यह आदेश देते हैं कि वे "सर्वत्र यह कहते हुये दौरा करें कि माता-पिता की सेवा करना तथा मित्र, परिचित, स्वजातीय ब्राह्मण और श्रमण को दान देना अच्छा है। जीव-हिंसा न करना अच्छा है। थोड़ा व्यय करना और थोड़ा सञ्चय करना अच्छा है"। इसी भाव को पुनः सम्राट ने शि० ले० ९ में व्यक्त किया है—"इसमें (धर्म के मंगलाचार में) दास और सेवकों के प्रति उचित व्यवहार, गुरुओं का आदर, प्राणियों की अहिंसा और श्रमण तथा ब्राह्मणों को दान यह सब करना पड़ता है। यह सब कार्य और इस प्रकार के अन्य कार्य धर्म के मंगलाचार कहलाते हैं।"

सम्राट् के उपर्युक्त आदेश उसके व्यावहारिक दृष्टिकोण के साथ उसकी अनुपम नीतिपटुता पर भी पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। कर्मकाण्ड की प्रथाओं में

पूर्ण विश्वास रखने वाले ब्राह्मण धर्मानुयायियों में यज्ञ आदि के अवसरों पर जीव हिंसा का अत्यधिक प्रचलन था। इस जीव हिंसा को लेकर बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्मानुयायी में निरन्तर संघर्ष होते रहते थे। इन संघर्षों के कारण ब्राह्मण बौद्धों के प्रति घृणा का पात्र बन गये थे। किन्तु सम्राट् नहीं चाहते थे कि ब्राह्मण घृणा के पात्र बनें। उनका उद्देश्य था पापी से नहीं पाप से घृणा करनी चाहिये। अतः उन्होंने जीव हिंसा को पाप की कोटि में रखकर ब्राह्मणों के प्रति लोगों को आदर का भाव रखने का आदेश दिया। उसकी इस नीति से ब्राह्मण धर्मानुयायी भी अवश्य ही प्रभावित हुये होंगे। सम्राट् की अपने प्रति यह मान की भावना देखकर और साथ ही अपनी हिंसात्मक क्रियाओं के प्रति सम्राट् की घृणा देखकर उन्हें अवश्य ही अपने कार्यों के लिये पश्चाताप हुआ होगा और उन्होंने भी हिंसा बन्द कर दी होगी। साथ ही बौद्ध धर्मानुयायी अशोक के साथ ही बौद्ध धर्म के प्रति भी उनका आदर-भाव अवश्य ही बढ़ा होगा। सम्राट् का कथन स्वयं ही इस निष्कर्ष का समर्थन कर देता है "जैसा कई सौ वर्षों से नही हुआ था वैसा आज देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्मानुशासन से प्राणियों की अहिंसा, जीवों की रक्षा, बन्धुओं का आदर, ब्राह्मण और श्रवणों का आदर, माता-पिता की सेवा तथा बूढ़ों की सेवा बढ़ गई है" (शि० ले० ४)। अतः स्पष्ट है कि सम्राट् की अहिसात्मक नीति को अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई थी और उसकी इस नीति के द्वारा बौद्ध धर्म का प्रचार भी पर्याप्त रूप से हुआ था।

चिकित्सा :—

मानव कल्याण की लोक मंगलकारी भावना से ओत-प्रोत अशोक मानवीय स्तर पर ही बौद्ध धर्म का प्रचार करने का इच्छुक था। वह लोगों की भावनाओं पर अपने कल्याणकारी कार्यों द्वारा विजय प्राप्त कर उन्हें स्वतः बौद्धधर्म स्वीकार करने के लिये प्रेरित करना चाहता है। वह जानता था कि मनुष्य जिन आपदाओं का आखेट बनता है वे तीन प्रकार से आती हैं (क) दैहिक (ख) दैविक तथा (ग) भौतिक। इन तीनों ही रूपों से आने वाली आपदाओं का नाश करना ही मनुष्यों को वास्तविक सुख प्रदान करना है। अतः सम्राट् ने इन तीनों की ही चिकित्सा का आयोजन किया।

भौतिक आपत्तियाँ :—

भौतिक आपत्तियों का कारण अशोक प्रशासनीय कुप्रबन्ध को मानता है और इसी कारण वह एक ऐसे शासन की स्थापना करना चाहता है जो सुख, शान्ति तथा समृद्धि का कारण बने। वह इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये स्वयं

कठिन से कठिन परिश्रम करने को प्रस्तुत है। वह स्वयं कहता है "सब लोगों का हित करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। सब लोगों के हित बिना परिश्रम और राजकार्य सम्पादन के नहीं हो सकता। सब लोगों के हित साधन की अपेक्षा और कोई बड़ा कार्य नही है। जो कुछ मैं पराक्रम करता हूँ सो इसीलिये कि प्राणियों के प्रति जो मेरा ऋण है उससे उऋण होऊँ और यहाँ कुछ लोगों को सुखी करूँ तथा परलोक में उन्हें स्वर्ग का लाभ कराऊँ" (शि० ले० ६)। किन्तु इतना परिश्रम करने के उपरान्त भी अशोक को सन्तोष नहीं होता और वह सदैव ही अपने अधिकारियों को प्रजा का अधिक से अधिक हित करने का आदेश देता रहता है। उसका विश्वास है कि उसके सुशासन के परिणाम स्वरूप जनता की भौतिक आपत्तियो का स्वतः ही नाश हो जायेगा और उसका यह विश्वास सत्य भी था।

दैविक आपत्तियाँ :—

अशोक कर्म के सिद्धान्त मे विश्वास करता है। वह प्रारब्ध के अस्तित्व को नही मानता। दैविक आपत्तियाँ मनुष्य के पाप कर्मो का परिणाम हैं, इस सत्य में विश्वास कर वह प्रारब्ध की अवहेलना कर देता है। उसकी धारणा है कि मनुष्य स्वयं अपने प्रारब्ध का निर्माण करता है। यदि वह पुण्य के कार्य करता है तो उसका प्रारब्ध भी अच्छा बन जाता है और यदि वह पाप कर्म करता है तो उसका प्रारब्ध भी उसके प्रति आपत्तियाँ आमंत्रित करता है। अतः वह दैविक आपत्तियों के नाश के लिये, जिन्हें मनुष्य प्रारब्ध का लेखा मान बैठते हैं, अच्छे कार्य (पुण्य के कर्म) करने को आदेश देता है। अशोक इस सत्य से भी परिचित है कि "अच्छा काम करना कठिन है, जो कोई अच्छा काम करता है वह कठिन काम करता है" (शि० ले० ५)। फिर भी वह लोगों से अपनी शक्ति भर अच्छा काम करने के लिये कहता है। अच्छा काम करने को ही अशोक धर्मानुचरण मानता है। किन्तु धर्मानुचरण क्या है ? इस सम्बन्ध में अशोक का मत है "धर्म यह है कि दास और सेवकों से उचित व्यवहार किया जाय, माता और पिता की सेवा की जाय, मित्र, परिचित रिश्तेदार, श्रमण और ब्राह्मणों को दान दिया जाय और प्राणियों की अहिसा की जाय। इसलिये पिता पुत्र, माता, स्वामी, मित्र परिचित और कहाँ तक कहें पड़ोसी को भी यह कहना चाहिये :—"यह पुण्य कार्य है इसे करना चाहिये।" जो इस प्रकार आचरण करता है वह इस लोक को भी सिद्ध करता है और परलोक में उस धर्मदान से अनन्त पुण्य का भागी होता है" (शि० ले० ११)। अशोक अपनी इसी भावना का

प्रदर्शन शि० ले० ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, एवम् स्त० ले० २ में करता है। उसे विश्वास है कि उपर्युक्त नियमों के पालन से धर्म की उन्नति होगी और साथ ही लोगों में दया, दान, सत्य, पवित्रता तथा मृदुता की वृद्धि भी होगी। इस वृद्धि के साथ लोग आध्यात्मिक सुख के अधिकारी बन जायेंगे। उनका यह जीवन दैविक आपत्तियों से, आध्यात्मिक होने के नाते मुक्ति पा जायेगा तथा मृत्यु के उपरान्त उन्हें स्वर्ग मे अपार सुख तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति होगी।

अशोक का दैविक आपत्तियों से मुक्ति पाने के लिये यह सरल उपदेश जितना व्यावहारिक था उतना ही आकर्षक भी था। लोग ब्राह्मण धर्म की कर्म-काण्डों पर आधारित क्रियाओं तथा दार्शनिक विचार धाराओं से ऊब से चुके थे। इनकी जटिलताओं में वे न तो इस जीवन को सुखी बनाने की आशा करते थे और न स्वर्ग की प्राप्ति ही उन्हें सम्भव दिखाई देती थी। अशोक के उपदेशों में उन्हें दैविक आपत्तियों से मुक्ति पाने का जो मार्ग दिखाई दिया, उसकी सरलता तथा पवित्रता ने लोगों का ध्यान अनायास ही बौद्ध-धर्म की ओर आकर्षित कर लिया।

दैहिक आपत्तियाँ :—

दैहिक आपत्तियाँ भी मनुष्य के लिये दैविक तथा भौतिक आपत्तियों से कम महत्वपूर्ण नही। जहाँ दैविक तथा भौतिक आपत्तियाँ का सम्बन्ध मनुष्य के भविष्य से सम्बन्धित है वहाँ दैहिक आपत्तियाँ वर्तमान से सम्बन्धित हैं। मनुष्य वर्तमान के सुख को भविष्य की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण मानता है। अशोक मनुष्य की इस स्वभाविक इच्छा से पूर्णतया परिचित थे। वे जानते थे कि स्व-स्थ्य मनुष्य ही स्वास्थ्य समाज का निर्माण कर सकते हैं और स्वस्थ्य समाज ही प्रगतिशील सुखमय राष्ट्र का। अतएव अशोक ने दैहिक आपत्तियों का विनाश करने के लिये चिकित्सालयों की स्थापना की। उसकी यह करुण तथा मानवीयता मनुष्यों तक ही सीमित न थी वरन् इसके क्षेत्र में पशुओं को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। पशु राष्ट्र की अनमोल सम्पत्ति हैं और उनके स्वास्थ्य का रक्षण राष्ट्र के स्वास्थ्य का रक्षण है सम्राट् इस भावना से परिचित थे और इसी कारण उन्होंने पशुओं के लिये भी चिकित्सालयों की स्थापना की। इस सम्बन्ध में अशोक का कथन कि "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के राज्य में सब स्थानों पर तथा जो उनके पड़ोसी राज्य है वहाँ जैसे चोड, पाण्डय, सत्यपुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपर्णी मे और अन्तियोक नाम यवन राजा और जो उस अन्तियोक के सामन्त (पड़ौसी) राजा हैं उन सबके देश में देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो प्रकार की

चिकित्सा एक मनुष्यों की चिकित्सा और दूसरी पशुओं की चिकित्सा का प्रबन्ध किया है। औषधियाँ भी मनुष्यों और पशुओं के लिये जहाँ-जहाँ नहीं थीं वहां-वहां लायी और रोपी गई हैं। इसी तरह से मूल और फल भी जहाँ-जहाँ नहीं थे सब जगह लाये और रोपे गये है" (शि० ले० २) अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। कथन से स्पष्ट हो जाता है कि अशोक ने प्रथम तो चिकित्सालयों की स्थापना, एक निश्चित योजनानुसार, ठोस आधार पर, व्यवस्थित ढंग से की थी और दूसरे उसकी यह योजना केवल उसकी प्रजा के लिये ही न थी, वरन् इसकी व्यवस्था मानवीय स्तर पर की गई थी। विश्व के इतिहास में यह प्रथम महान् मानवीय योजना थी। आज यू० एन० ओ० की स्वास्थ्य सम्बन्धी योजनाये अशोक का अनुकरण करती प्रतीत होती हैं। अशोक की इस योजना ने भी बौद्ध धर्म के प्रचार में अत्यधिक सहायता की। बौद्ध धर्मावलम्बी सम्राट् के मानवोचित कार्यों ने मानव का हृदय अनायास ही बौद्ध धर्म की ओर आकर्षित कर दिया और वे स्वतः ही इस धर्म के अनुयायी बनने लगे।

दिव्य दर्शन :—

शि० ले० १ में अशोक ने दो प्रकार के समाजों का उल्लेख किया है जिनमें से एक प्रकार के समाज उसे प्रिय नही। वह कहता है—"यहाँ (इस राज्य में) कोई जीव मारकर होम न किया जाय और न समाज किया जाय। क्योंकि देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा समाज में बहुत से दोष देखते हैं। तथापि एक प्रकार के ऐसे समाज हैं जिन्हें देवताओं के प्रिय राजा पसन्द करते हैं" (शि० ले० १)। अशोक के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि उन समाजों में जिनका उसने निषेध किया हिंसात्मक क्रियायों का बाहुल्य था। वह मानव की हिंसात्मक वृत्तियों का नाश कर उन्हें सरलता, पवित्रता तथा मृदुता प्रदान करना चाहता था और इसी कारण उसने हिंसात्मक वृत्तियों को उत्तेजना प्रदान करने वाले समाजों का निषेध भी किया था। इनके स्थान पर उसने एक दूसरे प्रकार के समाज का आयोजन किया। सम्भवतः इन समाजों में धार्मिक दृश्यों का प्रदर्शन होता था। इस सम्बन्ध में अशोक का शि० ले० ४ अत्यधिक महत्वपूर्ण है "पर आज देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण से भेरी का शब्द नहीं, धर्म का शब्द (सुनाई पड़ रहा है) और विमान तथा हाथी (जलूस में) दिखलाये जाते हैं। जैसे आतिशबाजी (छुड़ाई जाती है) और अन्य दिव्यरूप लोगों को दिखलाये जाते है" (शि० ले० ४)। अशोक ने सम्भवतः इन दृश्यों के प्रदर्शन का ही आयोजन दूसरे प्रकार के समाजों में किया था। इन दृश्यों का सम्बन्ध महात्मा बुद्ध के जीवन तथा स्वर्ग में प्राप्त होने वाली महानताओं से है। इन

दृश्यों के प्रदर्शन द्वारा, अशोक, बौद्ध धर्मानुयायी होने पर किन अनुपम वस्तुओं की स्वर्ग में प्राप्ति होगी, लोगों को बताना चाहते थे और उन्हें बौद्ध धर्म की ओर आकर्षित करना चाहते थे। साथ ही इन दृश्यों के प्रदर्शन से लोगों की अहिंसात्मक भावनाओं को भी दृढ़ता प्राप्त होती थी। इन दृश्यों के प्रदर्शन का भी लोगों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा और उन्होंने स्वर्गीय उपहारों की प्राप्ति के प्रति बौद्ध धर्म सहज ही स्वीकार कर लिया।

धर्म यात्रा :—

बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ अशोक ने धर्म-यात्राओं का आयोजन किया। इस आयोजन से पूर्व राजाओं में विहार-यात्रा पर जाने की परम्परा थी। इन यात्राओं के अवसर पर आखेट तथा अन्य आमोद-प्रमोदों का आयोजन होता था। किन्तु अशोक इन यात्राओं को शक्ति का दुरुपयोग मानता है। वह जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ नष्ट करना नही चाहता। वह तो रचनात्मक कार्य क्रम के आधार पर जीवन का प्रत्येक क्षण धर्म तथा मानवता की सेवा के प्रति व्यय करना चाहता है। धर्म-यत्राओं के अवसर पर उसका कार्य क्रम इस सत्य की पुष्टि कर देता है। वह कहता है "धर्म यात्रा में यह होता है :—श्रमण तथा ब्राह्मणों का दर्शन करना और उन्हें दान देना, वृद्धों का दर्शन करना और सुवर्ण दान देना, ग्राम-वासियों के पास जाकर उन्हें उपदेश देना और धर्म विषयक विचार करना" (शि० ले० ८)। इस कार्य क्रम का अन्तिम भाग अत्यधिक महत्वपूर्ण है। अशोक जानता था कि बौद्ध धर्म के प्रचार में ग्रामों के लोगों में फैला धर्म सम्बन्धी अंधविश्वास अत्यधिक बाधक है। अंधविश्वास में फँसी प्रजा न तो अपना ही हित कर सकती है और न धर्म का ही। अत: उसने धर्म-यात्राओं के अवसर पर, ग्राम-वासियों का अंधविश्वास दूर कर, उन्हें धर्म का वास्तविक ज्ञान प्रदान करना प्रारम्भ किया। इस सम्बन्ध में शि० ले० ६ भी महत्वपूर्ण है। इस लेख में अशोक देश में प्रचलित अंधविश्वासों पर प्रत्यक्ष रूप से आक्रमण करते हैं। वे अंधविश्वासों पर आधारित धार्मिक क्रियाओं को क्षुद्र तथा निरर्थक कहते हैं। इनके स्थान पर वे लोगों को उन व्यवहारिक नियमों के पालन का आदेश देते हैं जिनसे एक सुखी तथा समृद्ध समाज का निर्माण हो सके। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अशोक ने एक सफल प्रचारक की भाँति, लोगों की धर्म सम्बन्धी धारणाओं तथा क्रियायों को निरर्थक सिद्ध कर, उन्हें बौद्ध धर्म स्वीकार करने की सहज प्रेरणा जिस रूप से प्रदान की, वह अनोखी होने के साथ ही सर्व प्रिय भी थी। बौद्ध धर्म के प्रचार में इन धर्म-यात्राओं का भी इस प्रकार अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है।

अन्य सार्वजनिक कार्य :—

अशोक प्रजा की भावनाओं पर पूर्णतया विजय प्राप्त करने के अभिलाषी थे। भावनाओं पर विजय लोक-मंगलकारी कार्यो द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है, सम्राट् इस सत्य से परिचित थे। इस सत्य को साकार रूप प्रदान करने के लिये ही उसने चिकित्सालयों आदि की व्यवस्था की थी और लोगों को व्यावहारिक नियमों के पालन का आदेश दिया था। इतना करने के उपरान्त भी उसे सन्तोष न प्राप्त हुआ और उसने अन्य लोक-मंगलकारी योजनायें क्रियान्वित कर डालीं। वह स्वयं कहता है—"सड़कों पर भी मैंने मनुष्यों और पशुओं को छाया देने के लिये बरगद के पेड़ लगवाये, आम्र वृक्ष की वाटिकायें लगवायी, आठ-आठ कोस पर कुएँ खुदवाये, सराएँ बनवाईं और जहाँ-तहाँ पशुओं तथा मनुष्यों के उपकार के लिये अनेक पौसले बैठाये। किन्तु यह उपकार कुछ भी नही है। पहिले के राजाओं ने और मैंने भी विविध प्रकार के सुखों से लोगों को सुखी किया है। किन्तु मैंने यह सुख की व्यवस्था इसलिये की है कि लोग धर्म के अनुसार आचरण करें" (स्त० ले० ७)।

अशोक के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि उसके सार्वजनिक कार्यो का उद्देश्य, लोगों को बौद्ध धर्म के प्रति आकर्षित करने तथा उसके अनुयायी बनने का था। उसे विश्वास था कि उसके मंगलकारी कार्यों का लोगों पर अवश्य अनुकूल प्रभाव पड़ेगा और वे एक बौद्ध धर्मानुयायी सम्राट् के कार्यों से प्रभावित हो अवश्य बौद्ध धर्म के समर्थक बन जायेगे। उसका विश्वास उचित भी था और वह सत्य में परिणत भी हुआ।

अधिकारियों की नियुक्ति :—

स्त० ले० ७ में अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये प्रयोग किये गये उपायों का उल्लेख किया है। वह कहता है "इसी उद्देश्य से मैंने धर्म-स्तम्भ बनवाये, धर्म महामात्र नियुक्त किए और धर्म-विधि की रचना की"। अतः स्पष्ट है कि सम्राट् ने धर्म महामात्रों की नियुक्ति धर्म का प्रचार करने के लिए की थी। किन्तु अशोक के इन धर्म महामात्रों को यवन शासकों के मुल्लाओं की कोटि में रखना भयंकर भूल होगी। यवन शासकों के समान अशोक धर्मान्ध न था। वह केवल अपने धर्म के प्रचार तथा अन्य धर्मों के खण्डन के लिए राज्याधिकारियों के प्रयोग के भयंकर परिणामों से परिचित था। वह यह भी जानता था कि जब तक देश में धार्मिक शान्ति की स्थापना नहीं होती और जब तक विभिन्न सम्प्रदाय वालों का धार्मिक दृष्टिकोण उदार नहीं बनता, उस समय

तक धर्म का प्रचार सफलता प्राप्त न कर सकेगा। अतः उसने सर्व प्रथम तत्कालीन समाज में उपस्थित धार्मिक कटुता का नाश करना चाहा और उसने इसी उद्देश्य से धर्म-महामात्रों की नियुक्ति की। इस सत्य की पुष्टि स्वयं अशोक के कथन से हो जाती है। वह कहता है "बहुत दिनों से धर्म महामात्र (नामक राजकर्मचारी) नही नियुक्त हुये थे, पर मैंने अपने राज्याभिषेक के १३ वर्ष बाद (धर्म महामात्र) नियुक्त किये। ये धर्म महामात्र धर्म की रक्षा करने के लिए, धर्म की वृद्धि करने के लिए, धर्मयुत (नामक राजकर्मचारियों) के हित और सुख के लिए तथा यवन, काम्बोज, गान्धार (राष्ट्रिक, पीतीनिक) तथा पश्चिमी सीमा पर (रहने वाली अन्य जातियों के) हित और सुख के लिए सब सम्प्रदायों के बीच में नियुक्त हैं" (शि० ले० ५) । सम्राट् के कथन से स्पष्ट हो जाता है कि धर्म महामात्रों की नियुक्ति दो उद्देश्यों से की गई थी :—

(१) विभिन्न सम्प्रदायों में मेल-जोल बढ़ाने के लिए तथा

(२) बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए।

विभिन्न सम्प्रदायों में मेल-जोल बढ़ाकर उनमें धार्मिक सहिष्णुता की भावना उत्पन्न करना सम्राट् अपने धर्म के प्रचार के लिए नितान्त आवश्यक समझते हैं। इस सत्य की और भी अधिक पुष्टि शि० ले० १२ से हो जाती है। सम्राट् का कथन है "किन्तु देवताओं के प्रिय दान या पूजा की इतनी परवाह नही करते जितनी इस बात की कि सब सम्प्रदायों के सार की वृद्धि हो" । इस सार की वृद्धि के लिए वे वाक् संयम को आवश्यक मानते है और विभिन्न सम्प्रदायियों को एक दूसरे के धर्म की निन्दा न करने का आदेश देते हैं। उनकी धारणा है कि जो लोग अकारण दूसरों के सम्प्रदाय की निन्दा करते है वे दूसरों के धर्म की ही हानि नहीं करते वरन् स्वयं अपने धर्म की भी हानि करते हैं (शि० ले० १२) । वे चाहते है कि लोग धार्मिक क्षेत्र में सहिष्णु हों, एक दूसरे के धर्म को ध्यान देकर सुनें तथा उनके प्रति आदर-भाव रक्खें (शि० ले० १२) इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सम्राट् धर्म महामात्र, स्त्रीध्यक्ष महामात्र तथा व्रजभूमिक आदि राज-कर्मचारियों की नियुक्ति की भी घोषणा करते हैं (शि० ले० १२) । अशोक अपने इस कार्य के परिणाम से भी परिचित हैं। वे कहते हैं "इसका फल यह है कि अपने सम्प्रदाय की वृद्धि होती है और धर्म का विकास होता है" । (शि० ले० १२) । अतः स्पष्ट है कि सब सम्प्रदायों के मध्य मेल-जोल उत्पन्न कराना, सम्राट् की बौद्ध धर्म-प्रचार की योजना के उपायों के ही अन्तर्गत था।

धर्म महामात्रों द्वारा बौद्ध धर्म का प्रचार भी एक निश्चित योजना के

अनुसार होता था। ये अधिकारी प्रत्यक्ष रूप से बौद्ध धर्म का प्रचार न करते थे। वे तो सार्वलौकिक कल्याण-भावना को लेकर सार्वजनिक हित के कार्यों में व्यस्त रहते थे। इस सम्बन्ध में स्वयं सम्राट् कहते हैं "मेरे धर्म महामात्र भी उन बहुत तरह के उपकार के कार्यों में नियुक्त हैं जिनका सम्बन्ध सन्यासी और गृहस्थ दोनों से है, वे सब सम्प्रदायों में भी नियुक्त हैं। मैने उन्हें संघों में, ब्राह्मणों में, आजीवकों में, निर्ग्रन्थों मे तथा विविध प्रकार के सम्प्रदायों में नियुक्त किया है" (स्त० ले० ७)। इस कथन में सम्राट् ने विभिन्न प्रकार के कार्यों का उल्लेख किया है। निश्चित ही सम्राट् का इन कार्यो से तात्पर्य, चिकित्सा, पेड़, कुएँ, तथा सरायें आदि की व्यवस्था से है। अतः स्पष्ट है कि सम्राट् के सार्वजनिक कार्यों का उत्तरदायित्व धर्म-महामात्रों पर था।

धर्म महामात्रों के अन्य सार्वजनिक कार्यो पर भी सम्राट् प्रकाश डालते हैं। वे कहते हैं "वे स्वामी और सेवकों, ब्राह्मणों और धनवानों, अनाथों और वृद्धों के बीच उनके हित और सुख के लिये तथा धर्म युक्त (नामक राजकर्मचारियों) की रक्षा के लिये नियुक्त हैं। वे अन्यायपूर्ण बध और बन्धक को रोकने के लिये, रुकावटों को दूर करने के लिये तथा रक्षा के लिये (और उन लोगों का ध्यान रखने के लिये नियुक्त हैं जो) बड़े परिवार वाले हैं या बहुत वृद्ध हैं" (शि० ले० ५)। सम्राट् पुनः कहते हैं "वे यहाँ (पाटलिपुत्र में) और बाहर के सब नगरों में सब जगह हमारे भाइयों बहिनों तथा दूसरे रिश्तेदारों के अन्तःपुर मे नियुक्त हैं। ये धर्म महामात्र मेरे राज्य में सब जगह धर्म और दान सम्बन्धी कार्यों का (निरीक्षण करने के लिये) धर्मयुक्त कर्मचारियों के बीच नियुक्त हैं" (शि० ले० ५)। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि धर्म-महामात्र सम्राट् के समस्त बहुमुखी सार्वजनिक कार्यों तथा लोगों के हितों की रक्षा के लिये उत्तरदायी थे। सार्वजनिक कार्यों की व्यवस्था के लिये तो उनकी नियुक्ति सम्राट् ने यवन, काम्बोज तथा गान्धार आदि राज्यों में भी की थी। सामान्य जनता के अतिरिक्त धर्म महामात्र स्वयं अशोक की रानियों, पुत्रों तथा सम्बन्धियों के धार्मिक दान सम्बन्धी कार्यों की व्यवस्था के लिये भी नियुक्त थे (स्त० ले० ७)।

धर्म का प्रचार करने के लिये नियुक्त, धर्म महामात्रों के उपर्युक्त सार्वजनिक कार्यों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि अशोक के लिये सार्वजनिक हित के कार्यों का कितना महत्व था। सम्भवतः वह इन कार्यों के द्वारा बौद्ध धर्म की लोकमगलकारी भावना का प्रदर्शन कर लोगों को इस धर्म की मान-

वीयता से प्रभावित करना चाहता था और उसे इस क्षेत्र में सफलता भी मिली थी।

धर्म महामात्रों के अतिरिक्त सम्राट् के अन्य राजकर्मचारी भी धर्म-प्रचार का कार्य करते थे। सम्राट् कहते हैं "इसी उद्देश्य से धर्म श्रवण कराया गया और विविध प्रकार से धर्म का उपदेश दिया गया, जिसमें कि मेरे 'पुरुष' नामक कर्मचारी गण जो बहुत से लोगों के ऊपर नियुक्त हैं मेरे उपदेशों का प्रचार करें और उनका खूब विस्तार करें। रज्जुकों को भी जो लाखों मनुष्यों पर नियुक्त हैं यह आज्ञा दी गई है कि धर्मयुक्त नामक कर्मचारियों को इस प्रकार उपदेश देना···" (स्त० ले० ७)। अशोक के ये तथा अन्य कर्मचारी अपने नियमित राजकीय कार्यों के अतिरिक्त धर्म का प्रचार भी करते थे, इस सत्य की पुष्टि शि० ले० ३ से भी हो जाती है। इस लेख मे सम्राट् कहते हैं "मेरे राज्य में सब जगह युक्त, रज्जुक तथा प्रादेशिक पाँच-पाँच वर्ष पर इस काम के लिए (अर्थात्) धर्मानुशासन के लिए तथा अन्य और कामों के लिए दौरा करें।" समस्त सम्प्रदायों के सार की वृद्धि के लिए शि० ले० १२ में वर्णित स्त्रीध्यक्ष-महामात्र तथा व्रजभूमिक का उल्लेख किया ही जा चुका है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये राजकीय कर्मचारियों का प्रयोग भी किया था, यहाँ तक कि धर्म-प्रचार का कार्य उनके नियमित राजकीय कार्यों का एक महत्वपूर्ण अंग बना दिया था। सम्राट् ने यह देखने के लिये कि उसकी आज्ञाओं का पालन होता है अथवा नहीं और राजकर्मचारी अपना कार्य उचित रूप से करते हैं अथवा नही, प्रतिवेदिको की भी नियुक्त की थी। उसकी आज्ञा थी "हर समय चाहे मै खाता होऊँ या अन्तःपुर मे रहूँ शयनगृह में रहूँ या व्रज में रहूँ या गाड़ी में रहूँ या उद्यान में रहूँ, सब जगह प्रतिवेदक प्रजा का हाल मुझे सुनावे" (शि० ले० ६)। वह फिर कहता है "जो कुछ मैं पराक्रम करता हूँ सो इसीलिये कि प्राणियों के प्रति जो मेरा ऋण है उससे उऋण होऊं और यहाँ सब लोगों को सुखी करूँ तथा परलोक में उन्हें स्वर्ग का लाभ करवाऊं" (शि० ले० ६)। सम्राट् के इस उद्देश्य की पूर्ति धर्मानुशासन द्वारा ही सम्भव थी। इस प्रकार यदि उसकी सम्पूर्ण व्यवस्था को ही धर्म का प्रचार करने के निमित्त मान लिया जाय तो भी अनुचित न होगा।

धार्मिक सहिष्णुता :—

बौद्ध धर्म का दृढ़ अनुयायी होते हुये भी अशोक उदार हृदय सम्राट था। वह न तो अलाउद्दीन की भाँति धर्म को अपने स्वार्थों पर बलिदान करना

चाहता था और न औरंगजेब की भाँति अपने धर्म के प्रचार के लिये अन्य धर्मावलम्बियों का नाश ही करना चाहता था। मध्यकालीन योरुप का इतिहास जिन धार्मिक संघर्षों से पूर्ण है उनकी भाँति ही वह भारत में बौद्ध धर्म के प्रचार का इतिहास तलवार और रक्त की कहानी से भी न लिखना चाहता था। धर्म के क्षेत्र में वह उदारता की मानवीय नीति का अनुयायी था। वह केवल अपने सम्प्रदाय के प्रति दृढ़ भक्ति को धार्मिक संघर्षों का कारण मानता है और इसी कारण वह इन संघर्षों से उत्पन्न होने वाली कटुता का नाश करने के लिये सभी सम्प्रदायों के सार (तत्व) की वृद्धि का उद्देश्य लोगों के सामने रखता है (शि० ले० १२)। वह अन्य धर्मों की निन्दा नहीं करता वरन् चाहता है कि सब सम्प्रदाय वाले मिलकर धर्म का अध्ययन करें और उनका मनन करें (शि० ले० १२)। उसकी निश्चयात्मक धारणा है कि जो व्यक्ति अन्य धर्मों की अकारण निन्दा करते हैं वे अपने सम्प्रदाय को भी क्षति पहुंचाते हैं और दूसरे सम्प्रदायों का भी अपकार करते हैं (शि० ले० १२)। अशोक की इन भावनाओं से स्पष्ट हो जाता है कि वह एक उदार सम्राट था और सभी सम्प्रदायों के प्रति आदर-भाव तथा हित-कामना उसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण गुण था। इस सत्य की पुष्टि स्वयं उसके कार्यों द्वारा भी हो जाती है। वह धर्म महामात्रों तथा अन्य राजकर्मचारियों की नियुक्ति सभी सम्प्रदायों के हितार्थ करता है (शि० ले० ५ तथा स्त० ले० ७)। वह अपने धर्मानुशासन के अन्तर्गत जिन नियमों के पालन का आदेश अपने लेखों में बार-बार देता है उनमें ब्राह्मण आदि अन्य धर्मानुयायियों के प्रति आदर को मुख्य नियम मानता है। उसके सार्वजनिक कल्याण के कार्य भी सभी सम्प्रदाय वालों के लिये होते हैं। इनके अतिरिक्त वह बौद्ध संघ के समान ही अन्य सम्प्रदायों को दान भी देता है। औरंगजेब आदि धर्मान्ध यवन शासकों के समान वह अन्य सम्प्रदाय वालों के धार्मिक-स्थानों तथा धार्मिक ग्रन्थों का नाश नहीं करता। अपने दानों के सम्बन्ध में वह स्वयं कहता है :—

(१) "राजा प्रियदर्शी ने राज्याभिषेक के १२ वर्ष बाद यह न्यग्रोध-गुहा आजीवकों को दी"।

(२) "राजा प्रियदर्शी ने राज्याभिषेक के १२ वर्ष बाद खलतिक पर्वत पर यह गुहा आजीवकों को दी"।

(३) "राजा प्रियदर्शी ने राज्याभिषेक के १९ वर्ष बाद खलतिक पर्वत पर सुपिया गुहा आजीवकों को दी"।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अशोक की धार्मिक सहानुभूति भी बौद्ध

धर्म के प्रचार में अत्यधिक सहायक हुई होगी। उसकी उदार नीति के परिणाम-स्वरूप अन्य सम्प्रदाय वाले अवश्य ही उसकी मानवीयता तथा बौद्ध-धर्म की लोक मंगलकारी भावना से प्रभावित हुये होंगे और उन्होंने बौद्ध धर्म की आलोचना के स्थान पर उसके अनुयायी बनने में गौरव अनुभव किया होगा।

बौद्ध-संघ की दृढ़ता :—

अशोक बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये यह आवश्यक मानता था कि स्वयं बौद्ध धर्म को भी पूर्णतया व्यवस्थित होना चाहिये। यह व्यवस्था भिक्षु-संघ पर आधारित थी। अतः उसने भिक्षु-संघ को एक ऐसी शक्ति का केन्द्र बनाने का प्रयास किया जो निरन्तर धर्म के प्रचार में सफलता पूर्वक कार्य कर लोक-मंगल कर सके। यह कार्य अशोक ने तीन प्रकार से किया :—

(क) स्तूपों तथा बिहारों के निर्माण द्वारा,
(ख) भिक्षु-संग को आर्थिक सहायता प्रदान कर तथा
(ग) तृतीय बौद्ध-सभा का आयोजन कर।

(क) स्तूपों तथा बिहारों का निर्माण :

स्तूपों के निर्माण का इतिहास महात्मा बुद्ध की मृत्यु के साथ प्रारम्भ होता है। मृत्यु से पूर्व ही महात्मा बुद्ध ने अपनी अन्त्येष्टि क्रिया के सम्बन्ध में आदेश दे दिये थे। उनका आदेश था कि उनके शव की दाह-क्रिया करने के उपरान्त अस्थियों को एकत्र कर लिया जाय और एक सार्वजनिक स्थान पर जहाँ चारों ओर के पथ मिलते हों, वहाँ उन्हें गाड़कर उन पर समाधि के स्थान पर, एक स्तूप का निर्माण कराया जाय। स्तूप पर उनके उपदेशों को उत्कीर्ण करा दिया जाय, जिससे लोग उनका अध्ययन कर उनके अनुसार आचरण कर सकें। महात्मा बुद्ध के इस आदेश का पालन किया गया और इस प्रकार स्तूपों के निर्माण का इतिहास प्रारम्भ हुआ। महात्मा बुद्ध ने मृत्यु से पूर्व यह भी आदेश दिया था कि उनकी मूर्तियों का निर्माण कर उनकी पूजा न की जाय, वरन् उनके उपदेशों का पालन किया जाय।

महात्मा बुद्ध के ये दोनों ही आदेश सम्भवतः निम्न भावनाओं पर आधारित थे।

(१) मनुष्य के स्थान पर उसकी धारणायें तथा कार्य महत्वपूर्ण हैं। वे तत्कालीन समाज में प्रचलित मूर्ति पूजा को आडम्बर मानते थे। उनकी धारणा थी कि उपदेशों के पालन के स्थान पर, मूर्तिपूजा, धर्म का वास्तविक रूप

नष्ट कर देती है और धर्म का यह विकृत रूप एकता में विभिन्नता उत्पन्न कर उसे पतनोन्मुख बना देता है।

(२) सार्वजनिक स्थान पर स्तूप के निर्माण तथा उस पर उपदेशों के उत्कीर्ण कराने से लोगों का ध्यान सहज ही उनकी ओर आकर्षित होगा और इस प्रकार बौद्ध धर्म का प्रचार भी स्वतः ही हो जायगा। स्तूप में अस्थियों की उपस्थिति से उपदेशों की महत्ता बढ़ जायगी।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि महात्मा बुद्ध ने स्तूपों के निर्माण को बौद्ध धर्म के प्रचार का एक महत्वपूर्ण अंग माना था और अप्रत्यक्ष रूप से अपने धर्मानुयायियों को भी स्तूपों के निर्माण के प्रति प्रेरणा दी थी। समय के साथ स्तूपों का निर्माण बौद्ध धर्म का ही अंग बन गया। महात्मा बुद्ध के विख्यात शिष्यों की अस्थियों पर भी स्तूपों का निर्माण होने लगा। धीरे-धीरे ब्राह्मणों के मठों अथवा मन्दिरों के समान ही प्रत्येक स्थान हर स्तूपों का निर्माण होने लगा।

अशोक के समय में भी स्तूपों तथा विहारों का निर्माण बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये महत्वपूर्ण माना जाता था। स्वयं अशोक का कथन इस सत्य की पुष्टि कर देता है। वह आचार्य उपगुप्त से प्रतिज्ञा करते हुये कहता है कि वह महात्मा बुद्ध से सम्बन्धित समस्त स्थानों की यात्रा करेगा और भावी सन्तान के हेतु स्मारकों का निर्माण करायेगा (दिव्यावदान २७ वाँ प्रकरण)। इन शब्दों में "भावी सन्तान के हेतु" अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। इनका तात्पर्य यही है कि वह स्वयं अपने समय के लोगों को ही नहीं वरन् उनकी भावी सन्तान को भी बौद्ध धर्मानुयायी बनाने के किये स्मारकों का निर्माण कराना चाहता है। दिव्यावदान के अनुसार इस प्रतिज्ञा के उपरान्त शीघ्र ही अशोक ने चौरासी हजार स्तूपों का निर्माण कराया। महावंश में स्तूपों के निर्माण की कथा दूसरे ही प्रकार से दी है। अशोक ने आचार्य मोगालीपुत्त तिस्स से प्रश्न किया कि भगवान बुद्ध का धर्म कितना महान् है? आचार्य का उत्तर था कि धर्म के चौरासी हजार खण्ड हैं। तुरन्त ही अशोक ने प्रतिज्ञा की कि वह प्रत्येक खण्ड के लिये एक-एक विहार का अर्पण करेगा। तत्पश्चात् अशोक ने ८४,००० स्तूपों का निर्माण कराया। यह अवश्य है कि दिव्यावदान तथा महावंश के उल्लेख स्तूपों के निर्माण के कारणों में भिन्न है किन्तु यह तो प्रमाणित ही हो जाता है कि अशोक ने ८४,००० स्तूपों का निर्माण कराया था। फाह्यान भी इस सत्य की पुष्टि कर देता है। उसके अनुसार अशोक प्रारम्भिक आठ स्तूपों में संचित बुद्ध के अवशेषों को ८४,००० स्तूपों में बाँटना चाहता था। यह अवश्य है कि आज

अशोक द्वारा निर्मित थोड़े से स्तूप ही प्राप्त है। सातवी शताब्दी में ह्वानसांग ने भी अशोक के केवल ८० स्तूप तथा विहारों का ही वर्णन किया है। इस आधार पर भी अशोक द्वारा निर्मित ८४,००० स्तूपों के निर्माण की सत्यता पर सहज ही विश्वास करना कठिन है। इसके साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि काल तथा नगरों के उत्थान-पतन के साथ भी अशोक के अनेकों स्तूप सातवीं शताब्दी तक नष्ट हो चुके होगें और इसके उपरान्त इन्ही कारणों तथा यवनों के अत्याचारों से भी स्तूपों का नाश हुआ होगा। स्तूपों के नाश की। इस धारणा को सत्य मानते हुये और दिव्यावदान तथा महावंश के उल्लेखों एवम् प्रस्तुत स्तूपों को ध्यान में रखते हुये यह तो मानना ही पड़ता है कि अशोक ने बहुत से स्तूपों का निर्माण कराया था और लोगों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित करने के लिये उसने उनमें महात्मा बुद्ध के अवशेषों को स्थापित कर उनका महत्व बढ़ा दिया था।

महावंश के अनुसार अशोक ने ८४,००० विहारों का निर्माण तीन वर्षों में ही कराया था। ह्वानसांग भी अशोक द्वारा निर्मित ८४,००० विहारों का उल्लेख करता है। पाटलिपुत्र का अशोकाराम विहार उसी का बनवाया हुआ था। इस संख्या की सत्यता में भी सहज ही विश्वास नहीं किया जा सकता फिर भी यह तो मानना ही पड़ता है कि अशोक ने अपने जीवन काल में बहुत से विहारों का निर्माण कराया था। विहारों का निर्माण भिक्षुओं के रहने, धर्म का अध्ययन एवम् मनन करने तथा लोगों को उपदेश देने के लिये होता था। जन साधारण सहज ही इन विहारों में पहुंच सकें और साथ ही विहारों का वातावरण भी शाँत रहे, इस कारण विहारों का निर्माण अधिकतर नगरों से बाहर उनसे थोड़ी दूर पर ही कराया जाता था। वास्तव में विहार भिक्षुओं के रहने के स्थान के साथ ही धर्म के प्रचार के महत्वपूर्ण केन्द्र भी थे। इनकी उपस्थिति बौद्ध-संघ की दृढ़ व्यवस्था की द्योतक है। अशोक ने विहारों की संख्या मे वृद्धि कर जहाँ बढ़ती हुई भिक्षुओं की संख्या की उचित व्यवस्था की थी, वहीं उसने प्रचार के शक्तिशाली केन्द्रों का भी निर्माण कर दिया था।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि स्तूपों तथा विहारों का निर्माण करा कर जहाँ अशोक ने बौद्ध धर्म को सार्वजनिक धर्म बनाया वहीं उसने उसके प्रचार के हित शक्ति-शाली केन्द्रों की भी स्थापना कर दी। परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म का अत्यधिक प्रचार हुआ। इन साधनों के साथ ही अशोक के धर्म लेख भी अपना अनोखा महत्व रखते हैं। ये लेख अशोक ने स्तम्भों तथा शिलाओं

पर अंकित कराये। इनके प्रति भी उसने ऐसे स्थानों को चुना था। जहाँ जन-साधारण सहज ही उन तक पहुंच सकें और उन पर अंकित उपदेशों का अध्ययन तथा उनके अनुसार आचरण कर सकें। अशोक अपने इन आदेशों के रूप में धर्म लेखों को भी बौद्ध-धर्म के प्रचार का साधन मानता है। वह कहता है "इसी उद्देश्य से (धर्म के प्रचार के लिये) मैंने धर्म-स्तम्भ बनवाये, धर्म महा ात्र नियुक्त किये और धर्म-विधि की रचना की" (स्त० ले० ७)। अतः स्पष्ट है कि अशोक के उपर्युक्त कार्यों द्वारा बौद्ध धर्म का अत्यधिक प्रचार हुआ।

(ख) भिक्षु-संघ को आर्थिक सहायता :—

बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ भिक्षुओं की संख्या भी बढ़ रही थी। विहारों के निर्माण द्वारा अशोक ने उनके निवास की समस्या तो दूर कर दी थी, किन्तु निवास की समस्या ही उनकी केवल समस्या न थी। भोजन, वस्त्र तथा प्रचार आदिक कार्यों की समुचित व्यवस्था के लिये विहारों को धन की आवश्यकता थी। अशोक ने इस कमी को दूर करने के लिये राज्य की ओर से दान सम्बन्धी कार्यों की भी व्यवस्था की थी। शि० ले० ५ के अनुसार उसके दान सम्बन्धी कार्यों का उत्तरदायित्व धर्म-महामात्रों के निमन्त्रण में धर्मयुक्त नामक कर्मचारियों पर था। स्त० ले० ७ के अनुसार धर्म महामात्र ही उसकी रानियों, पुत्रों तथा सम्बन्धियों के धर्म सम्बन्धी कार्यों की व्यवस्था करते थे। इन कथनों के आधार पर यह तो स्पष्ट हो जाता है कि अशोक ने दान सम्बन्धी व्यवस्था की थी किंतु यह नहीं माना जा सकता कि यह व्यवस्था केवल बौद्ध-संघ के लिये ही थी। यह व्यवस्था तो निश्चय ही सभी सम्प्रदाय-वालों के प्रति थी। तो फिर क्या अशोक ने बौद्ध-संघ के प्रति किसी विशेष दान की व्यवस्था न की थी? इस सम्बन्ध में शि० ले० ३ का यह कथन कि "परिषद् भी युक्त (नामक कर्मचारियों) को भाण्डार का निरीक्षण करने और हिसाब-किताब की जाँच करने के लिये आज्ञा देंगे" महत्वपूर्ण है। इस कथन में परिषद् शब्द का उल्लेख बौद्ध-संघ के प्रति किया गया माना जाना चाहिये। महात्मा बुद्ध के समय से ही बौद्ध संघ की व्यवस्था प्रजातन्त्रात्मक राज्यों की शासन प्रणाली के समान की गई थी। परिषद् का भी निर्माण किया गया था और यह संघ को चलाने के प्रति उत्तरदायी थी। अशोक के शि० ले० ३ के कथन से इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अशोक बौद्ध-संघ को अवश्य विशेष रूप से दान देता था और परिषद् (बौद्ध संघ की) इस दान के हिसाब के लिये उत्तरदायी थी। युक्त नामक राजकर्मचारियों द्वारा इस दान के हिसाब का

निरीक्षण यही सिद्ध करता है कि अशोक बौद्ध-संघ की व्यवस्था में विशेष रुचि रखता था। सम्भवतः संघ के संचालन का उत्तरदायित्व ही राज्य-कोष पर आधारित था।

दिव्यावदान की एक कथा उपर्युक्त सम्भावित निष्कर्ष की पुष्टि करती-सी प्रतीत होती है। अनुश्रुति के अनुसार अपने अंतिम समय में अशोक ने बौद्ध-संघ को बहुत अधिक दान दिया। वह और भी बहुत सा दान संघ को देना चाहता था। किन्तु आमात्य जो राजकोष को इस प्रकार रिक्त होता देख चिन्तित हो उठे थे, अशोक की नीति से सहमत न थे। उन्होंने अशोक की नीति का विरोध किया और युवराज से मिलकर, उसके द्वारा दान किये गये धन को न दिये जाने की आज्ञा अधिकारियों को दिला दी। अपनी आज्ञाओं की अवहेलना देख अशोक ने आमात्यों तथा पौरों का सन्निपात कर कहा—"कौन अब पृथ्वी का ईश्वर है" (अर्थात् कौन साम्राज्य का शासक है) ? आमात्यों ने कहा—"देव (श्रीमान्) पृथ्वी के ईश्वर है"। यह सुनकर आँखों में आँसू भर अशोक ने कहा—"आप लोग दाक्षिण्य से क्यों झूठ कहते हैं ? हम तो आधिराज्य से भ्रष्ट (वंचित) हैं। उसने इसके उपरान्त भिक्षु-संघ को भी सूचना भेजी कि "राजा अब अपने अधिकारों से वंचित है"। संघ ने भी राजा को अधिकारों से वंचित किये जाने पर खेद प्रकट किया। अनुश्रुति के अनुसार जब अशोक का अन्त समय निकट आया, उस समय उसने पुनः संघ को दान देना चाहा किन्तु उसके आदेश का पालन न किया गया। अतः उसने मृत्यु से पूर्व अपना सम्पूर्ण साम्राज्य ही बौद्ध-संघ को दान कर दिया। यह देख आमात्य अत्यधिक चितित हो उठे। दान किया साम्राज्य यूवराज के उपभोग की वस्तु न रह गया था। अतः उन्होंने एक वृहत धन-राशि संघ को दे राज्य को संघ से लौटा लिया। इस कथा में चाहे थोड़ा ही सत्य का अंश क्यों न हो किन्तु यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि अशोक ने बौद्ध-संघ को अत्यधिक दान दिया था और इस दान के आधार पर बौद्ध संघ दृढ़ता पूर्वक दूरस्थ प्रदेशों में धर्म के प्रचार का कार्य सफलतापूर्वक कर सका।

(ग) तृतीय बौद्ध सभा का आयोजन :—

महात्मा बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् बौद्ध भिक्षुओं में आन्तरिक झगड़े प्रारम्भ हो गये थे। भिक्षु बुद्ध के उपदेशों के विभिन्न अर्थ लगाते थे और इन्हीं अर्थों को लेकर विभिन्न दलों में विभक्त हो गये थे।

इन झगड़ों को समाप्त करने के लिये बुद्ध की मृत्यु के उपरान्त ही

महाकश्यप की अध्यक्षता में राजगृह में प्रथम बौद्ध सभा का आयोजन किया गया था। अपने सात मास के अधिवेशन में सभा ने उपालि तथा आनन्द नामक धर्माचारियों की सहायता से विनय तथा धर्म सम्बन्धी बुद्ध के उपदेशों का संग्रह किया।

राजगृह की सभा ने यद्यपि बुद्ध के उपदेशों का संग्रह कर दिया था और कुछ काल के लिए आन्तरिक संघर्षो को समाप्त भी कर दिया था, किन्तु वह पूर्णरूप से संघर्षों को मिटाने में असफल रही थी। भिक्षुओं में पुनः मतभेद प्रारम्भ होगया था। वैशाली के भिक्षुओं में यह मतभेद कटुता की सीमा को पार कर चुका था। यह मतभेद भी बुद्ध के उपदेशों के अर्थों को लेकर ही उठा था। इस मतभेद को दूर करने के लिए स्थविर-यश द्वारा द्वितीय बौद्ध सभा का आयोजन वैशाली में ही किया गया। यह सभा महात्मा बुद्ध की मृत्यु के १०० वर्ष पश्चात् हुई थी। इस सभा का अधिवेशन आठ मास तक होता रहा। किन्तु सभा अपने उद्देश्य में सफल न हो सकी। परिणाम स्वरूप बौद्ध संघ दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया प्रथम स्थविरवाद और द्वितीय महासांघिक। स्थविरवादी बुद्ध की मानवता मे विश्वास रखते थे और इनकी संख्या कम थी। महासांघिक बुद्ध को अलौकिक एवम् ईश्वरीय रूप प्रदान कर उनकी मूर्ति का निर्माण तथा उनकी पूजा करने के पक्षपाती थे।

अशोक के समय तक बौद्ध संघ के ये दो सम्प्रदाय १८ निकायों में विभक्त हो चुके थे। ये निकाय निम्नलिखित थे :—

(१) स्थविरवाद (२) हैमवत (३) वृजिपुत्रक (४) धर्मोत्तरीय (५) भद्रयाणीय (६) सम्मितीय (७) षाण्णगरिक (८) सर्वान्तिवादी (९) महीशासक (१०) धर्मगुप्त (११) काश्यपीय (१२) सौत्तान्तक (१३) महासांघिक (१४) प्रज्ञप्तिवादी (१५) चैतीय (१६) लोकोत्तरवादी (१७) एकव्यवहारिक तथा (१८) गोकुलिक। इनमें से प्रथम १२ निकाय स्थविरवाद से उद्भूत हुये थे और अंतिम छः महासांघिक सम्प्रदाय थे। अशोक इन मतभेदों को बौद्ध धर्म की अस्थिरता तथा पतन का कारण मानते थे। अतः उन्होंने इन मतभेदों को दूर करने के लिए तृतीय बौद्ध-महासभा का आयोजन किया।

महावंश के अनसार अशोक ने इस तीसरी सभा के प्रति भिक्षुओं को बुलाने के लिए दो यक्षों को भेजा। यक्षों ने सात दिनों के भीतर ही जम्बूद्वीप के समस्त भिक्षुओं को एकत्र कर दिया। भिक्षु अशोकाराम में एकत्र हुए। सातवें दिन अशोक अपने गुरु थीरो तिस्य (उपगुप्त) के साथ सभा में आये और उन्होंने मिथ्यावादी भिक्षुओं को बुलाकर पूछा 'कल्याण रूप भगवान बुद्ध का

धर्म क्या था ? प्रत्येक भिक्षु ने अपने मतानुसार धर्म की व्याख्या की। अशोक ने असन्तुष्ट हो इन समस्त भिक्षुओं को संघ से निकाल दिया। इन बहिष्कृत भिक्षुओं की संख्या साठ हजार थी। इसके उपरान्त उन्होंने धर्मनिष्ठ भिक्षुओं से वही प्रश्न पूछा। उन्होंने उत्तर दिया 'सत्यता'। सम्राट् ने तत्पश्चात् थीरो तिस्य से पूछा "क्या भगवान स्वयं विभंजवादी धर्म के थे" ? थीरों का उत्तर था 'हाँ'। यह सुन सम्राट् अत्याधिक हर्षित हुये और उन्होंने कहा "पापी भिक्षु बहिष्कृत किये गये हैं, और संघ विमलीकृत हो गया है, अब पुनः उपोसथो का आयोजन किया जा सकता है।" तत्पश्चात् सम्राट् राजमहल लौट गये। इस प्रकार संघ में एक्यता की पुनः स्थापना हुई और उपोसथो मनाया गया।

थीरों ने उपस्थित भिक्षुओ में से एक सहस्र पूर्ण धार्मिक तथा त्रिपटकों के ज्ञाता भिक्षुओं को सभा के लिए चुना। स्वयं थीरो तिस्य इस सभा के अध्यक्ष थे। नौ मास तक इस सभा का अधिवेशन चला इसने समस्त विवादों तथा भ्रान्तियों को समाप्त कर दिया। थीरो तिस्य का 'कथावत्थु' नामक ग्रन्थ प्रमाण रूप में स्वीकार किया गया। सभा ने बौद्ध धर्म के विदेशों में प्रचार करने का भी प्रस्ताव पारित किया। अशोक ने भी भिक्षुओं को राजकीय रक्षण प्रदान कर संघ को पूर्ण दृढ़ता प्रदान कर दी।

इस तृतीय सभा के परिणाम स्वरूप ही बौद्ध संघ में एक्यता स्थापित हुई और इस एक्यता के फलस्वरूप बौद्ध संघ पुनः नूतन स्फूर्ति के साथ धर्म का प्रचार करने के लिये आतुर हो उठा। यह सभा महावंश के अनुसार अशोक के शासन काल के सत्रहवें वर्ष में हुई थी। इस प्रकार अपने राज्याभिषेक के सत्रह वर्ष उपरान्त अशोक ने बौद्ध धर्म का जो कायाकल्प किया उसके परिणाम स्वरूप ही बौद्ध धर्म विश्व-व्यापक धर्म बन सका।

(२) विदेशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार :—

कलिंग-युद्ध के उपरान्त अशोक ने युद्ध न करने का निश्चय कर लिया था और उसने अपनी इस नीति की घोषणा भी कर दी थी। उसकी घोषणा थी "कलिंग देश की विजय में उस समय जितने आदमी मारे गये, मरे या बन्दी बनाये गये उनके सौवें या हजारवें भाग का नाश भी अब देवताओं के प्रिय को बड़े दुःख का कारण होगा" (शि० ले० १३)। वह अपने उत्तराधिकारियों को भी इसी नीति के अपनाने के लिये कहता है "मेरे पुत्र और पौत्र जो हों वे नया (देश) विजय करना अपना कर्त्तव्य न समझें। यदि कभी वे नया देश विजय करने में प्रवृत हों तो उन्हें शान्ति और नम्रता से काम लेना चाहिये और धर्म-

विजय को ही यथार्थ विजय मानना चाहिये" (शि० ले० १३)। अशोक की यह घोषणा न तो एक निर्बल सम्राट की ही घोषणा थी और न आज के राज-नीतिज्ञों के समान यह एक कूटनीतिक चाल ही थी। हमें अशोक की इस घोषणा में जिस मानवीयता के दर्शन होते हैं इतिहास स्वतः ही उसकी पुष्टि तथा उसका प्रदर्शन कर देता है। अशोक की इस घोषणा के परिणाम-स्वरूप वे सीमान्त तथा यवन राज्य जो मौर्य साम्राज्यवादी नीति से आतंकित थे और मौर्य शासकों को अपने अस्तित्व का शत्रु मानते थे मौर्य साम्राज्य से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान करने को लालायित हो उठे। अशोक ने भी अपने लोक मंगलकारी कार्यों द्वारा (चिकित्सा आदि की व्यवस्था द्वारा) इन स्वतन्त्र राज्यों में भारतीय संस्कृति के प्रभुत्व की स्थापना कर दी। भारतीय संस्कृति के प्रभुत्व की इसी स्थापना को अशोक धर्म-विजय कहता है।

अशोक ने यह धर्म-विजय जिन देशों पर प्राप्त की उनका उल्लेख वह स्वयं कर देता है। "यह धर्म-विजय देवताओं के प्रिय ने यहाँ (अपने राज्य में) तथा ६ सौ यौजन दूर पड़ौसी राज्यों में प्राप्त की है। जहाँ अन्तियोक नामक यवन राजा राज्य करता है और उस अन्तियोक के बाद तुरमय, अन्तिकिन, मक और अलिकसुन्दर नामक चार राजा राज्य करते हैं और उसने अपने राज्य के नीचे (दक्षिण में) चोड, पाण्डय तथा ताम्रपर्णी में भी धर्म-विजय प्राप्त की है। उसी प्रकार हिदराजा के राज्य में तथा राजविषयों में यवनों में काम्बोजों में नाभक, नाभपक्तियों में, पितीनिकों में, आन्ध्रों में और पुलिन्दों में सब जगह लोग देवताओं के प्रिय का धर्मानुशासन अनुसरण करते है और करेंगे। जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं पहुंच सकते वहाँ-वहाँ भी लोग देवताओं के प्रिय का धर्मानुचरण, धर्मविधान और धर्मानुशासन सुनकर धर्म के अनुसार आचरण करते हैं और भविष्य में आचरण करेंगे" (शि० ले० १३)।

अशोक के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि उसने उपर्युक्त वर्णित राज्यों में धर्म-विजय की प्राप्ति के लिये अपने दूतों को भेजा था। ये दूत कौन थे? इस सम्बन्ध में शि० ले० ५ पर्याप्त प्रकाश डालता है। अशोक कहते है "ये (धर्ममहामात्र) धर्म की रक्षा के लिये, धर्म की वृद्धि करने के लिये, धर्म युत (नामक-राजकर्मचारियों) के हित और सुख के लिये तथा यवन, काम्बोज, गान्धार (राष्ट्रक, पीतीनिक) तथा पश्चिमी सीमा (पर रहने वाली अन्य जातियों के) हित और सुख के लिये सब सम्प्रदायों के बीच में नियुक्त है" (शि० ले० ५)। इस प्रकार धर्म महामात्रों का विदेशों में भी धर्म प्रचार के लिये दूतों के रूप में नियुक्त किया जाना सिद्ध हो जाता है। शि० ले० २ में वर्णित मनुष्यों

तथा पशुओं के प्रतिचिकित्सालयों की स्थापना तथा उनके संचालन का उत्तरदायित्व भी सम्भवतः इन्हीं धर्म महामात्रों पर था। देश से बाहर जिन राज्यों तथा राजाओं के देशों में इन चिकित्सालयों की स्थापना की गई थी, अशोक उनके नामों का उल्लेख भी कर देता है। वे देश तथा राजा हैं चोड, पाण्डय, सत्यपुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपर्णी, और अन्तियोक नाभक यवन राजा तथा उसके पड़ौसी राजा।

अशोक द्वारा उपर्युक्त वर्णित राज्यों में चिकित्सालयों की स्थापना निश्चय ही जहाँ मानवीयता के स्तर पर की गई थी वहीं इनकी स्थापना का उद्देश्य विदेशियों के हृदय में भारतीथ संस्कृति के प्रति इनके द्वारा सद्भावना उत्पन्न करना था। ये चिकित्सालय अशोक के धर्म-प्रचार का केन्द्र भी रहे होंगे। आधुनिक काल में भारत में ईसाई धर्म का प्रचार भी चिकित्सालयों को केन्द्र बनाकर किया गया था। इस प्रकार अशोक आधुनिक काल के धर्म-प्रचार सम्बन्धी उपायों का जन्मदाता बन जाता है।

सर्वप्रथम विदेशियों के हृदयों पर अपने लोक-मंगल-कार्यों द्वारा विजय प्राप्त कर और फिर उन्हें धर्म का उपदेश दे बौद्ध धर्मानुयायी बनाने के प्रयास में अशोक को कितनी सफलता मिली कहना कठिन है। निश्चय की इस कठिनाई का एक कारण भी है। अशोक शि० ले० १३ में जिसका प्रकाशन उसके राज्याभिषेक के १३ वें वर्ष में हुआ था, भारत तथा विदेशों में पूर्ण विजय की प्राप्ति का उल्लेख करता है, किन्तु महावंश तृतीय बौद्ध सभा के उपरान्त, जो अशोक के राज्याभिषेक के सत्रह वर्ष उपरान्त हुई थी, विविध देशों में धर्म-प्रचार के लिये भिक्षुओं के भेजे जाने का वर्णन करता है। यदि अशोक को धर्म प्रचार में पूर्ण विजय अथवा सफलता प्राप्त हो गई थी तो फिर ४ वर्ष उपरान्त तृतीय बौद्ध सभा में देश-विदेश में बौद्ध धर्म के प्रचार की योजना और उसे क्रियान्वित करने के लिये दूतों को भेजने की क्या आवश्यकता थी ? तो फिर अशोक तथा महावंश के उल्लेखों के काल सम्बन्धी अन्तर के आधार पर क्या यह निष्कर्ष निकाल लिया जाय कि शि० ले० १३ (जिसकी प्रकाशन विधि २५७-२५६ ई० पू० है) में अशोक की धर्म विजय की घोषणा अतिशयोक्ति पूर्ण है और देश-विदेशों में धर्म-विजय का वास्तविक कार्य ४ वर्ष उपरान्त २५३-२५२ ई० पू० में प्रारम्भ हुआ ? किन्तु न तो अशोक के शब्दों में ही अविश्वास किया जा सकता है और न महावंश के वर्णन में ही। सम्भवतः २५७-२५६ ई० पू० तक अशोक के धर्म महामात्रों ने भारतीय मानवीयता तथा संस्कृति के प्रति आदर की भावना विदेशों में पूर्णतया स्थापित कर दी थी और बौद्ध धर्म का प्रचार भी किसी सीमा तक प्रारम्भ कर दिया था और अपनी इसी सफलता को अशोक ने धर्म-विजय मान

लिया था। किन्तु विदेशों में जिस तत्परता के साथ धर्म-प्रचार का कार्य होना चाहिये था वह अभी नहीं हो पाया था और न ही उसकी धर्म महामात्रों से आशा ही करनी चाहिये। धर्म महामात्र राजकीय अधिकारी थे और धर्म-प्रचार का कार्य जिसमें धर्म के गूढ सिद्धान्तों की व्याख्या निहित थी, उनकी सामर्थ से बाहर की वस्तु थी और फिर ऐसे देशों में जो भारतीय विचार धारा से अछूते हों यह कार्य और भी कठिन था। ऐसे प्रदेशों में धर्म-प्रचार का कार्य केवल योग्य भिक्षुओं द्वारा ही सम्भव हो सकता था। सम्भवत: इन्ही कारणों से विदेशों में धर्म-प्रचार का कार्य २५३-२५२ ई० पू० में बौद्ध संघ के सुपुर्दकर दिया गया था। इस प्रकार २५७-२५६ ई० पू० तक किये गये अशोक के कार्यो तथा उसकी सफलताओं को, भिक्षु संघ द्वारा २५३-२५२ ई० पू० में प्रारम्भ किये गये कार्यो का, ऐसा ठोस तथा महत्वपूर्ण आधार मानना चाहिये जिसके अभाव मे भिक्षु संघ की सफलता असम्भव हो जाती।

भिक्षुओं की नियुक्ति :—

महावंश के अनुसार तृतीय बौद्ध सभा के उपरान्त आचार्य तिष्य ने देश-विदेश में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये एक महान् योजना तैयार की। इस योजना के अनुसार विभिन्न देशों में निम्नलिखित आचार्यो के नेतृत्व मे भिक्षुओं की मण्डलियाँ धर्म-प्रचार के लिये भेजी गई :—

(१) मज्झन्तिक	काश्मीर तथा गान्धार
(२) महादेव	महिसा मण्डल (मैसूर)
(३) थेर रक्षित	बनवास (उत्तरी कनारा)
(४) योनक (यवन) धर्म रक्षित	अपरान्तक (कोंकण)
(५) महाधम्म रक्षित	महाराष्ट्र
(६) महारक्षित	योन लोक (यवन देश)
(७) थेर मज्झिम और कस्यप	हिमवन्त (हिमालय प्रदेश)
(८) थेर सोण और उत्तर	सुवर्णभूमि
(९) महामहिन्द्र (महेन्द्र)	लंका (सिंहल)

गाथाओं के अनुसार प्रत्येक धर्म प्रचारक के साथ चार साथी थे। महावंश के अनुसार महेन्द्र के चार साथी इत्तिया, उत्तीया, सम्बल और भद्दसाल थे। सभी आचार्यों को अपनी मण्डलियों सहित कार्तिक के महीने में बौद्ध धर्म के प्रचार के प्रति भेजा गया (महावंश-प्रकरण १२)।

महावंश के आचार्यों सम्बन्धित उपर्युक्त कथन की आंशिक पुष्टि कुछ

प्राचीन प्राप्य उत्कीर्ण लेखों द्वारा भी हो जाती है। साँची के स्तूप नं० २ से प्राप्त पत्थर के एक सन्दूक में एक धातुमंजूषा (वह सन्दूक जिसमें मृत व्यक्ति के अस्थि एवम् फूल सुरक्षित किये गये हों) के ऊपर मोग्गलिपुत्त उत्कीर्ण है। एक अन्य धातुमंजूषा के तले पर, ढक्कन के ऊपर तथा भीतर हारितीपुत्त, मज्झिम तथा सब हेमवतचरिय(सम्पूर्ण हिमालय के आचार्य) कासपगोत के नाम उत्कीर्ण हैं। साँची से पाँच मील दूर सोनारी के एक अन्य स्तूप में भी धातुमंजूषायें पाई गई हैं जिनमे से एक पर कासपगोत का और दूसरी पर दुंदभिसार के दामाद गोतीपुत का नाम उत्कीर्ण है। कासपगोत तथा दुंदभिसार थेर मज्झिम के साथी थे जो हिमालय प्रदेश मे धर्म के प्रचारार्थ भेजे गये थे। मोग्गलिपुत्त तिष्य तृतीय बौद्ध महासभा का संयोजक तथा अध्यक्ष था। इस प्रकार महावंश का कथन लेखों द्वारा भी प्रमाणित हो जाता है। ये लेख इस सत्य का भी प्रदर्शन कर देते हैं कि महात्मा बुद्ध के समान उनके विख्यात शिष्यों की अस्थियों तथा फूलों पर भी स्तूप निर्माण करने की परम्परा चल पड़ी थी। यह परम्परा आचार्यों के प्रति लोगों के आदर भाव का भी पूर्ण परिचय दे देती है।

धर्म का प्रचार :—

तिष्य द्वारा नियुक्त प्रचारक मण्डलियों ने अपने कार्य में जो सफलता प्राप्त की उसका विस्तृत वर्णन हमें अशोक के शिलाभिलेखों से प्राप्त नहीं होता। इस वर्णन के लिये भी हमें महावंश आदि सिंहली ग्रंथों तथा कथाओं पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

दक्षिणी भारत में बौद्ध धर्म :—

आचार्य तिष्य ने विदेशों में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के प्रति जिन प्रचारक मण्डलियों की नियुक्ति की थी उनमे से चार मण्डलियों को दक्षिण भारत भेजा गया था। भिक्षु महादेव का शिष्टमण्डल महिसामण्डल गया था। महिसामण्डल आधुनिक मैसूर राज्य के क्षेत्र का प्राचीन नाम है। महादेव ने इस प्रदेश में 'देवदत्त-सुत्तन्त' का उपदेश दिया। परिणामस्वरूप शीघ्र ही चालीस सहस्त्र मनुष्यों ने प्रव्रज्या लेकर भिक्षुकों के पीत वस्त्र धारण किये।

दूसरा शिष्टमण्डल थेर रक्षित के नेतृत्व में वनवास प्रदेश गया था। वनवास उत्तरी कनारा अथवा कर्नाटक प्रदेश का प्राचीन नाम है। महावंश के अनुसार थेर रक्षित आकाश मार्ग से वनवास प्रदेश में गया। उसने वहाँ लोगों में 'अनमतग्ग' का प्रचार किया। परिणाम स्वरूप साठ सहस्त्र मनुष्यों ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया तथा सैंतीस सहस्त्र व्यक्तियों ने भिक्षु के रूप में धर्म में

प्रवेश किया। थेर रक्षित ने इस प्रदेश में ५०० विहारों का निर्माण भी कराया।

तीसरा शिष्टमण्डल योनक धर्म रक्षित के नेतृत्व में अपरान्तक प्रदेश भेजा गया था। अपरान्तक आधुनिक कोंकण का प्राचीन नाम है। इस प्रदेश मे योनक (यवन) भिक्षु का भेजा जाना इस सत्य का प्रमाण है कि यवन भी बौद्ध धर्म के मानने वाले थे और उन्होंने भारतीय संस्कृति से प्रभावित हो अपने नाम का भी भारतीयकरण कर डाला था। एक यवन भिक्षु की कोंकण प्रदेश में नियुक्ति से यह भी प्रतीत होता है कि इस प्रदेश में यवन भी अधिक संख्या मे बसते थे और उन्हें बौद्ध धर्मानुयायी बनाने के लिये ही एक यवन की नियुक्ति की गई थी। महावंश के अनुसार धर्मरक्षित ने इस प्रदेश मे 'अग्गिक्खन्धोपम-सुत्त' का उपदेश दिया। सत्ताइस सहस्र व्यक्तियों ने इसके उपदेशों को सुना और इतने प्रभावित हुये कि शीघ्र ही एक सहस्र पुरुष तथा इससे अधिक स्त्रियाँ जो केवल विशुद्ध क्षत्रिय-जाति की थी बौद्ध धर्म स्वीकार करने को तत्पर हो गईं।

चौथा शिष्टमण्डल थेर महाधम्मरक्षित के नेतृत्व से महाराष्ट्र प्रदेश भेजा गया था। इस प्रदेश में महाधम्मरक्षित ने 'महानारदकस्सपह्व जातक' का उपदेश दिया। परिणाम स्वरूप चौरासी सहस्र व्यक्तियों ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया तथा तेरह सहस्र व्यक्तियों ने भिक्षुव्रत की दीक्षा ली।

आचार्य तिष्य की इस सूची मे जहाँ दक्षिण भारत के लगभग सभी प्रदेशों का उल्लेख हो जाता है वहाँ आन्ध्र देश तथा पाण्डय एवम् तामिल राज्यों का उल्लेख न पाकर आश्चर्य होता है। अशोक के लेख इनका वर्णन करते हैं। अशोक ने इन प्रदेशों में भी सार्वजनिक कार्यो तथा धर्मानुशासन के प्रचार के लिये अपने राज्याधिकारियों की नियुक्ति की थी। फिर आचार्य तिष्य ने इन प्रदेशों को क्यों छोड़ दिया? सम्भवतः आचार्य तिष्य ने तो इन प्रदेशों को नही छोड़ा वरन् महावंश तथा अन्य सिंहली गाथाओं ने ही इनका उल्लेख जान-बूझकर नहीं किया। इसका कारण इन प्रदेशों तथा लंका की पारस्परिक अनबन प्रतीत होती है। आचार्य तिष्य ने अवश्य ही किसी आचार्य की नियुक्ति इन प्रदेशों में धर्म प्रचार के लिये की होगी। सातवी शताब्दी में चीनी यात्री य्वान-च्वाङ ने द्राविड़ देश में महेन्द्र के नाम के एक बिहार का उल्लेख किया है। इस सत्य के आधार पर यह निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि इन प्रदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार का उत्तरदायित्व महेन्द्र पर था और उसी की इस सम्बन्ध में नियुक्ति भी की गई थी।

सिंहल (लंका) में बौद्ध धर्म का प्रचार :–

महावंश तथा अन्य सिंहली गाथायें सिंहल में बौद्ध धर्म के प्रचार का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करती हैं। अशोक ने भी अपने लेखों में ताम्रपर्णी (शि० ले० २) के नाम से सिंहल का उल्लेख किया है। शि० ले० १३ मे उसने ताम्र-पार्णी में भी धर्म विजय की प्राप्ति की घोषणा की है। इन उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि तिष्य द्वारा महामहिन्द्र (महेन्द्र) की धर्म प्रचार के लिये नियुक्ति से पूर्व भारत तथा लंका में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित था और वहाँ अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी थीं।

महावंश के अनुसार भी अशोक तथा सिंहल-नरेश तिष्य के मध्य मित्रता-पूर्ण सम्बन्ध थे और दूतों का आदान-प्रदान भी होता था। तिष्य ने सिंहासनारूढ़ होने के उपरान्त अपना एक शिष्टमण्डल अशोक के पास मूल्यवान उपहारों सहित भेजा था। इस शिष्टमण्डल का नेता स्वयं तिष्य का भानजा महाअरिट्ठ था। यह शिष्टमण्डल चौदह दिन में ताम्रलिप्त होता हुआ पाटलि-पुत्र पहुँचा। पाँच मास तक यह पाटलिपुत्र में रहने के उपरान्त लंका लौट गया। अशोक ने प्रत्युत्तर मे तिष्य को निम्न सदेश भेजा :—

'मैं बुद्ध की शरण में चला गया हूँ। मैं धम्म की शरण में चला गया हूँ। मै संघ मे चला गया हूँ। मैंने शाक्यमुनि के धर्म का उपासक होने का व्रत ले लिया है। तुम भी इसी बुद्ध धर्म और संघ के त्रिरत्न का आश्रय लेने के लिये स्वयं को तत्पर करो। 'जिन' के उच्चतम धर्म का आश्रय लो। बुद्ध की शरण में आने का निश्चय करो" (महावंश)। इस संदेश के साथ ही अशोक ने अन्य अनेकों अमूल्य उपहार भी तिष्य के लिए भेजे। इस प्रकार सर्वप्रथम अशोक का संदेश बौद्ध धर्म के प्रचार के रूप में सिंहल पहुँचा।

इसी समय आचार्य तिष्य की आज्ञानुसार अशोक का असंधिमित्रा से उत्पन्न पुत्र महेन्द्र भी, जिसने २० वर्ष की आयु में ही बौद्ध धर्म स्वीकार कर भिक्षु व्रत ले लिया था, लंका बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ जाने के लिये तत्पर था। लंका जाने से पूर्व वह अपनी माता से मिलने विदिशा गया। वहाँ वह अपनी माता के बनवाये विहार में ठहरा। जितने समय तक महेन्द्र विदिशा में रहा वह सतत् बौद्ध धर्म का प्रचार करता रहा।

विदिशा से महेन्द्र वायु-पथ से लंका गया। वह अनुराधपुर से आठ माल पूर्व जिस पर्वत पर उतरा उसका नाम महिन्द्रतल पड़ गया। आज भी यह स्थान महावंश की इस कथा की सत्यता प्रमाणित करता हुआ महिन्तले कहलाता है। जिस समय महेन्द्र लंका में उतरा उस समय लंका नरेश तिष्य आखेट-क्रीड़ा मे

व्यस्त था। उसने महेन्द्र का उसी स्थल पर स्वागत किया और उसके उपदेशों को सुन अपने चालीस सहस्र अनुयायियों सहित उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया।

राजकुमारी अनुला भी महेन्द्र के उपदेशों से इतनी प्रभावित हुई कि उसने भी बौद्ध धर्म स्वीकार करने का निश्चय कर लिया। बौद्ध धर्म के नियमानुसार केवल भिक्षुणी ही किसी स्त्री को धर्म में दीक्षित कर सकती है। अतः महेन्द्र अनुला को बौद्ध धर्म की दीक्षा न दे सका। अनुला को बौद्ध धर्म में दीक्षित कराने के लिये सिहल नरेश तिष्य ने महाअरिट्ठ के नेतृत्व मे पुनः एक शिष्टमण्डल अशोक के पास दो प्रार्थनाओं सहित भेजा :—

प्रथम—संघमित्रा को लंका भेजने के प्रति तथा

द्वितीय—बोधि वृक्ष की एक शाखा भेजने के प्रति।

संघमित्रा, महेन्द्र की बहिन थी और उसने भी अठारह वर्ष की आयु में बौद्ध धर्म स्वीकार कर भिक्षुणी का व्रत ले लिया था। अशोक ने शिष्टमण्डल की प्रार्थना पर तुरन्त ही संघमित्रा को बोधिवृक्ष की शाखा सहित लंका जाने की अनुमति दे दी। अनुश्रुति के अनुसार दोनों गंगा नदी के जलमार्ग द्वारा ताम्रलिप्ती पहुंचे और वहाँ से जहाज़ द्वारा लंका पहुँचे। ताम्रलिप्ती में शाखा के जहाज पर चढ़ाये जाते समय अनेकों चमत्कार हुये थे। लंका में शाखा तथा संघमित्रा के स्वागत का पूर्ण आयोजन हो गया था। सिंहल नरेश ने दोनों का स्वागत जम्बुकोल (जाफना जिले मे आधुनिक संबिलतुरई) बन्दरगाह पर किया। शाखा को महान् उत्सव के साथ अनुराधपुर के महा विहार में रोपा गया। यह वृक्ष आज भी लंका में विद्यमान है।

संघमित्र ने अनुला को उसकी ५०० सहचरियों सहित बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। तत्पश्चात् अपने संघमित्रा और महेन्द्र जीवन के अन्तिम काल तक सिंहल में ही बौद्ध धर्म का प्रचार करते रहे। सिहल नरेश तिष्य ने अनेकों विहारों का निर्माण कराया और बौद्ध धर्म के प्रचार में महेन्द्र तथा संघमित्रा को पूर्ण सहयोग प्रदान किया। लंका में ही ७६ वर्ष की आयु में संघमित्रा की तथा ८० वर्ष की आयु में महेन्द्र की मृत्यु हुई। महिन्तले के निकट अम्बुस्ताल स्तूप में आज भी महेन्द्र की समाधि विद्यमान है। लंका में बौद्ध धर्म का कितना प्रचार महेन्द्र ने किया इस सत्य का परिचय महावंश के निम्न उल्लेख से प्राप्त हो जाता है।

"इस प्रकार वह (महेन्द्र) लंका का दीपक बना जिसने इस भूमि पर धर्म का प्रकाश फैलाया।"

उत्तरापथ में बौद्ध धर्म का प्रचार :—

आचार्य तिस्य ने उत्तरापथ में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये भी प्रचारक मण्डल की नियुक्ति की थी। महावंश के अनुसार थेर मज्झिम तथा कस्सप हिमवन्त प्रदेश के लिये नियुक्त किये गये थे तथा मज्झन्तिक काश्मीर एवम् गान्धार प्रदेश के प्रति। महावंश की टीका के अनुसार हिमवन्त प्रदेश के आचार्य मज्झिम के चार साथी, कस्सपगोत, दुन्दुभिसार, सहदेव तथा मूलकदेव थे। महावंश में यद्यपि मज्झिम तथा मज्झन्तिक नामक आचार्यों का पृथक् उल्लेख किया गया है, किन्तु वास्तव में मज्झिम तथा मज्झन्तिक दो आचार्य न होकर एक ही व्यक्ति थे।

महावंश के अनुसार आचार्य मज्झिम ने सम्पूर्ण हिमालय प्रदेश में (कश्मीर, गान्धार तथा हिमवन्त प्रदेश) बौद्ध धर्म का प्रचार किया। मज्झिम के प्रयासों से हिमवन्त प्रदेश के ८४ सहस्र गन्धर्व, यक्ष, नाग तथा कुम्भण्डकों ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। महावंश के अनुसार पञ्चक नामक यक्ष ने अपनी पत्नी हारीत सहित बौद्ध धर्म को स्वीकार कर अपने ५०० पुत्रों को भी उपदेश दिया। उसने कहा "जैसे अब तक तुम क्रोध करते आये हो, वैसे अब भविष्य में न करो, क्योंकि सब प्राणी सुख की कामना करने वाले है, अतः अब कभी किसी प्राणी की हिंसा न करो। जीवमात्र का कल्याण करो। सब मनुष्य सुखपूर्वक सब के साथ रहें।" पिता के उपदेशों से उसके समस्त पुत्रों ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया।

हिमवन्त प्रदेश मे अशोक के शासन काल मे बौद्ध धर्म का अत्यधिक प्रचार हुआ इसका प्रमाण नैपाल की पुरानी राजधानी पातन या ललितपत्तन के अवशेष हैं। इस नगरी को अशोक ने ही बसाया था तथा नगरी मे एवम् उसके चारों ओर उसने अनेकों स्तूपों का भी निर्माण कराया था। अशोक की पुत्री चारुमती भी नैपाल में ही रहने लगी थी और उसने वहाँ अपने पति देवपाल के नाम से देवपत्तन नामक एक नगरी भी बसाई थी। चारुमती ने इस नगर के निकट ही एक विशाल बौद्ध-विहार का भी निर्माण कराया था जिसके अवशेष पशुपतिनाथ के मन्दिर के उत्तर मे अबतक विद्यमान हैं। नैपाल के उक्त अवशेष आज भी हिमवन्त प्रदेश में बौद्ध धर्म के प्रचार की सत्यता तथा उसके प्रभाव के दृढ़ प्रमाण हैं।

काश्मीर तथा गान्धार में भी आचार्य मज्झन्तिक के प्रचार सम्बंधी कार्यों का विस्तृत वर्णन हमें महावंश से प्राप्त हो जाता है। अनुश्रुति के अनुसार

इस समय इन प्रदेशों का शासक अरावलो था। राजा अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न था। जिस समय अरावलो अपनी शक्तियों द्वारा तोय विल्पव (जल प्रलय) कर काश्मीर तथा गान्धार की समस्त पकी हुई खेती नष्ट कर रहा था, उसी समय मज्झन्तिक वायु द्वारा अरावला झील में उतरा। वह समाधिस्त हो पानी के ऊपर विचरण करने लगा। राजा ने जब अपने अनुचर नागों से मज्झन्तिक के विषय में सुना तो वह क्रोधान्ध हो अपनी शक्तियों द्वारा उसे त्रास देने लगा। भयंकर तूफान उठे, वज्रापात हुये, पर्वत मूल से टूटने लगे तथा बिजली भयंकर रूप से कड़कने लगी, किन्तु मज्झन्तिक विचलित न हुआ। उसने नागराज अरावलों की शक्तियों पर विजय प्राप्त की। तत्पश्चात उसने नागराज से कहा "ऐ नागराज, यदि देवतागण भी मनुष्यों के साथ मिलकर मुझे विचलित करना चाहे तो भी यह सम्भव न होगा। तुम समस्त पर्वतों और सागरों को भी यदि हमारे मस्तक पर ढाहना चाहो तो भी मै भयातुर न हूँगा। ऐ नागराज, तुम अपनी खेतों को नष्ट करने की क्रिया का त्याग कर दो"। मज्झन्तिक की अलौकिक शक्तियों का परिचय प्राप्त कर नागराज शान्त हो गया और उसमे मज्झन्तिक के उपदेश ग्रहण कर बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया।

नागराज, तत्पश्चात् मज्झन्तिक को अपने महल मे ले गया और उसने उसे सिंहासनारूढ़ कर उसकी सेवा की। वह स्वयं उस पर पंखा झलने लगा। इसी ससय नागराज के क्रोध को शान्त करने के लिये काश्मीर तथा गान्धार के निवासी उपहार ले राजनगरी में आये थे। उन्होंने जब मज्झन्तिक की अलौकिक शक्तियों के विषय में सुना तो वे उसकी सेवा मे गये। आचार्य ने 'असीविसोपम' का उपदेश दिया। परिणाम स्वरूप अस्सी सहस्त्र व्यक्तियों ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया तथा एक लाख व्यक्तियों ने प्रव्रज्या ग्रहण की।

काश्मीर में अशोक द्वारा बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ इस सत्य की पुष्टि कल्हणकृत राजतरंगिणी से भी हो जाती है। राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर की राजधानी श्रीनगर का निर्माण अशोक ने कराया था। अशोक ने काश्मीर में बहुत से सूप और विहारों का भी निर्माण कराया। उसने झेलम का तट तो जैसे स्तूपों द्वारा ढक सा दिया था। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि काश्मीर, गान्धार तथा हिमवन्त प्रदेश अशोक तथा प्रचारक मण्डल के कार्यों के परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म के दृढ़ केन्द्र बन गये थे।

यवन देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार :—

अशोक ने शि० ले० २, ५ तथा १३ में भारत की उत्तरी पश्चिमी सीमा पर स्थित यवन राज्यों का उल्लेख किया है। इन स्वतन्त्र यवन राज्यों में अशोक

ने चिकित्सा आदि सार्वजनिक कार्यों की व्यवस्था की थी। इन प्रदेशों में उसका प्रेम, करुणा तथा बन्धुत्व का संदेश लेकर उसके अन्तमहामात्र भी कार्य कर रहे थे। उसके इन मानवीय कार्यो का इन प्रदेशों में क्या प्रभाव पड़ा इसका निर्णय शि० ले० १३ के अध्ययन से हो जाता है। अशोक इन यवन राज्यों को अपनी धर्म-विजय के अन्तर्गत मानता है (शि० ले० १३)।

महावंश भी इन यवन राज्यों में धर्म का प्रचार करने के लिये आचार्य महारक्षित की नियुक्ति का उल्लेख करता है। अनुश्रुति के अनुसार आचार्य ने इन प्रदेशों में 'कालकारामसुत्त' का उपदेश दिया। उसके उपदेशों के परिणाम स्वरूप एक लाख सत्तर हजार मनुष्यों ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया तथा दस सहस्र मनुष्यों ने भिक्षु-व्रत की दीक्षा ली। महावंश का यह कथन अशोक के लेखों के कथन की पुष्टि कर देता है। किन्तु अनेकों पाश्चात्य इतिहासकार महावंश तथा अशोक के कथन में विश्वास नही करते। वे अशोक के कथन को गर्वोक्ति मान कर उस पर मिथ्या भाषण का आरोप लगाते हैं। इन विद्वानों में रीज डेविड्स प्रमुख हैं। वे भारतीय धर्म को बर्बर जाति का धर्म मानकर उसका प्रभाव ग्रीक सी सभ्य जाति पर पडना असम्भव ही नही ग्रीक सी सभ्य जाति के प्रति अपमान जनक भी मानते हैं। उनका कथन है "भारत जैसी बर्बर जाति द्वारा धर्म की शिक्षा प्राप्त करना ग्रीक जाति कभी सहन नही कर सकती थी। यह किसी भी प्रकार सम्भव न था कि यूनानी भारतीय नरेश के धर्मानुशासन पर अपने धार्मिक तत्वों को ठुकरा दे" (बुद्धिस्ट इण्डिया)। रीज डेविड्स के इस कथन से यह तो स्वतः ही प्रमाणित हो जाता है कि इस कथन द्वारा उसका उद्देश्य अशोक तथा महावंश के कथन को असत्य सिद्ध करना उतना नही जितना ग्रीक जाति तथा उसके धर्म की रक्षा करना है। यह रक्षा भी जिस ढंग से की गई है वह सभ्य संसार के इतिहास में अपना अनोखा ही स्थान रखती है। रीज डेविड्स भारतीय जाति को बर्बर कहता है और इसी घोषणा के आधार पर वह ग्रीक जाति पर भारतीय संस्कृति के प्रभाव की सत्यता को नष्ट कर देना चाहता है। वास्तव में यह प्रयास स्वयं ही बर्बरता का परिचायक है। बसुधैव कुटुम्बकम् की भावना पर आधारित, पशुबल के परिचायक युद्धों की भयंकरता से सिसकने वाली मानव जाति को, करुणा, बन्धुत्व तथा प्रेम का सन्देश देने वाली जाति यदि बर्बर है, उस दशा में पशुबल को ही अपनी शक्ति मानने वाली जाति कौन होगी, इसका निर्णय स्वयं रीज डेविड्स के मत के समर्थक यदि कर ले तो उत्तम होगा। अशोक से कुछ समय पूर्व उसके दादा के शासन काल में भारत में निवास करने वाला यूनानी राजदूत मेगस्थनीज़ भारतीय संस्कृत तथा धर्म की उच्चता देखकर आश्चर्यचकित रह गया

था। वह भारतीय जाति की सत्य के प्रति निष्ठा, पवित्रता तथा सरलता की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है। आश्चर्य है जिस जाति को एक समकालीन यूनानी विद्वान सभ्य मानता है उसी को रीज डेविड्स महोदय बर्बर घोषित करने का प्रयास करते हैं। यही नही स्वयं अशोक का समकालीन तुरमय भी भारतीय ग्रन्थों का अपनी भाषा में अनुवाद कराने के लिये व्यग्र था। क्या उसकी यह व्यग्रता एक बर्बर जाति के ग्रन्थों का अनुवाद कराने के लिये थी ? सम्भवतः रीज डेविड्स का यही मत रहा होगा। ईसाई धर्म के सम्बन्ध में भी सम्भवतः योग्य विद्वान की ऐसी ही बर्बरता पूर्ण धारणा रही होगी। ईसाई धर्म इसी बर्बर भारतीय जाति के बौद्ध धर्म से कितना प्रभावित है इस सत्य की पुष्टि बौद्ध तथा ईसाई धर्म के अध्ययन से हो जाती है। ईसाई धर्म पर बौद्ध धर्म का यह प्रभाव पश्चिमी संसार के ईस्तीन तथा थेराथून नामक विरक्त लोगों का पड़ा था। ये योग पूर्व की ओर से जाकर पैलेस्टीन तथा मिश्र में बस गये थे और धर्म प्रचार के साथ चिकित्सा का कार्य भी करते थे। इनकी धर्म, गाथायें तथा धार्मिक क्रिया कलाप बौद्ध धर्म से मिलता है। सम्भवतः ये विरक्त आचार्य महारक्षित के उत्तराधिकारी थे जो पश्चिमी संसार मे बौद्ध धर्म का प्रचार कर रहे थे। महात्मा ईसा भी इनके सम्पर्क मे आये थे और उन्होंने इनका सत्संग भी किया था। यह सत्य प्रमाणित कर देता है कि महात्मा ईसा ने अशोक के लगभग २५० वर्ष उपरान्त जिस धर्म को जन्म दिया वह पश्चिमी परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित बौद्ध धर्म ही था। ईसाई धर्म में बौद्ध धर्म की छाप होने के कारण ही सम्भवतः पश्चिमी संसार से बौद्ध धर्म का लोप सा हो गया। बौद्ध धर्म तथा ईसाई धर्म की पद्यतियों, गाथाओं तथा क्रियाकलाओं की समानता की पुष्टि इस सत्य से भी हो जाती है कि आधुनिक काल में पाश्चात्य देशों के यात्री भी तिब्बत के बौद्ध विहारों को देखकर उन्हें रोमन कैथोलिक गिर्जे मान बैठे थे। अतः स्पष्ट है कि ईसाई तथा बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों की समानता, ईसाई धर्म की जन्मभूमि में बौद्ध धर्म के प्रचार तथा उसके अनुयायियों के कारण ही थी। इस प्रकार अशोक तथा महावंश के कथनों की सत्यता भी प्रमाणित हो जाती है और साथ ही रीज डेविड्स का कथन एक निरर्थक प्रलाप सा अपने उद्गम स्थान की क्षुद्रता सा प्रमाणित करता अपने में ही सीमित रह जाता है।

पश्चिमी देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार से सम्बन्धित एक अन्य समस्या भी महत्वपूर्ण हैं। अशोक ने अपनी विश्वव्यापी धर्म-विजय की योजना में यूनान के पश्चिम तथा उत्तर के देशों को क्यों नही सम्मिलित किया ? अशोक के शिलाभिलेख तथा बौद्ध ग्रन्थ इस सम्बन्ध में मौन हैं। सम्भवतः इसका कारण तत्का-

लीन यूनान के पश्चिम तथा उत्तर के देशों की सभ्यता थी। इतिहास प्रमाण है कि अशोक कालीन संसार में केवल भारत, यूनान तथा चीन ही सभ्यता के केन्द्र थे। रोमन जाति ने तो इस समय यूनानी लोगों से सभ्यता का पाठ पढ़ना प्रारंभ किया था। अतः अशोक ने यूनान से उत्तर और पश्चिम के असभ्य देशों में अपने धर्म का प्रचार करना उचित न समझा होगा। अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य इन प्रदेशों में भी यूनानियों के द्वारा भारतीय धर्म तथा संस्कृति का प्रचार हुआ होगा।

सुवर्ण भूमि में बौद्ध धर्म का प्रचार :--

महावंश के अनुसार सुवर्ण भूमि मे बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये थेर सोण और उत्तर की नियुक्ति की गई थी। इस प्रदेश में आचार्यों के जाने से पूर्व अशोक ने क्या कार्य किये थे इस सम्बन्ध मे उसके शिलाभिलेख पूर्णतया मौन हैं। यह मौनता इस कारण और भी खटकती है कि जब अशोक ने अपनी पश्चिमी सीमा के राज्यों मे सार्वजनिक कार्यों की व्यवस्था की तब पूर्वी सीमा के प्रदेशों की अवहेलना क्यों की? सम्भवतः इस अवहेलना का कारण भी इन प्रदेशों के रहने वालों का यूनान के उत्तर और पश्चिम के देशों की जातियों के समान असभ्य होना है। इतिहास प्रमाण है कि अशोक के समय में हिमालय तथा सुवर्ण भूमि दोनों ही प्रदेशों मे किरात तथा आग्नेय जातियाँ अपनी जंगली अवस्था मे रहती थी। महावंश का यह कथन कि भारतीय धर्म-प्रचारकों को सुवर्ण भूमि में राक्षसों का सामना करना पड़ा, इस प्रदेश के निवासियों का जंगली होना प्रमाणित कर देता है। धर्म प्रचारकों द्वारा इस देश में चारों ओर आरक्ख (रक्षा-प्रबन्ध) की व्यवस्था से भी जिसका स्पष्ट उल्लेख महावंश ने किया है इस निष्कर्ष की पुष्टि हो जाती है। इस प्रकार अशोक द्वारा सुवर्ण-भूमि तथा यूनान के उत्तर और पश्चिम के देशों की अवहेलना से यह प्रमाणित हो जाता है कि अशोक का उद्देश्य सभ्य देशों में ही अपना मानवीय संदेश पहुंचाने का था और इन्हीं सभ्य देशों में ही उसने चिकित्सा आदि सार्वजनिक मंगल के कार्यों की व्यवस्था भी की थी।

सुवर्ण भूमि की अवहेलना अथवा उसका शिलाभिलेखों में उल्लेख न कर अशोक ने यह भी प्रमाणित कर दिया कि वह जो कुछ करता है, उसी का उल्लेख भी करता है। वह व्यर्थ की डींगें नही हाँकता जैसा कि रीज डेविड्स का मत है। यह अवश्य है कि इस प्रदेश में धर्म प्रचारकों का प्रयास उस काल में अधिक सफल न हो सका और इसी कारण हमें महावंश में प्रचारकों के कार्यों

का विस्तृत वर्णन भी प्राप्त नहीं होता, किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि आज हमे भारतीय संस्कृति अथवा बौद्ध धर्म की जो पूर्ण छाप ब्रह्मा आदि पूर्वी देशों में दिखाई पड़ती है उसका बीजारोपण अशोक के समय में ही थेर सोण और उत्तर द्वारा ही किया गया था।

पूर्वी देशों में प्राचीन सभ्यता के केन्द्र चीन का भी उल्लेख अशोक के शिलाभिलेखों में न पाकर और महावंश की भी इस देश के सम्बन्ध में मौनता देखकर आश्चर्य होता है। यह आश्चर्य उस दशा मे और भी महत्वपूर्ण बन जाता है जब हम इस निष्कर्ष की घोषणा कर देते हैं कि अशोक केवल सभ्य जगत मे ही बौद्ध धर्म के प्रचार का इच्छुक था। तो क्या चीन अशोक के समय में सभ्य न था? इतिहास प्रमाण है कि चीन उस समय पूर्ण सभ्य था। तो फिर अशोक ने चीन की अवहेलना क्यों की? इसका उत्तर यही सम्भव है कि भारत उस समय चीन देश से परिचित न था। इस धारणा की पुष्टि भी अनेकों कारणों से हो जाती है।

अशोक के समय मे आधुनिक चीन देश का नाम चीन न था। चीन तो केवल एक छोटे से राज्य का नाम था जो उन अनेकों राज्यों में से एक था जो आधुनिक चीन देश से उत्तर-पश्चिम में याङ्चे-क्वाङ तथा होआंग-हो नदियों के कोंडों में स्थति थे। ये राज्य ८ वी शताब्दी ई० पू० से लेकर तीसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य तक अपना अस्तित्व बनाये रहे। २४६ ई० पू० के लगभग चीन नामक राज्य के शासक ने अन्य राज्यों को विजय कर प्रथम साम्राज्य की स्थापना की। उसने इस सफलता के उपरान्त अपना नाम भी 'शी-हुआंग-ती' (प्रथम सम्राट्) रखा। समय के साथ संसार शी-हुआंग-ती के साम्राज्य को उसके अपने राज्य के नाम पर चीन नाम से पुकारने लगा और इस प्रकार द्वितीय शताब्दी ई० पू० के लगभग ही आधुनिक चीन प्रदेश का नाम चीन पड़ा होगा। अतः स्पष्ट है कि अशोक के समय में आधुनिक चीन देश का या तो कोई एक नाम ही न होगा और यदि होगा भी तो चीन न होकर कोई अन्य नाम रहा होगा और उसी नाम से इस प्रदेश का भारत से परिचय रहा होगा। इस प्रकार अशोक के समय भारतीय परम्पराओं में चीन के प्रति मौनता का कारण सहज ही स्पष्ट हो जाता है।

चीन के प्रति भारतीय मौनता का एक दूसरा कारण भी है। अशोक के समय में चीन देश की सीमायें आधुनिक सीमाओ के समान न थी। उसकी दक्षिणी सीमा नानलिग अर्थात् दक्षिणी पर्वत तक थी। चीन की इस दक्षिणी सीमा के दक्षिण क्वाङ प्रदेश में उस समय जंगली लोग रहते थे। तत्कालीन

चीन की राजधानी भी समुद्रतट पर न होकर उत्तर-पश्चिम में कानसू के निकट 'सिङान-फू' थी। यह अब शेन-सी प्रान्त की मुख्य नगरी है। इस प्रकार तत्कालीन परिस्थियों में न तो स्थल मार्ग ही चीन तथा भारत के मध्य सुगम था और न जल मार्ग ही बाद के सम्बन्धों का बीजारोपण करने के प्रति सरल था। इस कारण भी चीन तथा भारत का परिचय उस काल में न हो सका था।

इतिहास प्रमाण है कि भारत और चीन के सम्बन्धों का सूत्रपात भी इन मार्गों से नहीं हुआ। इस सम्बन्ध का प्रारम्भ शकों और तुखारों के देश से हुआ। ये देश चीन के कानसू प्रदेश तथा काम्बोज के मध्य स्थित थे। भारत से काम्बोज का परिचय अशोक के लेखों से ही प्रमाणित है। काम्बोज, भारतीय प्रचारक तथा व्यापारी निरन्तर जाते ही रहते थे। काम्बोज से आगे शकों तथा तुखारों के देशों में भी भारतीय व्यापारी गये और सम्भवतः यहीं उनका परिचय अशोक के उपरान्त चीनी लोगो से हुआ। इस प्रारम्भिक परिचय के उपरान्त चीनी साम्राज्य की सीमाओं के बढ़ने के साथ जल मार्ग से भी चीन तथा भारत के मध्य आवागमन प्रारम्भ हुआ और दोनों ही देश एक दूसरे से पूर्णतया परिचित हो गये। चीन में बौद्ध धर्म का प्रवेश भी सम्भवतः शकों तथा तुखारों के प्रदेश से ही हुआ।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अशोक के प्रयासों के परिणाम स्वरूप ही, तत्कालीन सम्पूर्ण ज्ञान तथा सभ्य विश्व में बौद्ध धर्म का प्रचार सम्भव हो सका और साथ ही यह प्रचार सभ्यता के उत्कर्ष तथा विश्व के ज्ञान के साथ बढ़ता गया और लगभग सम्पूर्ण विश्व ही बौद्ध धर्म से प्रभावित हुये बिना न रह सका।

सातवाँ प्रकरण

सामाजिक तथा आर्थिक जीवन

समाज की रचना :—

मेगस्थनीज़ के अनुसार भारतीय समाज सात वर्गों मे बंटा हुआ था। वह इन वर्गों को जाति के नाम से सम्बोधन करता है। उसके अनुसार पहली जाति दार्शनिकों की है। यह जाति संख्या में जितनी कम है प्रतिष्ठा में उतनी ही अधिक है। यात्री के अनुसार यह जाति सभी सार्वजनिक कर्त्तव्यों से मुक्त है। ये लोग अपने आध्यात्मिक तथा भौतिक ज्ञान द्वारा समाज को उसके धार्मिक तथा अन्य सार्वजनिक कार्यो में सहायता करते हैं। आगामी वर्ष के प्रति इनकी भविष्यवाणियाँ सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। समाज इस जाति को, इन महत्वपूर्ण सेवाओं के लिये, दान द्वारा सन्तुष्ट रखता है। मेगस्थनीज के इस विवरण से स्पष्ट है कि दार्शनिकों की यह जाति वैदिक कालीन ब्राह्मणों की जाति थी। सम्भवतः तत्कालीन श्रमणों को भी मेगस्थनीज ने इसी दार्शनिक जाति के अन्तर्गत मान लिया था।

मेगस्थनीज के वर्गीकरण में दूसरी जाति कृषकों की थी, जो संख्या में अधिक थे और जिनका मुख्य उद्यम कृषि था। ये लोग कृषि के लिये भूमि का उपयोग करने के कारण राज्य को भूमिकर देते थे। ये लोग ग्रामों में निवास करते थे।

तीसरी जाति चरवाहों की थी। इस जाति के अन्तर्गत अहीर तथा गड़रिये आदि सभी आ जाते हैं। यात्री के अनुसार इस जाति के लोगों का मुख्य उद्यम पशु चराना, आखेट करना तथा हिंसक पशुओं को पकड़ना था। ये लोग नगरों तथा ग्रामों में न रहकर डेरों में रहते थे।

चौथी जाति कारीगरों की थी। यात्री के अनुसार इस जाति के लोग शस्त्र, कवच तथा कृषि के प्रति विविध उपकरणों आदि का निर्माण करते थे।

पाँचवी जाति सैनिकों की जाति थी। इनका पालन राजकीय व्यय द्वारा होता था।

छटी जाति निरीक्षक लोगों की थी। इनका कार्य राज्य मे होने वाली घटनाओं का परिचय प्राप्त करना तथा उनकी सूचना राजा एवम् सम्बन्धित अधिकारियों को देना था।

सातवीं जाति सभासदों की जाति थी। इसी जाति से राज्य के विभिन्न अधिकारियों का चुनाव होता था। यह जाति यात्री के अनुसार संख्या में अत्यधिक कम थी किन्तु प्रशासनीय कार्यो तथा इस क्षेत्र में अपनी कुशाग्र बुद्धि के कारण इसकी प्रतिष्ठा सर्वाधिक थी।

मेगस्थनीज़ का उपर्युक्त वर्गीकरण जैसा उसके कार्यो सम्बन्धी विवरण से स्पष्ट हो जाता है भारतीय समाज का कार्यो सम्बन्धी वर्गीकरण है। इसे वैदिक कालीन जातियों का परिचायक मानना भयंकर भूल होगी। यात्री के विवरण के आधार पर हम यही स्वीकार कर सकते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य तथा शूद्र नामक चारों जातियाँ उपर्युक्त सात वर्गो में विभाजित हो गई थी और इस काल में कार्यो का महत्व बढ़ जाने से जातियाँ जाति के स्थान पर कार्यो से समाज में विख्यात हो गई थीं। यात्री के विवरण के आधार पर सातों वर्गो को वैदिक कालीन चार जातियों में निम्न प्रकार से विभाजित किया जा सकता है।

ब्राह्मण ·····दार्शनिक तथा श्रमण (श्रमण अपने आध्यात्मिक ज्ञान के कारण ब्राह्मण माने जाते थे)

क्षत्रिय ····· सैनिक, सभासद तथा निरीक्षक

वैश्य ···· कारीगर, कृषक तथा निरीक्षक

शूद्र····· कृषक, कारीगर तथा चरवाहे (चरवाहों के अन्तर्गत अहीर तथा गड़रिये आदि आ जाते हैं)।

मेगस्थनीज़, अशोक के दादा चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में यवनाधिपति सेल्यूकस के दूत के रूप में भारत आया था। उसका आँखों देखा विवरण जितना चन्द्रगुप्त के समय के समाज के लिये मान्य है उतना ही अशोक के शासन काल के प्रति भी।

अशोक के समय में उपर्युक्त वर्गों तथा जातियों में कैसे सम्बन्ध थे इसका स्पष्ट वर्णन प्राप्त नही होता। अशोक अपने लेखों में अवश्य अप्रत्यक्ष रूप से इन वैर्गों तथा जातियों के अस्तित्व का उल्लेख करता है और इनके हितों की रक्षा तथा विकास के प्रति राज्याधिकारियों की नियुक्ति की घोषणा भी करता

है। इस आधार पर यह सहज ही स्वीकार किया जा सकता है कि अशोक के समय में ये वर्ग सुख और शान्ति का जीवन व्यतीत करते थे। किन्तु भृत्य तथा दासों के सम्बन्ध में यही निष्कर्ष मान्य नहीं हो सकता। अशोक ने अपने शि० ले० ५, ६, ११ तथा १३ में बार-बार भृत्य तथा दासों का उल्लेख किया है और इनके प्रति लोगों को उचित व्यवहार करने का आदेश दिया है। उसके लिये यह व्यवहार इतना महत्वपूर्ण तथा आवश्यक था कि उसने इस व्यवहार को अपने धर्म का एक प्रमुख लक्षण घोषित कर दिया था। भृत्य तथा दासों के प्रति अशोक की इस व्यग्रता से स्पष्ट हो जाता है कि उसके समय में इनके साथ समाज का व्यवहार उचित न था। अशोक के धर्म-प्रचार तथा उसकी सफलता के साथ, जिसकी वह स्वयं अपने अभिलेखों में घोषणा करता है, अवश्य ही भृत्य तथा दासों की अवस्था में परिवर्तन हुआ होगा और उनका सामाजिक जीवन भी सुखमय बन गया होगा।

पारिवारिक जीवन :--

सामाजिक जीवन पारिवारिक जीवन पर निर्भर है और परिवार पति-पत्नी के सम्बन्धों पर। पति-पत्नी का सम्बन्ध समाज में प्रचलित तथा मान्य विवाह-प्रणाली पर आधारित है। इस सम्बन्ध में अशोक के लेख पूर्णतया मौन हैं। कौटिल्य तथा मेगस्थनीज के विवरण अवश्य इस सम्बन्ध में पर्याप्त तथा महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। इन विवरणों के आधार पर ही अशोक कालीन समाज की दशा की भी कल्पना की जा सकती है।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में ८ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है। १. ब्राह्म २. शौल्क ३. प्रजापत्य ४. दैव ५. गान्धर्व ६. आसुर ७. राक्षस तथा ८. पैशाच।

ब्राह्म तथा शौल्क विवाहों को संस्करात्मक तथा ठहरावात्मक भी कहा गया है। ब्राह्म विवाह वेद मंत्रों द्वारा प्रमाणित तथा वर एवम् कन्या के प्रस्ताव एवम् स्वीकृत तथा अभिभावकों की अनुमति पर आधारित था। शौल्क विवाह का आधार शुल्क अथवा ठहरावा था। धार्मिक दृष्टिकोण से विवाह का मूल्यांकन करने वाले ब्राह्म विवाह में तथा आर्थिक दृष्टिकोण से विवाह को एक ठहराव मानने वाले शौल्क विवाह में विश्वास करते थे। प्रजापत्य इन दोनों ही प्रणालियों का मिश्रण था। इसमें धार्मिक तथा आर्थिक दोनों ही दृष्टिकोण विद्यमान थे। अपने पुरोहित को कन्या देना दैव विवाह कहलाता था। ये चार प्रणालियाँ समाज में अत्यधिक प्रचलित थीं और इन प्रणालियों पर आधारित विवाह धर्म

की कोटि में माने जाते थे। इनके अतिरिक्त अन्य चार प्रणालियाँ निम्न कोटि की मानी जाती थीं। गान्धर्व विवाह अविभावकों की स्वीकृत तथा संस्कारों के बिना युवक-युवती के प्रेम पर आधारित सम्बन्धों का नाम था। स्त्री को बिना उसकी इच्छा क्रय कर सम्बन्ध स्थापित करना आसुर विवाह था। युद्ध में पराजित व्यक्तियों की स्त्रियों को छीनकर उनके साथ सम्बन्ध स्थापित करना राक्षस विवाह था। पैशाच विवाह मूर्छित तथा उन्मत्त स्त्री का हरण कर सम्बन्ध स्थापित करने का नाम था। अन्तिम चारों प्रणालियाँ निम्न कोटि की मानी जाती थीं और समाज में इनका अधिक मान न था।

विवाह की अन्तिम चारों प्रणालियों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि इनमें कन्याओं तथा स्त्रियों के स्वार्थों का पुरुषों के स्वार्थो पर बलिदान किया जाता है। अतः कौटिल्य ने स्त्रियों के स्वार्थो की रक्षा की भी व्यवस्था की। अर्थशास्त्र के अनुसार गान्धर्व तथा आसुर विवाहों मे पति को स्त्री के धन का उपभोग करने का अधिकार न था। इस धन का उपभोग करने पर उसे ब्याज सहित धन लौटाना होता था। ऐसा न करने पर स्त्री को पुरुष पर चोरी का अभियोग चलाने का अधिकार था। दहेज के सम्बन्ध में भी अर्थशास्त्र कुछ विशेष नियमों का उल्लेख करता है। दहेज में प्राप्त धन पर वर के माता-पिता का अधिकार होता था। दोनों के अभाव में दहेज बधू की सम्पत्ति मानी जाती थी।

मौर्य काल में जैसा कि उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है विवाह एक ठहराव भी माना जाता था। ठहराव होने के नाते यह सम्बन्ध टूट भी सकता था। इस सम्बन्ध में भी अर्थशास्त्र अनेकों नियमों का उल्लेख करता है।

१. यदि पति-पत्नी एक दूसरे से घृणा करते है तो वे अपना सम्बन्ध विच्छेद कर सकते हैं।

२. यदि पति, पत्नी से तंग आकर उससे मोक्ष प्राप्त करना चाहे तो उसे विवाह में प्राप्त दहेज स्त्री को लौटाना होगा, किन्तु यदि स्त्री पति को छोड़ना चाहे तो वह दहेज की अधिकारिणी नहीं होगी।

३. बुरे आचरण वाले, विद्रोही, घातक तथा नपुंसक पति का पत्नी त्याग कर सकती है।

४. प्रवासी पति से निम्न दशाओं में पत्नी मोक्ष प्राप्त की अधिकारिणी है :—

(क) प्रवासी ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य तथा शूद्र पतियों की निसन्तान भार्यायें एक वर्ष तथा सन्तान वाली दो वर्ष की प्रतीक्षा के उपरान्त पतियों से

मोक्ष प्राप्त कर सकती हैं। यदि प्रवास काल में पतियों ने पत्नियों के प्रति गुजारे का प्रबन्ध कर दिया है तो वे निश्चित समय के दुगने काल के उपरान्त मोक्ष प्राप्त कर सकती हैं।

(ख) विद्याध्ययन के प्रति प्रवासी ब्राह्मण की निःसन्तान पत्नी दस वर्ष तथा सन्तान युक्त बारह वर्ष की प्रतीक्षा के उपरान्त पति से मोक्ष प्राप्त कर सकती है। प्रवासी राजपुरुष की पत्नी को जीवन पर्यन्त पति की प्रतीक्षा करनी होगी। किन्तु यदि इस काल मे वह अपने सवर्ण से सम्बन्ध स्थापित कर सन्तान उत्पन्न कर ले तो वह निन्दा की पात्र न होगी। यदि प्रवासी राजपुरुष की पत्नी के गुजारे का प्रबन्ध नहीं है और सुखावस्थित कुटुम्ब वालों ने उसे त्याग दिया है उस दशा मे वह पति से अवश्य मोक्ष प्राप्त कर सकती है।

(ग) ब्राह्म, प्रजापत्य तथा दैव प्रणालीनुसार विवाहित स्त्रियाँ प्रषित पति का यदि उसका समाचार मिलता है तो दस तीर्थों तक (मासिक धर्म) और यदि समाचार नही मिलता है तो पाँच तीर्थो तक प्रतीक्षा करें। तत्पश्चात् धर्मस्थों की आज्ञा द्वारा वे यथेष्ट पुरुष की प्राप्ति कर सकती थीं। किन्तु यदि पतियों ने पत्नियों के गुजारे की व्यवस्था कर दी है उस दशा मे भी कौटिल्य ने निम्न दशाओं मे स्त्रियों को धर्मस्थों की आज्ञा से यथेष्ट पुरुष की प्राप्ति का अधिकार दिया है :—

यदि पति ने शुल्क का एक अंश ही गुजारे के प्रति दिया है और उसका समाचार नही मिलता उस दशा मे पत्नी को तीन तीर्थों तक और यदि समाचार मिलता है तो सात तीर्थो तक प्रतीक्षा करनी होगी। गुजारे के प्रति पूरा शुल्क देने वाले पति की यदि सूचना मिलती है तो दस तथा नही मिलती है तो पाँच तीर्थों तक पत्नी की प्रतीक्षा करनी होगी।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट हो जाता है कि कौटिल्य के नियामानुसार मोर्यकालीन समाज पतियों की अनुपस्थिति में कुछ निश्चित दशाओं में पत्नियों द्वारा अन्य सवर्ण पुरुषों से सन्तानोत्पत्ति को बुरा न मानता था। किन्तु यह पुत्र किसका होगा ? इस सम्बन्ध में दो मत थे। प्रथम मत के अनुसार स्त्री एक खेत है उसकी उपज पर अधिकार खेत के स्वामी का होगा बीज चाहे किसी ने ही क्यों न डाला हो। दूसरे मत के अनुसार स्त्री एक धौंकनी के समान है अतः जिसका वीर्य होगा उसी की सन्तान होगी। चाणक्य दोनों ही मतों को उचित मानता है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि मौर्य कालीन समाज भी दोनों ही मतों को मानता था। चाणक्य के अनुसार नियोगत सन्तान दोनों की उत्तराधिकारिणी होती थी।

अर्थशास्त्र में पुर्नविवाह के सम्बन्ध में भी अनेकों नियम दिये हैं। इन नियमों के अनुसार :—

(१) स्त्री की मृत्यु के उपरान्त पुरुष पुर्नविवाह कर सकता था।

(२) यदि स्त्री आठ वर्ष तक सन्तान को जन्म न दे, उसके पुत्र न हो, बन्ध्या हो तो पति दूसरा विवाह कर सकता था।

(३) यदि स्त्री मृत बच्चा जन्मे तो दस साल की प्रतीक्षा के उपरान्त; यदि स्त्री केवल लड़कियाँ ही उत्पन्न करे तो बारह वर्ष की प्रतीक्षा के उपरान्त पुत्र की प्राप्ति के लिये दूसरा विवाह कर सकता था।

(४) पति की मृत्यु के उपरान्त अपने श्वसुर तथा पतिपक्ष के सम्बन्धियों की सम्पत्ति का अधिकार त्याग कर स्त्री दूसरा विवाह कर सकती थी। किन्तु यदि वह पुर्नविवाह श्वसुर की अनुमति से करे उस दशा मे स्त्री को सम्पत्ति का अधिकार त्यागना नही होता था।

(५) पति के जीवित रहते भी स्त्री उपर्युक्त वर्णित दशाओं मे पति से मोक्ष प्राप्त कर पुर्नविवाह कर सकती थी।

कौटिल्य ने पति-पत्नी के सम्बन्ध-विच्छेद को मोक्ष कहा है। मोक्ष 'तलाक' का परिचायक है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि मौर्य कालीन समाज में विवाह एक अटूट धार्मिक क्रिया न होकर एक साधारण सी क्रिया थी। स्त्री, समाज रूपी जीवन के रथ का पुरुष के समान दूसरा तथा महत्वपूर्ण पहिया न होकर केवल सन्तान उत्पन्न करने वाली वस्तु बन गई थी। उसका उत्तरदायित्व परिवार की आन्तरिक समस्याओं को सुलझाने वाली गृहणी के स्थान पर पतियों की काम-वासना की पूर्ति ही रह गया था। मेगस्थनीज का विवरण इस सत्य की पुष्टि कर देता है। वह कहता है "कुछ को तो वे दत्तचित्त सहधर्मिणी बनाने के लिये विवाह कर लाते थे और कुछ को केवल आनन्द के हेतु तथा घर को लड़कों से भर देने के प्रति"। चाणक्य का भी कथन इसी सत्य की पुष्टि करता है "पुरुष कितनी ही स्त्रियों से विवाह कर सकता है, स्त्रियाँ सन्तान उत्पन्न करने के लिये ही हैं"।

स्त्रियाँ मौर्य काल में सन्तान उत्पन्न करने वाली होने के अतिरिक्त केवल भोग की सामग्री भी थीं, इस सत्य की पुष्टि मौर्य शासकों के अन्तःपुर में अनेकों रानियों की उपस्थिति से भी हो जाती है। स्वयं चन्द्रगुप्त मौर्य की अनेकों पत्नियाँ थी। अशोक के पिता बिन्दुसार की १६ रानियों का परिचय भी महा-वंश तथा दीपवंश आदि ग्रन्थों से प्राप्त हो जाता है। ये समस्त रानियाँ सन्तान की प्राप्ति के प्रति ही राजमहल में लाई गई थी कहना सत्य का गला घोटना

होगा। इनमें से अनेकों रानियाँ ऐसी थीं जिन्हें केवल उनकी सुन्दरता के प्रति ही राजमहल में रानियों का स्थान प्रदान किया गया था। अशोकावदानमाला के अनुसार अशोक की माँ शुभद्रांगी भी अपनी सुंदरता के कारण ही बिन्दुसार के महलों में रानी का पद प्राप्त कर सकी थी। अशोकावदान माला के अनुसार उसे रानी बनने का सौभाग्य तभी प्राप्त हो सका था जब उसके ब्राह्मण-पुत्री होने का रहस्य खुल गया था। इससे पूर्व वह नाइन के रूप में ही उस पर मुग्ध था और उससे विवाह करने को तत्पर था। उसके मार्ग मे शुभद्रांगी का नाइन होना हो बाधा थी। यह बाधा दूर होते ही दोनों का सम्बन्ध विवाह की ओट से दृढ़ हो गया। इस गाथा से स्पष्ट हो जाता है कि विवाह केवल बिन्दुसार के प्रति उसकी काम-वासनाओं की प्रत्यक्ष रूप से तृप्ति का साधन था। बिन्दुसार शुभ-द्रांगी को केवल भोग की वस्तु ही मानता था इस सत्य की पुष्टि इस बात से भी हो जाती है कि वह अपनी वास्तविक रानियों के पुत्रों के समान उसके पुत्र अशोक को न चाहता था यद्यपि अशोक उसके समस्त पुत्रों में सर्वाधिक योग्य था। वह दिव्यावदान के अनुसार सुमन को सिंहासन का उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। सुमन उसकी ज्येष्ठ रानी का पुत्र था। अतः स्पष्ट है कि मौर्यकालीन समाज में स्त्रियाँ भोग की साधन भी मानी जाती थी और इस सम्बन्ध में जाति का ध्यान न रखा जाता था। जाति का प्रश्न केवल विवाह के अवसर पर ही उठता था और उसमें भी ब्राह्मण, क्षत्री तथा वैश्य जातियों में पारस्परिक विवाह सम्बन्ध स्थापित हो सकते थे। ब्राह्मणी शुभद्रांगी इसका प्रमाण है। अशोक के पुत्र महेन्द्र की माँ असन्धमित्रा भी विदिशा के एक धनवान् वैश्य की पुत्री थी।

स्वयं अशोक की भी अनेकों रानियाँ थीं। जहाँ गाथायें इनके अस्तित्व पर प्रकाश डालती हैं वहाँ अशोक स्वयं अपने लेखों मे अपने अनेकों अन्तःपुरो का उल्लेख कर इस सत्य की पुष्टि कर देता है। निश्चय ही ये समस्त रानियाँ सन्तान के अभाव की पूर्ति के लिये न थीं, वरन् काम-वासना की तृप्ति भी इनके अस्तित्व का कारण था। विषकन्याओं का अस्तित्व भी स्त्रियों को भोग की वस्तु ही प्रमाणित करता है। विषकन्याओं का प्रयोग राजनीतिक स्तर पर विरोधियों का नाश करने के लिये किया जाता था। इस कार्य के लिये अनुपम सुन्दरी स्त्रियाँ चुनी जाती थीं और उनका पालन विष पर इस प्रकार किया जाता था कि अपने सौंदर्य से आकर्षित युवक का भोग के साथ ही वे प्राणान्त कर देती थीं। यदि मानव स्वभाव स्त्रियों को भोग की वस्तु न मानता तो कदा-चित् विष कन्याओं के प्रयोग की आवश्यकता ही न होती। अतः स्पष्ट है कि मौर्य कालीन समाज में स्त्रियों का वैदिक कालीन स्थान न था। उनकी स्वतंत्रता

का हरण मनुष्य अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिये कर चुका था । उसने उनके भवन से बाहर निकलने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया था। चाणक्य के इस सम्बन्ध में नियम इस सत्य की पुष्टि कर देते हैं। वह लिखता है 'आपदा की स्थिति के अतिरिक्त यदि स्त्री अन्य कारणों से पति के घर से बाहर चली जाय तो उस पर छः पण दण्ड किया जाय। यदि वह पति की आज्ञा बिना घर से बाहर जाय तो उस पर १२ पण दण्ड किया जाय और यदि स्त्री पड़ोसी के घर से परे चली जाय तो उस पर छः पण दण्ड किया जाय" ।

स्त्रियों की स्वतन्त्रता के हरण के परिणाम स्वरूप उनकी शिक्षा की ओर से भी समाज की उदासीनता प्रारम्भ हो गई थी। इस अवहेलना ने उनके दृष्टि-कोण को संकुचित बना दिया। उनका कार्य क्षेत्र भी घर की दीवालों में सीमित रह गया। सीमित क्षेत्र और संकुचित दृष्टिकोण ने उन्हें निरर्थक धार्मिक क्रियायों का दास बना दिया। वे इन निरर्थक क्रियायों को मंगलाचार मानने लगीं। अशोक को स्त्री समाज की यह दशा रुचिकर न थी। वह उन्हें पुनः प्रगतिशील बनाने का समर्थक था और इसी कारण वह उनके संकुचित दृष्टिकोण की प्रत्यक्ष रूप से शि० ले० ९ में आलोचना करता है। वह कहता है "लोग विपत्ति काल में, पुत्र के विवाह में, कन्या के विवाह में, सन्तान की उत्पत्ति में, परदेश जाने के समय और इसी तरह के दूसरे अवसरों पर अनेक प्रकार के बहुत से मंगलाचार करते हैं। ऐसे अवसरों पर स्त्रियाँ अनेक प्रकार के क्षुद्र और निरर्थक मंगला-चार करती हैं"। अशोक की धारणा थी कि नैतिक स्तर-विहीन धार्मिक क्रियायें निरर्थक होती हैं। उनका परिणाम भी शुभ नहीं होता। जीवन में वास्तविक महत्व नैतिकता का है, उन गुणों का है जिनके आधार पर एक सुखी तथा समृद्ध-शाली कुटुम्ब का निर्माण होता है। अतः वह स्त्री समाज को अपना नैतिक स्तर ऊँचा उठाने का आदेश देता है। इस कार्य के प्रति वह स्त्रियध्यक्षमहामात्रों की नियुक्ति भी करता है। अशोक के इस प्रयास का क्या परिणाम हुआ, ठोस प्रमाणों के अभाव में कहना कठिन है, किन्तु यह तो मानना ही पड़ता है कि इस काल में वैदिक कालीन घोषा, लोपामुद्रा तथा विश्वारा आदि के समान स्त्रियों के निर्माण की क्षमता न थी।

धार्मिक जीवन :—

पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में अशोक कालीन धार्मिक स्थिति का परि-चय प्राप्त करना कठिन है। यह अवश्य है कि अशोक के लेख उसकी धार्मिक नीति पर स्पष्ट प्रकाश डालते हैं किन्तु उनसे उसके समय के विभिन्न धर्मों की

रूप रेखा का ज्ञान प्राप्त नहीं होता। अशोक ने अपने शि० ले० ३, ४, ८, ९ तथा ११ मे ब्राह्मण एवम् श्रमणों का उल्लेख किया है। वह ब्राह्मण तथा श्रमणों के प्रति आदर की भावना तथा उन्हें दान देने को अपने धर्म का एक प्रमुख लक्षण भी मानता है(शि० ले० ३ तथा ११)। यही नहीं, धर्म-यात्रा तथा मंगलाचार के वास्तविक रूप पर प्रकाश डालते समय भी अशोक ब्राह्मण तथा श्रमण के दर्शन तथा उन्हें दान देने की क्रिया को महत्व देता है(शि० ले० ८ तथा ९)। अशोक की ये भावनायें जहाँ प्रत्यक्ष रूप से ब्राह्मण तथा श्रमणों के प्रति अशोक की नीति का स्पष्टीकरण कर देती हैं वहीं अप्रत्यक्ष रूप से इनके दृढ़ अस्तित्व की सूचना भी दे देती हैं। किन्तु ब्राह्मण तथा श्रमण कौन थे, इस सम्बन्ध मे अशोक के लेख मौन हैं। पाली साहित्य में भी ब्राह्मणों तथा श्रमणों का उल्लेख किया गया है। इन ब्राह्मण तथा श्रमणों के पृथक पृथक उल्लेखों के आधार पर यह निश्चित हो जाता है कि ये दोनों दो पृथक सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ब्राह्मण शब्द वैदिक कालीन ब्राह्मण जाति का द्योतक है। किन्तु अशोक के लेखों में यह शब्द एक जाति विशेष का द्योतक प्रतीत नहीं होता। सम्भवतः इस काल में ब्राह्मण शब्द उन सन्यासियों तथा परिव्राजकों के प्रति प्रयोग किया जाता था जो वैदिक धर्म से सम्बन्धित थे। श्रमण शब्द ब्राह्मण के साथ ही प्रयुक्त किये जाने के कारण उन सन्यासियों तथा परिव्राजकों के प्रति प्रयोग किया जाता था जो बौद्ध धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मो से सम्बन्धित थे। इन दोनों के मान के प्रति अशोक की व्यग्रता इनके उच्च आध्यात्मिक तथा नैतिक स्तर को स्पष्ट कर देती है। वैदिक कालीन परम्पराओं के आधार पर यह भी निश्चयात्मक रूप से माना जा सकता है कि ब्राह्मणों तथा श्रमणों के दो प्रमुख कार्य थे। प्रथम तो देश में घूमते हुये गृहस्थों को आध्यात्मिक तथा नैतिक उपदेश देना और दूसरे नगरों से बाहर एकान्त में विद्यालयों की स्थापना कर शिक्षा कार्य करना। अपने दूसरे कार्य के प्रति इन्हें धन की अत्यधिक आवश्यकता रहती होगी। प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार विद्यार्थी शिक्षा निःशुल्क गुरुओं के आश्रम में प्राप्त करते थे। उनके भोजन तथा वस्त्रों आदि का प्रबन्ध भी गुरुओं का हो उत्तरदायित्व होता था। सम्भवतः इसी कारण अशोक ने उन्हें दान देने का नियम अपने धर्म का प्रमुख लक्षण माना। इस सम्भावित निष्कर्ष से यह भी प्रमाणित हो जाता है कि अशोक के समय में आज के समान सन्यासी समाज पर भार न थे, वरन् वे समाज के सुख तथा समृद्धि के महान् आधार थे।

अशोक द्वारा वर्णित श्रमणों को विभिन्न सम्प्रदायों के सन्यासियों का परिचायक मान लेने से, अशोक के समय में विभिन्न सम्प्रदायों के अस्तित्व के

सम्बन्ध में स्वयं अशोक के लेख महत्वपूर्ण प्रमाण हैं। वह कहता है "मेरे धर्म महामात्र भी उन बहुत तरह के उपकार के कार्यों में नियुक्त हैं जिनका सम्बन्ध सन्यासी और गृहस्थ दोनों से है। वे सब पाषण्डों (सम्प्रदायों) में भी नियुक्त हैं। मैंने उन्हें संघों मे, ब्राह्मणों में, आजीवकों में, निर्ग्रन्थों में तथा विविध प्रकार के पाषण्डों (सम्प्रदायों) मे नियुक्त किया है" (स्त० ले० ७)। अशोक का यह कथन समाज में विभिन्न सम्प्रदायों के अस्तित्व को प्रमाणित कर देता है। अशोक इन सम्प्रदायों में बौद्ध (संघ), ब्राह्मण, आजीविक तथा निर्ग्रन्थों को प्रमुख मानता है। बौद्ध, महात्मा बुद्ध के अनुयायी थे तथा ब्राह्मण, वैदिक धर्म के अनुयायियो को कहते थे। आजीविक धर्म का प्रवर्तक गोसाल था। इस धर्म के अनुयायी नग्न रहते तथा नियति के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। वे मनुष्य को उसके जीवन की किसी भी घटना के प्रति उत्तरदायी नहीं मानते थे। उनका विश्वास था कि प्रत्येक घटना नियति के नियमानुसार होती है। मनुष्य तो केवल नियति का दास होने के नाते एक बहाना मात्र बन जाता है। ये लोग इन्द्रिय निग्रह को भी विशेष महत्व नही देते थे। निर्ग्रन्थ, महावीर स्वामी के अनुयायियों का परिचायक है। निर्ग्रन्थ का अर्थ है—माया-मोह के सांसारिक बन्धनों अथवा ग्रंथियों को तोड़ने वाला। महावीर स्वामी ने इन ग्रन्थियों को तोड़ दिया था अतः उन्हें निर्ग्रन्थ भी कहते हैं। इन्द्रियों को पूर्णतया अपने आधीन कर लेने के कारण उन्हें जिन भी कहा गया है। आधुनिक जैन शब्द 'जिन' से ही बना है। अशोक के समय में सम्भवतः महावीर स्वामी के अनुयायियों के प्रति निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग किया जाता था। निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय तपस्या के रूप में उपवास को इन्द्रिय-संयम के प्रति अनिवार्य मानता है।

उपर्युक्त प्रमुख सम्प्रदायों के अतिरिक्त समाज में अन्य भी अनेकों सम्प्रदाय थे। इन सम्प्रदायों के प्रति अशोक ने 'पाषण्डों' शब्द का प्रयोग किया है। 'पाषण्ड' शब्द का प्रयोग उपर्युक्त प्रमुख धर्मों के प्रति भी अशोक ने किया है। शि० ले० ५, ७, १२ तथा स्त० ले० ७ इस सत्य के प्रमाण हैं। अशोक की इन समस्त सम्प्रदायों (पाषण्डों) के प्रति नीति उसके उदार दृष्टिकोण की परिचायक है। समस्त सम्प्रदायों के प्रति उचित मान उसके धर्म का प्रमुख लक्षण है। वह सभी सम्प्रदायों के सार की वृद्धि को अपने जीवन का उद्देश्य मानता है और इसी कारण वह लोगों को अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा तथा दूसरे सम्प्रदायों की निन्दा न करने का आदेश देता है (शि० ले० १२)। अशोक की इन भावनाओं से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि उसने सम्प्रदायों के प्रति पाषण्डों शब्द का प्रयोग आदर सूचक अर्थों में किया है। 'पाषण्ड' शब्द के अर्थ में निहित

अशोक की भावना का प्रश्न मनु द्वारा इस शब्द के प्रयोग के कारण उठ खड़ा होता है। मनु ने पाषण्ड शब्द का प्रयोग पाखण्डी के अर्थों में किया है। मनु का कथन है "कितवान कुशीलवान क्रूरानन् पाषण्डस्थांश्च मानवान्। विकर्मस्थान शौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत् पुरात्" ।। अर्थात् जुआरी, नट, क्रूर, पाषण्ड (पाखण्डी), दूसरी जाति का कर्म करने वाले मनुष्य और शराब बनाने वाले को राजा शीघ्र अपने नगर से निर्वासित कर दे। मनुस्मृति की टीका में कुल्लूक भट्ट ने भी पाषण्ड शब्द का अर्थ वेद तथा स्मृति के विरुद्ध आचरण करने वाला किया है। कुल्लूक भट्ट की व्याख्या मनु के दृष्टिकोण को भी स्पष्ट कर देती है। वैदिक धर्म के अनुयायी मनु के प्रति, धर्म के अध्ययन का अधिकार सवर्ण जातियों और विशेषकर ब्राह्मणों को ही है। किन्तु अन्य सभी सम्प्रदाय न तो ब्राह्मणों की जातिगत श्रेष्ठता को ही स्वीकार करते हैं और न धर्म को सवर्ण जाति के अधिकार की वस्तु ही मानते हैं। उनके प्रति तो सभी प्राणी धर्म के क्षेत्र में उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने ब्राह्मण। मनु वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था में पूर्ण विश्वास करता था जबकि अन्य सम्प्रदाय इस व्यवस्था का घोर विरोध। अतः स्पष्ट है कि मनु से वैदिक धर्म के प्रति दृढ़ निष्ठा रखने वाले व्यक्ति के लिये अन्य धर्म अवश्य ही पाखण्ड का स्वरूप थे और इसी कारण उसने ब्राह्मण धर्म के अतिरिक्त अन्य सभी सम्प्रदायों के अनुयायियों को पाखण्डी कहा है। मनु द्वारा पाषण्ड शब्द का पाखण्डी के अर्थों में प्रयोग से यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि अशोक के उपरान्त ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के साथ पाषण्ड शब्द नीच, दुष्कर्मकारी दम्भी आदि अर्थों में प्रयुक्त होने लगा था किन्तु अशोक के समय में इस शब्द का प्रयोग सम्प्रदायों के प्रति आदर की भावना का प्रतीक था।

अशोक कालीन समाज में धर्म के नाम पर पशु-बलि देने की भी परम्परा थी। ब्राह्मण धर्मानुयायी पशु-बलि को अपने धर्म का प्रमुख लक्षण मानते थे। मेगस्थनीज़ के अनुसार वे पशु को छुरी से काटकर मारने के स्थान पर गला घोंट कर मारते थे जिससे कि उनके देवता को खण्डित वस्तु पूजा में न प्राप्त हो। बौद्ध तथा जैन धर्मों के उत्कर्ष के साथ इस पशु-बलि को लेकर संघर्ष होने प्रारम्भ हो गये। अशोक को भी धर्म के नाम पर यह हिंसा रुचिकर न थी। अतः उसने इस हिंसा का निषेध किया। उसके लेख इस सत्य के प्रमाण हैं। सम्भवतः अपने इस प्रयास में उसे अधिक सफलता प्राप्त न हुई और इसी कारण उसे शि० ले० १, ३ तथा ४ के आदेशों के अतिरिक्त स्त० ले० ५ में पशु-पक्षियों की हिंसा और बध के सम्बन्ध में विशेष नियम बनाने पड़े और इन नियमों का पालन उसे अनिवार्य करना पड़ा। इसी पशु-बलि का आधार मानव की हिंसा-

त्मक वृत्तियों का नाश करने के प्रति ही उसे हिंसात्मक समाजों के निषेध की भी आज्ञा प्रेषित करनी पड़ी (शि० ले० १)।

अशोक के लेखों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उसके समय में सामान्य जनता धार्मिक परम्पराओं तथा रूढ़ियों की दास थी। उनके प्रति धर्म का आधार अन्ध-विश्वास था न कि विवेक और नैतिकता। समाज में विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा की जाती थी। चाणक्य के अनुसार "नगर के मध्य मे अपराजित, अप्रहित, जयन्त, वैजयन्त के कोष्ठ ओर शिव, वैश्रवण, अश्वि और श्रीमदिए के घर बनाये जावें। इन कोष्ठों और गृहो में यथास्थान देवताओं की स्थापना की जावे। भिन्न-भिन्न दिशाओं मे यथास्थान दिशा के देवताओ की स्थापना की जाय"। नगर के द्वारों के नाम भी ब्रह्मा, इन्द्र, यम आदि देवताओं के नाम पर रखे जाने के भी प्रमाण हैं। इस प्रकार देवी, देवताओं की पूजा की परम्परा की पुष्टि हो जाती है। मेगस्थनीज शूरसेन देश में कृष्ण की पूजा किये जाने का उल्लेख करता है। चित्तौड़ के समीप माध्यमिका नगरी के भग्नावशेषों के निकट घोसुण्डी नामक ग्राम से प्राप्त एक मौर्यकालीन शिला लेख संकर्षण और वासुदेव की पूजा के प्रति दान का उल्लेख करता है। इस उल्लेख तथा मेगस्थनीज़ के विवरण के आधार पर यह मानना पड़ता है कि आगामी भागवत धर्म का बीजारोपण ही नही वरन् उसका प्रचार भी मौर्यकाल मे प्रारम्भ हो चुका था। अशोक के समय तक मूर्ति पूजा की यह दृढ़ परम्परा बौद्ध धर्मानुयायियों को भी प्रभावित कर चुकी थी। वे समाज की भावनाओं के अनुकूल बुद्ध की मूर्तियाँ बनाने के प्रति व्यय हो रहे थे। अशोक के समय में यह व्यग्रता बौद्ध धर्मानुयायियों में संघर्ष का कारण बन गई थी। बुद्ध की मूर्ति पूजा करने के विरोधी, महात्मा बुद्ध के इस आदेश–कि उनकी मूर्ति-पूजा न की जाय–के अनुसार उनके उपदेशों का पालन ही करना चाहते थे, किन्तु मूर्ति-पूजा के समर्थक, सामान्य जनता की भावनाओं के अनुसार बुद्ध की मूर्तियो का निर्माण कर, जनता के अधिक निकट आने के इच्छुक थे। सामान्य जनता भी इस मत की समर्थक थी। परिणामस्वरूप सामान्य जनता की भावनाओं ने सिद्धान्तों पर विजय पाई और अशोक कालीन समाज ने चिन्हों के रूप में बुद्ध की पूजा प्रारम्भ कर दी। अशोक की शिलाओ तथा स्तम्भों पर निर्मित हाथी, घोड़ा, बैल तथा सिंह आदि की मूर्तियाँ इस सत्य का प्रमाण हैं। हाथी, माया के उस स्वप्न से सम्बन्धित है जो उसने पुत्र गर्भ में आने से पहले देखा था। स्वप्न मे बोधिसत्व ने श्वेत हाथी के रूप मे उसके गर्भ मे प्रवेश किया था। अशोक ने भी स्वेत हस्ति का ही उल्लेख कालसी, धौली (६ वां शि० ले०) तथा गिरनार (१३ वां शि० ले०) शिला-

भिलेखों मे किया है । घोड़ा उस घटना का प्रतीक है जब महात्मा बुद्ध ने रात्रि में घोड़े पर बैठकर बन के लिये राजभवन का त्याग किया था । बैल महात्मा बुद्ध की वृष राशि का प्रतीक है । सिंह, महात्मा बुद्ध को शाक्य-सिंह के रूप में प्रस्तुत करता है । सारनाथ स्तम्भ पर बैठे हुये चार दहाड़ते सिह महात्मा बुद्ध के चारों दिशाओं में उपदेश देने के सत्य को प्रमाणित करते हैं । इन पशुओं के साथ चक्र का चिन्हाकन महात्मा बुद्ध के उस प्रथम उपदेश का प्रतीक है जो उन्होंने सारनाथ मे दिया था और जो बौद्ध साहित्य मे धर्म-चक्र-परिवर्तन सूत्र के नाम से विख्यात है ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि अशोक ने जहाँ मूर्ति पूजा के सम्बन्ध में सामान्य लोंगों की भावनाओं के आगे आंशिक रूप से मस्तक नवा दिया, वहाँ उसने अन्य परम्पराओं तथा रूढ़ियों का घोर विरोध किया । उसने धर्म को पूजा पाठ की आडम्बरमय निरर्थक क्रियाओं के स्थान पर चरित्र पर आधारित किया । उसने धर्म की ओट से परिवार, सम्बन्धियों तथा मानव जाति में उचित सम्बन्धों की स्थापना का प्रयास किया । उसके मानवीय दृष्टिकोण पर आधारित प्रयासों के परिणाम स्वरूप, धर्म के साथ ही भारतीय समाज भी एक महान् नैतिक शक्ति के रूप में परिवर्तित हो गया । परम्पराओं तथा रूढ़ियों को समाज से नष्ट करने में अशोक को कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई कहना कठिन है किन्तु नैतिकता तथा विवेक के विकास के साथ इनका पतन अवश्य ही हुआ होगा । यह स्वीकार कर लेने में सकोच नही होता ।

भोजन :—

इस क्षेत्र मे अशोक के लेखों की सामान्यतः मौनता हमारे ज्ञान को अशोक कालीन समाज के प्रति सीमित कर देती है । मेगस्थनीज़ तथा कौटिल्य, (जो अशोक के दादा चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन थे,) के विवरणों के आधार पर अवश्य हम अशोक कालीन समाज की सम्भावित कल्पना कर सकते हैं ।

मेगस्थनीज़ के अनुसार भारतीय सदैव अकेले भोजन करते हैं और उनके भोजन का समय भी निश्चित नहीं रहता । उनका भोजन तिपाई के समान एक मेज पर परोसा जाता है । सर्व प्रथम सोने के प्याले में चावल परोसे जाते हैं तत्पश्चात् पकवान आदि परोसे जाते हैं । यात्री का यह विवरण निश्चय ही धनवान परिवार से सम्बन्धित प्रतीत होता है किन्तु सामान्य लोगों का भोजन भी अच्छा ही रहा होगा, समय की समृद्धिशीलता को ध्यान में रखते हुये निश्चित सा प्रतीत होता है । भोजन में माँस का प्रयोग होता था, स्वयं अशोक के लेख इस सत्य के प्रमाण हैं । पशु-पक्षी, मछली आदि का मांस के प्रति अधिक प्रयोग

किया जाता था। अशोक ने मांस का प्रयोग रोकने के लिए अनेकों आज्ञायें प्रेषित की थीं किन्तु उसे अपने प्रयास में आंशिक सफलता ही प्राप्त हुई थी। अर्थशास्त्र निम्न प्रमुख भोज्य पदार्थों के बनाने वालों का उल्लेख करता है :—

१. पक्वान पण्या : — पकवान बेचने वाले
२. मांस पण्या : — मांस बेचने वाले
३. पक्वमांसिका : — पका हुआ मांस बेचने वाले
४. औदनिका : — पका हुआ चावल-दाल बेचने वाले।
५. आपूयिका : — रोटी बनाकर बेचने वाले
६. शौण्डिका : — शराब बेचने वाले

अर्थशास्त्र की इस सूची से स्पष्ट हो जाता है कि नगरों में भोजन संबंधी दुकाने भी थीं जो सम्भवतः विदेशियों तथा व्यापारादिक कार्यों से आने वाले व्यक्तियों की भोजन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करती थीं।

पेय पदार्थों में दूधादिक के अतिरिक्त मदिरा का प्रयोग भी प्रचलित था। मदिरा बेचने वालों की दूकानें होती थीं जिनमें मदिरा पीने के लिए अनेकों कमरे होते थे। प्रत्येक कमरे में विस्तर बिछा रहता था और उन्हें फूल मालाओं आदि सुगन्धित वस्तुओं से सुसज्जित किया जाता था। इन स्थानों पर मदिरा के अतिरिक्त रूपवती दासियाँ तथा वैश्यायें भी रहती थीं। सार्वजनिक स्थानों पर चाणक्य के अनुसार मदिरा पान का निषेध था। लोग केवल दुकानों पर ही मदिरा पान कर सकते थे। केवल प्रतिष्ठित व्यक्ति ही अपने घरों पर मदिरा पान एक सीमित मात्रा में कर सकते थे। सम्भवतः इस राजकीय नियन्त्रण के परिणाम स्वरूप ही मदिरा का समाज में प्रयोग मर्यादित था और इसलिये मेगस्थनीज़ भी समाज में मदिरा के व्यवहार का ज्ञान प्राप्त न कर सका। मेगस्थनीज़ के अनुसार "भारतीय मदिरा का सेवन नही करते। वे केवल यज्ञों के अवसर पर ही मदिरा का प्रयोग करते हैं"। इस विवरण के आधार पर यह मानना पड़ता है कि मदिरा की दुकानें मुख्य बाजारों में न होकर ऐसे स्थानों पर होती होगी जहाँ सामान्यतः लोगों का आना-जाना कम रहता होगा। इन स्थानों पर केवल मदिरा के प्रेमी ही आते-जाते होंगे। यदि ये दुकानें सार्वजनिक स्थानों पर होतीं तो यात्री की दृष्टि इनपर अवश्य पड़ती और उसका कथन दूसरा ही होता। यज्ञों के अवसर पर मदिरा के सेवन से यह सिद्ध हो जाता है कि यज्ञों के अवसर पर मदिरा का प्रयोग धार्मिक क्रिया का एक अंग माना जाता था। यज्ञों के अवसर पर पशु-बलि की प्रथा थी यह तो अशोक के शि० ले० १ से ही सिद्ध हो जाता है। मेगस्थनीज़ का विवरण भी इस सत्य की पुष्टि कर देता है। पशुओं का बलिदान करने के

लिये मनुष्यों को अपने देवत्व को दबाकर दानवत्व को उभाड़ना पड़ता था। मदिरा में इस दानवत्व को उभाड़ने की असीम शक्ति है। सम्भवतः इसी कारण यज्ञों के अवसर पर मदिरा पीने की क्रिया धार्मिक मानी जाती होगी। अशोक ने अपने आदेशों द्वारा यज्ञों के अवसर पर पशु-वलि का निषेध कर दिया था। अतः पशु-बलि के निषेध के साथ ही जहाँ जीव हिंसा में कमी हुई वहां निश्चय ही मदिरा के प्रयोग में भी कमी हो गई होगी।

आमोद-प्रमोद :—

अशोक के अभिलेखों से हमें तत्कालीन समाज के आमोद-प्रमोदों का ज्ञान पूर्णतया प्राप्त नही होता। अशोक ने शिलाभिलेख १ मे समाज का उल्लेख अवश्य किया है। समाज के उल्लेख से यह ज्ञात हो जाता है कि तत्कालीन मनुष्य समाजों में पशुओं के युद्ध, मल्लयुद्ध, रथों की दौड़ आदि द्वारा अपना मनोरञ्जन करते थे। ऐसे अवसरों पर नृत्य तथा गान आदि का भी आयोजन मनोरञ्जनार्थ अवश्य ही होता होगा। अशोक इन समाजों को हिंसात्मक होने के नाते समाज के प्रति घातक मानता था। अतः उसने इन समाजों का निषेध कर दूसरे प्रकार के समाजों को प्रोत्साहन दिया था। इन दूसरे प्रकार के समाजों में धार्मिक दृश्यों का प्रदर्शन होता था। अतः स्पष्ट हो जाता है कि धार्मिक दृश्यों का प्रदर्शन भी मनोरञ्जन का एक साधन था।

आखेट के प्रति विहार-यात्राओं का आयोजन भी मनोरञ्जनार्थ किया जाता था। मेगस्थनीज़ का इस सम्बन्ध में विवरण महत्वपूर्ण है। वह लिखता है "राजा जिस समय आखेट के प्रति महल से निकलता है उस समव स्त्रियों की भीड़ उसे घेरे रहती है। उस घेरे के बाहर बरछे बाले रहते हैं। मार्ग का चिन्ह रस्सों से डाला जाता है। इन चिन्हों को पार करना मृत्यु को आह्वान करना होता है। दल के आगे लोग ढोल तथा झाँझ बजाते चलते हैं। राजा घेरों के भीतर से आखेट करता है। उसके दोनों ओर सशस्त्र स्त्रियाँ खड़ी रहती हैं। खुले मैदान में वह हाथी की पीठ पर से आखेट करता है। उसके साथ इस समय कुछ सशस्त्र स्त्रियाँ रथों पर रहती हैं, कुछ घोड़ों पर तथा कुछ हाथियों पर। यह अवश्य है कि विहार-यात्रा सम्बन्धी आखेट का यह विवरण राजा से संबंधित है किन्तु इसी आधार पर यह भी माना जा सकता है कि सामान्य लोग भी आखेट के प्रति विहार-यात्राओं का आयोजन धूम-धाम से करते होंगें। ये विहार-यात्रायें भी हिंसात्मक होने के कारण अशोक को प्रिय न थीं और उसने इन यात्राओं के स्थान पर धर्म-यात्राओं का प्रचलन किया (शि० ले० ८)।

मनोरञ्जन के उपर्युक्त साधनों के अतिरिक्त अन्य साधनों का परिचय हमें अर्थशास्त्र के अध्ययन से मिल जाता है। अर्थशास्त्र नट, नर्तक, गायक-वादक, वाग्जीवक (विभिन्न प्रकार की बोलियाँ बोलने वाले), कुशीलव, प्लवक (रस्सी पर नाचने वाले), सौभिक (मदारी) तथा चारणों का उल्लेख करता है। ये लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते हुये लोगों के मनोरञ्जानार्थ अपनी कला का प्रदर्शन करते थे। कभी-कभी ग्राम सामूहिक रूप से इन कलाओं के प्रदर्शन का आयोजन करते थे। ऐसे अवसरों पर प्रत्येक ग्रामवासी धन देता था। जो व्यक्ति धन न देता था वह प्रेक्षा मे आने का अधिकारी न होता था। कलाकारों को अपनी कला के प्रदर्शन के प्रति राजकीय प्रमाणपत्र प्राप्त करना पड़ता था। इस पत्र की प्राप्ति का शुल्क पाँच पण था। प्रदर्शनों के आयोजन के सम्बन्ध में भी चाणक्य ने अनेकों नियम बनाये थे। उनके कार्य-क्रम पर राजकीय अधिकारी अपनी दृष्टि रखते थे और ग्रामों को भी उसी सीमा तक इन प्रदर्शनों के आयोजन का अधिकार था जहाँ तक ये ग्राम के कार्यों में बाधक न बनें। इस प्रकार आर्थशास्त्र के अध्ययन से जहाँ मनोरञ्जन के सार्वजनिक साधनों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है वहाँ यह भी ज्ञात हो जाता है कि आज के समान उस काल में भी मनोरञ्जन के साधनों पर राजकीय नियन्त्रण था। बड़े-बड़े नगरों मे प्रेक्षा के प्रति प्रेक्षागृहों के अस्तित्व की पुष्टि भी इसी आधार पर हो जाती है।

नागरिक जीवन :—

अशोक कालीन नागरिक जीवन पर उसके लेख तो प्रकाश नही डालते किन्तु मेगस्थनीज का विवरण इस सम्बन्ध में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। यात्री के अनुसार "भारतवासी किफायत से रहते है। वे चाल ढाल में सादे और मित-व्ययी होते हैं। इसी कारण वे सुखी जीवन व्यतीत करते हैं"। "वे अनियन्त्रित भीड़ पसन्द नही करते और सदैव व्यवस्था बनाये रहते है"। "देश मे चोरी नही होती, लोग सरल हैं और उनका व्यवहार उत्तम है।" "भारतवासी एक दूसरे पर विश्वास करते हैं। वे गिरवी तथा धरोहर के अभियोगों के प्रति न्यायालय नहीं जाते। वे मोहर तथा गवाही की भी आवश्यकता अनुभव नहीं करते। वे अपना घर और सम्पत्ति प्राय: अरक्षित छोड़ देते हैं।" यात्री के इन कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय जीवन "सादा जीवन तथा उच्च विचार" के सिद्धान्त पर आधारित था। विश्वास, विश्वास की जननी है और प्रेम, प्रेम की, वे इस सिद्धान्त से भी परिचित थे और उसे व्यावहारिक रूप देना भी जानते थे।

भारतीय जीवन जहाँ इतना सरल था वहाँ उसकी रुचि पारिष्कृत थी। वे सौंदर्य के प्रेमी तथा बनाव एवम् शृंगार के उपासक थे। मेगस्थनीज का विवरण इस सत्य की पुष्टि कर देता है। वह लिखता है "उनके (भारतवासियों के) वस्त्रों पर सोने का काम किया रहता है और वे वस्त्र मूल्यवान रत्नों से विभूषित रहते है। वे लोग अत्यधिक सुन्दर मलमल के बने हुये फूलदार कपड़े पहनते हैं। सेवक लोग उनके पीछे-पीछे छाता लगाये चलते है। वे सौदर्य का बड़ा ध्यान रखते हैं और अपने स्वरूप को संवारने में कोई उपाय उठा नही रखते"। मेगस्थनीज़ का यह विवरण भारत के सामान्य लोगों का विवरण है। इस विवरण के आधार पर सहज ही दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। प्रथम भारतीय पूर्णतया सभ्य थे और उनकी सभ्यता इतनी उच्चकोटि की थी कि अपने को सभ्य कहने वाली यूनानी जाति का प्रतिनिधि मेगस्थनीज़ भी उनकी सभ्यता को देखकर आश्चर्यचकित रह गया था। दूसरे भारतवासियों की रुचि तथा रहन-सहन से उनका समृद्धिशाली होना भी पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है।

भारतीय वस्त्रों की सुन्दरता को ही शरीर की सुन्दरता नहीं मानते थे वरन् वे शरीर के सौदर्य का भी महत्व जानते थे। जीवन का वास्तविक आनन्द प्राप्त करने के प्रति वे शरीर को स्वस्थ्य रखना भी आवश्यक मानते थे। मेगस्थनीज के अनुसार "उनमें व्यायाम करने की सर्वप्रिय रीति संघर्षण है। यह कई प्रकार से किया जाता है, पर प्रायः संघर्षण चिकने आबनूस के बेलनों को त्वचा पर फेरकर होता है"।

भारतीय सहृदयता तथा मानवीयता का परिचय भी हमें मेगस्थनीज़ के विवरण से प्राप्त हो जाता है। वह लिखता है "भारतवासियों में विदेशियों तक के प्रति कर्मचारी नियुक्त होते हैं जिनका काम यह देखना होता है कि किसी विदेशी को हानि न पहुंचने पावे। यदि वह रोगग्रस्त हो जाता है तो वे उसकी चिकित्सा के प्रति वैद्यादि की व्यवस्था करते हैं। यदि विदेशी की मृत्यु हो जाती है उस दशा में वे उसकी सम्पत्ति उसके उत्तराधिकारियों को दे देते हैं। न्यायाधीष भी विदेशियों के मामले अत्यधिक ध्यान से निर्णय करते हैं और उनके प्रति अनुचित व्यवहार करने वालों को कठोर दण्ड देते हैं"। विदेशियों की देखभाल करने का राजनीतिक कारण भी था। वे यात्री तथा व्यापारी के रूप में गुप्तचर भी हो सकते थे। विदेशियों के प्रति अनुचित व्यवहार दो देशों में मन मुटाव अथवा संघर्ष का कारण भी बन सकता था। इतना होने पर भी मेगस्थनीज़ के विवरण में निहित भारतीय मानवता तथा सहृदयता को भुलाया नहीं जा सकता। इसी मानवीयता की भावना ने ही अशोक को पशुओं तथा मनुष्यों की चिकित्सा

की व्यवस्था, भारत में तथा विदेशों में करने की प्रेरणा प्रदान की थी और उसने इस क्षेत्र में अनुकरणीय कार्य किया था (शि० ले० २)। भारतीय मानवीय भावनाओं का परिचय हमें मेगस्थनीज़ के इस कथन से भी प्राप्त हो जाता है कि "भूमि जोतने वाले, चाहे उनके पड़ोस में युद्ध हो रहा हो, तो भी किसी प्रकार के भय की आशंका से विचलित नहीं होते। दोनों ओर से लड़ने वाले युद्ध के समय एक दूसरे का संहार करते हैं, परन्तु जो लोग खेती में लगे हुये रहते हैं, उन्हें पूर्ण तथा निर्विघ्न अपना कार्य करने देते हैं। इनके अतिरिक्त, न तो वे शत्रु के देश का अग्नि से सत्यानाश करते हैं और न उनके पेड़ काटते है"।

भारतीय जीवन का यह सुखद चित्रण हमें उसका आधार खोजने के प्रति बाध्य कर देता है। भारतीय जीवन की उच्चता का आधार शिक्षा थी। उस काल में आज के समान ही शिक्षा का उद्देश्य मानव का सर्वांगीण विकास था। किन्तु आज के समान इस उद्देश्य को केवल सिद्धान्त ही न मानकर व्यवहारिक रूप भी प्रदान किया गया था। तक्षशिला विश्वविद्यालय उस काल का विश्व-विख्यात शिक्षा-केन्द्र था। इस विद्यालय में वेदों, अष्टादश विद्या, विविध शिल्प, धनुर्विद्या, हस्ति विद्या, मन्त्र विद्या, प्राणियों की बोली समझने की विद्या और चिकित्सा शास्त्र की विशेष रूप से शिक्षा दी जाती थी। यह विद्यालय, विषय सम्बन्धी अनेकों विद्यालयों में विभाजित था। प्रत्येक विद्यालय में लगभग ५०० विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। विद्यालय में गरीब तथा अमीर दोनों ही शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। अमीर गुरु-दक्षिणा में धन देते थे और गरीब गुरुओं की सेवा के रूप में [illegible] देते थे। जातक की एक कथा इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण है। कथा के अनुसार वाराणसी के राजा का पुत्र ब्रह्मदत्त जब तक्षशिला विद्याध्ययन के लिये पहुंचा और उसने आचार्य को अपना उद्देश्य बताया उस समय आचार्य ने पूछा "क्या तुम आचार्य के लिये उपयुक्त शुल्क लाये हो, या शिक्षा के बदले सेवा की इच्छा रखते हो? "ब्रह्मदत्त ने तुरन्त एक सहस्र कर्षापणों की थैली आचार्य के चरणों में रख दी और उसे आचार्य ने पुत्र के समान अपने पास रख लिया। शिक्षा काल में विद्यार्थी को भोजन, वस्त्रादि सभी आवश्यक वस्तुयें गुरु से ही प्राप्त होती थी। आचार्य चाणक्य स्वयं तक्षशिला विश्वविद्यालय का विद्यार्थी तथा आचार्य रह चुका था। चन्द्रगुप्त ने भी कुछ समय तक यहीं शिक्षा प्राप्त की थी। अशोक के समय में भी तक्षशिला विद्या का महत्वपूर्ण केन्द्र था।

तक्षशिला के अतिरिक्त नगरों तथा ग्रामों में शिक्षा कार्य आचार्य, पुरोहित तथा श्रोत्रिय आदि करते थे। अशोक ने अनेकों विहारों का निर्माण कराया

था। ये विहार भी शिक्षा प्रदान करने का कार्य करते थे। आगामी भारतीय गौरव के केन्द्र नालन्द विश्वविद्यालय का बीजारोपण भी एक विहार के रूप में अशोक के समय ही हुआ था। शिक्षा प्रदान करने वालों तथा विहारों को भूमि-दान द्वारा आर्थिक सहायता प्रदान की जाती थी। यह दान राजा तथा सामान्य लोगों दोनों से ही प्राप्त होता था। इस भूमि पर कोई भी कर न था। यह भूमि शिक्षकों तथा विहारों की आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रति दान दी जाती थी, जिससे शिक्षक स्वतन्त्रता पूर्वक शिक्षा दे सकें और सुखी समाज का निर्माण कर सकें। शिक्षा की इस व्यवस्था के परिणाम स्वरूप ही मौर्य कालीन समाज विश्व को आश्चर्य चकित कर देने वाली सभ्यता का केन्द्र बन सका था। अशोक का शासन काल तो नैतिक भावनाओं पर आधारित विश्वबन्धुत्व की भावना के विकास की अमर गाथा है। अतः इस काल में जो नागरिक जीवन रहा होगा वह मेगस्थनीज के चित्रण से भी अधिक सुन्दर होगा।

आर्थिक जीवन :—

अशोक कालीन आर्थिक दशा के सम्बन्ध में भी हमारा ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाणों के अभाव में नगण्य सा है। किन्तु अर्थशास्त्र, मेगस्थनीज़ के विवरण तथा जातक कथाओं के आधार पर, हमें चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल की आर्थिक दशा का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हो जाता है। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल की ही दशा बहुत कुछ रूप में अशोक के समय भी थी, यह सहज ही स्वीकार किया जा सकता है। वैसे चन्द्रगुप्त मौर्य का शासनकाल अशोक के काल की तुलना में अशान्ति का काल था। यह काल मौर्य साम्राज्य की स्थापना तथा विद्रोही शक्तियों एवम् नन्द वंश के समर्थकों के दमन का काल होने के नाते कठोर नियं-त्रण तथा अनावश्यक सतर्कता का काल था। इन परिस्थितियों में लोगों को अपने आर्थिक स्तर के विकास के प्रति कृषि तथा व्यापार सम्बन्धी वे सुविधायें न प्राप्त होंगी जो उन्हें अशोक के समय तक प्राप्त हो गई होंगी। अतः अशोक के काल की आर्थिक दशा चन्द्रगुप्त मौर्य के काल से अवश्य ही अच्छी रही होगी।

कृषि :—

मौर्यकालीन आर्थिक जीवन कृषि तथा व्यवसाय पर आधारित था। मेगस्थनीज़ के अनुसार भारत में "किसान लोग सबसे अधिक संख्या में हैं भूमि का अधिक भाग सिंचाई में है अतः उसमें एक वर्ष में दो फसलें पैदा होती हैं"। मेगस्थनीज़ वर्ष में दो बार नियमित समय पर वर्षा होने का उल्लेख करता है

और भारत की भूमि को उपजाऊ बताता है। चाणक्य के अनुसार तत्कालीन भारत में निम्न वस्तुयें पैदा की जाती थीं :—

शाली, ब्रीह और कोद्रव (तीन प्रकार के चावल); तिल, प्रियगु, वरक, मूंग, उड़द, शैव्य, कुशुम्भ, मसूर, कुलुत्थ, जौ, गेहूँ, चना, अलसी, सरसों, ईख, कपास, मटर, आलू, ककड़ी, सहजन, तरबूज, खरबूजे, आम, अनार, आंवला, निम्बू, बेर, फालसा, अंगूर, जामुन तथा कटहल आदि।

चाणक्य वर्षा के अतिरिक्त सिचाई के निम्न साधनों का भी उल्लेख करता है।

(१) हस्तिप्रावर्त्तिमम :—गढ़ों में पानी एकत्र कर डोल, चरस आदि से सींचना।

(२) स्कन्धप्रावर्त्तिमम् :—बैलों के कन्धों की सहायता से पानी खींच कर सिंचाई करना।

(३) स्रोतयंत्रप्रावर्त्तिमम् :—यंत्र द्वारा पानी खीचकर सिंचाई करना।

(४) नदीसरस्तटाक कूपोद्‌घाटम् :—नदी, सर, तालाब तथा कूप द्वारा सिचाई करना।

(५) सेतुबंध :—बांध बनाकर नहरों आदि द्वारा सिंचाई करना।

(चन्द्रगुप्त द्वारा सुदर्शन झील का निर्माण इसका प्रमाण है।)

सिंचाई के उपर्युक्त साधनों का प्रयोग करने के प्रति किसानों को एक निश्चित सिंचाई कर राज्य को अवश्य देना पड़ता था किन्तु सिंचाई के व्यवस्थित साधनों के परिणाम स्वरूप कृषि उन्नत दशा मे थी तथा अकाल का भय न था। युद्धों के समय भी कृपि को हानि न पहुँचाने की एक धार्मिक परम्परा थी। परिणाम स्वरूप किसान धन-धान्य सम्पन्न तथा सुखी था। मेगस्थनीज भी इस सत्य की पुष्टि कर देता है। वह कहता है "यहाँ के लोग निर्वाह की सब सामग्री बहुतायत से पाकर प्राय: मामूली डील-डौल से अधिक होते हैं, और अपने गर्वीले हाव-भाव के लिये प्रसिद्ध हैं"।

पशु-पालन :—

कृषि के अतिरिक्त लोगों का अन्य प्रमुख उद्यम पशु-पालन था। पशुओं में गाय, बैल तथा घोड़े प्रमुख थे। गाय दूध देने वाली तथा बैलों की जननी होने के नाते महत्वपूर्ण मानी जाती थी। बैल कृषि के प्रति काम में लाये जाते थे तथा घोड़े सवारी के प्रयोग में आते थे। पशुओं के स्वास्थ्य का विशेष ध्यान रक्खा जाता था। प्रत्येक ग्राम में राजीय चरागाहें होती थी, जिनकी देखभाल के

लिये अशोक ने व्रजभूमिक नामक अधिकारी की नियुक्ति की थी। उसने पशुओं के लिये चिकित्सालयों की भी स्थापना की थी और उनकी हिंसा के प्रति भी उसने विशेष नियम बनाये थे। अतः स्पष्ट है कि पशु राष्ट्रीय सम्पत्ति माने जाते थे और उनकी रक्षा तथा विकास के लिये राज्य स्वयं को उत्तरदायी मानता था।

कृषि तथा पशुपालन सम्बन्धी उपर्युक्त विवरणों के आधार पर यह तो निश्चय ही हो जाता है कि तत्कालीन समाज भोजन मे विभिन्न नाज, शाक, फल, घी, दूध, तेल, दही, शक्कर तथा गुड़ आदि का प्रयोग करते थे। मांस का प्रयोग तो अशोक के लेखों से ही प्रमाणित हो जाता है। विभिन्न प्रकार के मिष्ठान्नों का प्रयोग भोजन मे होता था, इस सत्य की पुष्टि अर्थशास्त्र से हो जाती है। भोजन के प्रति विभिन्न वस्तुओं का प्रयोग तत्कालीन समाज के उच्च आर्थिक स्तर का परिचय देता है।

व्यवसाय :—

तत्कालीन समाज के आर्थिक जीवन का दूसरा प्रमुख आधार व्यवसाय था। व्यवसाय के क्षेत्र में चाणक्य ने युग के निम्न प्रमुख व्यवसायों का उल्लेख किया है :—

(१) तंतुवाय (कपड़ा बुनने वाले) (२) खानों में काम करने वाले व्यवसायी (३) नमक का व्यवसाय (४) समुद्र से रत्नादि प्राप्त करने वाले व्यवसायी (५) सुवर्णकार (६) वैद्य (७) शराब का व्यवसाय (८) कसाई (९) चमड़े का व्यवसाय (१०) बर्तनों का व्यवसाय (११) जंगलों से सम्बन्धित व्यवसाय (१२) लुहार (१३) जहाज तथा नौकायें बनाने वाले (१४) मनोरंजन करने वाले (१५) खाना बनाने वाले (१६) वैश्यायें (१७) पुष्पों का व्यवसाय (१८) बाल बनाने वाले (१९) कर्मकार (२०) गोरक्षक (२१) राज (२२) मणिकारु (मणि आदि काटने-छाँटने वाले) (२३) देवताकारु (देवताओं की मूर्तियाँ बनाने वाले) आदि।

जातक-कथायें भी उपर्युक्त व्यवसायों के अस्तित्व की पुष्टि कर देती हैं। इन व्यवसायों के अस्तित्व से ही यह ज्ञान हो जाता है कि तत्कालीन समाज अपना आर्थिक स्तर ऊँचा करने के लिये कितने व्यापक क्षेत्र में क्रियाशील था। अर्थशास्त्र में प्रस्तुत उपर्युक्त व्यवसायों के विस्तृत वर्णन से तत्कालीन समाज के विस्तृत ज्ञान का भी परिचय मिल जाता है। अर्थशास्त्र के अनुसार जुलाहे ऊनी तथा सूती दोनों ही प्रकार के वस्त्र बनाते थे। ऊनी वस्त्र तथा विशेषतया कम्बल भेड़ के ऊन से बनाये जाते थे। वे श्वेत, लाल तथा कमल से रंग के होते

थे। कम्बल चार प्रकार के बनाये जाते थे। (१) खचित (बटे सूत से) (२) बाम-चित्र (विभिन्न रंगों के ऊन से) (३) खण्ड संघात्य (पट्टियाँ जोड़कर) (४) तंतु-विछिन्न (ऊन से ताना-बाना एक करके फिर बुनकर)। १० प्रकार के कम्बलों का उल्लेख चाणक्य करता है (१) कौपचक (मोटा) (२) कुलमितक (सिर पर धारण करने वाला) (३) सौमितिक (बैलों के प्रति) (४) तुरगास्तरण (घोड़ों के प्रति) (५) वर्णक (विभिन्न रंग का) (६) तलिच्छक (बिछाने के प्रति) (७) वारवाण (वस्त्र के प्रति) (८) परिस्तोत्र (बड़े आकार का) (९) संमत-भद्रक (हाथी के प्रति) तथा (१०) आविक (महीन ऊन का कम्बल)। भेड़ के अतिरिक्त अन्य पशुओं के बालों से भी कपड़े बनाये जाते थे। ये ५ प्रकार के थे— (१) संपुटिका (२) लंबरा (३) कटवानक (४) प्रावरक तथा (५) सत्तलिका।

अर्थशास्त्र के अनुसार बंग देश, श्वेत तथा चिकने कपड़े; पुंड्र देश, काले तथा मणि समान चिकने; सुवर्णकुड्य देश, सूर्य समान रंग वाले एवम् चिकने तथा मगध, वृक्षों एवम् पत्तों व छाल के रेशों से कपड़े बनाने के प्रति प्रसिद्ध था। मेगस्थनीज़ बंगाल की मलमल का उल्लेख करता है। वस्त्रों पर फूल भी काढ़े जाते थे।

कपड़े के व्यवसाय से सम्बन्धित धोबी, रंगरेज़ तथा दरजी का भी अर्थशास्त्र में उल्लेख है। इन विवरणों से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य रुचियों तथा आवश्यकताओं के अनुसार विभिन्न वस्त्रों का उपयोग करते थे। मेगस्थ-नीज़ कहता है "वे (भारतीय) मलमल के फूलदार कपड़े पहनते हैं, सिर पर पगड़ी बाँधते हैं और चमकीले रंगों में रंगे हुये वस्त्रों का प्रयोग करते हैं"। यह विवरण इस धारणा की पुष्टि कर देता है कि लोगों की आर्थिक दशा अच्छी थी और उन्होंने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रति विभिन्न साधन खोज निका-लने में सफलता प्राप्त कर ली थी। अर्थशास्त्र के विवरणों से हमे यह भी ज्ञात हो जाता है कि तत्कालीन मनुष्यों ने भूगर्भ में दबी विभिन्नि धातुओं जैसे सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, जस्ता आदि को भी विभिन्न वस्तुओं के निर्माण में भली-भाँति प्रयोग करने में पूर्ण निपुणता प्राप्त करली थी। वन तथा खानें राज्य के अधिकार मे थीं किन्तु उन्हें किराये पर भी दे दिया जाता था। इसी प्रकार नमक तथा शराब का व्यवसाय करने वालों को राजकीय आज्ञा प्राप्त करनी पड़ती थी। व्यवसायी राष्ट्र की सम्पत्ति हैं यह भावना भी मौर्यकाल में विद्य-मान थी। मेगस्थनीज़ के अनुसार कारीगरों को हानि पहुँचाना भयंकर अपराध था और ऐसे अपराधियों को मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। व्यवसायियों ने भी अपने समय की परिस्थियों पर विजय पाने के प्रति व्यवसाय सम्बन्धित संस्थाओं

का निर्माण कर लिया था। इन, संस्थाओं को श्रेणी कहा जाता था। मार्गों में व्यापार की सुरक्षा के लिये इन्हें सैनिक रखने का भी अधिकार था। ये श्रेणियाँ देश में तथा विदेश से व्यापार करने की योजनायें बनाती थीं और उन्हें क्रियान्वित करती थीं। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि मौर्यकालीन श्रेणियाँ देश के आर्थिक जीवन का श्रोत थीं। इनकी क्रियाशीलता से जहाँ देश में धन की वृद्धि के साथ आर्थिक स्तर ऊँचा उठता था, वही बड़े-बड़े समृद्धिशाली व्यवसायिक नगरों का निर्माण भी होता था।

व्यापार तथा आवागमन के साधन :—

व्यापार की सफलता आवागमन के साधनों पर निर्भर है। मौर्यकाल में चारों ही दिशाओं से व्यापार के प्रति मार्गो की व्यवस्था की गई थी। जातक कथाओं के आधार पर तीन प्रमुख व्यापारिक मार्ग थे :—

१. उत्तर से दक्षिण-पश्चिम का मार्ग श्रावस्ती से प्रतिष्ठान तक जाता था। इस मार्ग पर साकेत, कौशाम्बी, विदिशा, उञ्जयिनी तथा माहिष्मती प्रमुख नगर थे जहाँ व्यापारी ठहरते थे।

२. उत्तर से दक्षिण-पूर्व का मार्ग श्रावस्ती से राजगृह तक जाता था। इस मार्ग के प्रमुख नगर सितव्य, कपिलवस्तु, कुशीनारा, पावा, हस्तिग्राम, वैशाली, पाटलिपुत्र और नालन्द थे।

३. पूर्व से पश्चिम का मार्ग सरिताओं का मार्ग था। गंगा तथा यमुना प्रमुख व्यापारिक नदियाँ थीं।

इन मार्गों के अतिरिक्त कुछ उपमार्गो का भी जातक कथाओं से परिचय प्राप्त होता है। ये मार्ग विदेह से गांधार, मगध से सौवीर, भरुकच्छ से ब्रह्मदेश के किनारों तक जाते थे। काशी से ब्रह्मदेश के किनारों तक जलमार्ग का भी प्रयोग होता था।

यह अवश्य है कि श्रेणियों को व्यापार करने के लिये विभिन्न राज्यों में प्रवेश करते समय १$\frac{३}{४}$ पण मार्ग कर के अतिरिक्त माल पर भी कर देना पड़ता था, किन्तु इस कर को देकर व्यापारी अपने माल की रक्षा का उत्तरदायित्व राज्य पर डाल देता था। यदि उस राज्य में उसके माल को कोई हानि पहुंचती थी तो वह राज्य को भरनी पड़ती थी। इस नियम से स्पष्ट हो जाता है कि व्यापार की रक्षा का उस समय कितना अधिक महत्व था। निश्चय ही इस व्यापारिक सुरक्षा के परिणामस्वरूप ही देश का आन्तरिक व्यापार अत्यधिक उन्नत कर सका और विदेशों से भी व्यापार करने का साहस कर सका।

भारतीय व्यापारी विदेशों से व्यापार करने के प्रति बड़ी-बड़ी नावें प्रयोग करते थे। अर्थशास्त्र में इन नावों को 'संयात्यः नाव तथा प्रवहण' कहा गया है। ताम्रपर्णी (सिहल) के अतिरिक्त भारतीय व्यापारी पश्चिमी देशों में अलकजेण्ड्रिया (अलकन्द) तक व्यापार करते थे। विदेशों से व्यापार करने वालों के प्रति राज्य उदार व्यवहार करता था। यदि उनका माल पानी से खराब हो जाता था उस दशा मे उन्हे या तो कर से मुक्त कर दिया जाता था या आधा शुल्क ही लिया जाता था। राज्य की आज्ञा थी कि तूफान से आहत जहाज जब बन्दरगाह में आये उस समय बन्दरगाह का अध्यक्ष व्यापारी से पिता तुल्य व्यवहार करे। राज्य की यह उदारता, व्यापार के प्रति ऐसी प्रेरणा थी, जिसने व्यापारियों मे नव-जीवन का संचार कर दिया था और भारतीय व्यापार देश मे सोना भरने लगा था।

व्यापारियों पर नियन्त्रण रखने के लिये जहाँ मौर्य शासकों ने कच्चे माल का राष्ट्रीयकरण कर डाला था, वहीं वे धन पर एकाधिपत्य स्थापित कर प्रजा का शोषण न कर पायें, इस सम्बन्ध में भी राज्य ने अनेकों निम्न महत्वपूर्ण नियम बनाये थे।

१. सौदा किये हुये माल को बदल कर अथवा उसमे मिलावट कर बेचने वाले व्यापारी पर ५४ पण अर्थ दण्ड किया जात। था। साथ ही उसे हानि की पूर्ति भी करनी पड़ती थी।

२. कम तौलने वालों पर ६ पण से १२ पण तक दण्ड किया जाता था अधिक कम तौलने वालों को अधिक दण्ड दिया जाता था।

३. वस्तुओं के दाम बढ़ाने वालों पर १००० पण दण्ड किया जाता था।

४. देशी माल पर व्यापारी ५ प्रतिशत तथा विदेशी माल पर १० प्रतिशत लाभ ले सकते थे। इससे अधिक लाभ लेने वालों पर फी ½ प्रतिशत १०० से २०० पण तक दण्ड किया जा सकता था।

वस्तुओं का स्तर नियमित करने के प्रति राज्य स्वयं भी राजकीय केन्द्रों में दैनिक प्रयोगों की वस्तुओं का निर्माण करता था। व्यापारियों को भी विवश हो इन्ही वस्तुओं के समान वस्तुयें बनानी पड़ती थीं और उन्हे राजकीय मूल्य पर ही बेचना पड़ता था। इस राजकीय प्रतियोगिता के परिणाम स्वरूप व्यापारी न तो वस्तुओं का स्तर ही गिरा सके और न मूल्य में ही वृद्धि कर सके। आज के युग में भी, जब उद्योगपति निम्नस्तर की वस्तुओं का अत्यधिक मूल्य लेकर देश का शोषण कर रहे हैं, मौर्य कालीन प्रणाली अनुकरणीय है।

मौर्य कालीन उपर्युक्त आर्थिक व्यवस्थ। के परिणाम स्वरूप देश सोने

की चिड़िया बनना प्रारम्भ हो गया था। गुप्तकाल के स्वर्ण युग का वीजारोपण भी हो गया था। व्यापार के विकास के साथ जहाँ देश में धन का आधिक्य हो गया था, वहीं वस्तुओं के मूल्यों में कमी के साथ लोगों का व्यय कम हो गया था। आय की वृद्धि तथा व्यय की कमी ने लोगों के आर्थिक स्तर को दृढ़ता प्रदान कर दी थी और यह दृढ़ता चरित्र के विकास का महत्वपूर्ण कारण बन गई थी।

दास प्रथा :—

मौर्य कालीन लोगों के आर्थिक स्तर की माप, न तो पाश्चात्य देशों के मनुष्यों के समान, दासों की संख्या से की जाती थी और न मुद्रा से ही। यह अवश्य है कि मौर्य कालीन समाज में दासों का अस्तित्व था, किन्तु चाणक्य के अनुसार दासों के साथ अनुचित व्यवहार करना अपराध था। अशोक ने भी अपने लेखों में दासों के प्रति उचित व्यवहार करने का बारबार आदेश दिया है। उसने इस व्यवहार को अपने धर्म का प्रमुख लक्षण मान लिया था। अतः स्पष्ट है कि भारतीय दास, पाश्चात्य देशों के दासों के समान पददलित न थे। सम्भवतः दासों की सन्तोषजनक स्थिति के कारण ही मेजस्थनीज भारत में दासों के अस्तित्व का ज्ञान न प्राप्त कर सका। वह लिखता है "समस्त भारतीय स्वतन्त्र हैं, उनमें एक भी दास नहीं है"।

मुद्रा :—

मौर्य कालीन भारत में मुद्रा का प्रचलन अवश्य था, किन्तु मुद्रा अभी केन्द्रीय शासन के अधिकार की वस्तु न बन पाई थी। इस पर श्रेणियों तथा धनिक लोगों का अधिकार था। प्रत्येक श्रेणी तथा धनिक लोग अपनी पृथक मुद्रा का प्रचलन करते थे। चाँदी की मुद्रा पण, ताँबे की मुद्रा ताम्ररूप या माषक तथा सोने की मुद्रा सुवर्ण कहलाती थी। मुद्राओं की तौल भी निश्चित न थी। एक राज्य की मुद्रा दूसरे राज्य में सामान्यतः मान्य न होती थी। इन परिस्थितियों में मुद्रा को व्यापार के प्रति पारस्परिक आदान-प्रदान का साधन सामान्यतः मानना कठिन है। सम्भवतः क्रय-विक्रय का माध्यम वस्तुओं का आदान-प्रदान ही था। चाणक्य के अनुसार 'आदेश' (हुण्डी) का प्रयोग भी इस कार्य के प्रति किया जाता था। मौर्य काल में मुद्रा का केन्द्रीयकरण प्रारम्भ हो गया था। अतः मौर्य काल के उपरान्त ही मुद्रा पूर्ण रूपेण व्यापारिक माध्यम तथा मनुष्यों के आर्थिक स्तर के माप का आधार बन पाई होगी। मौर्य काल में तो मनुष्यों के आर्थिक स्तर की माप सोना, चांदी, पशु तथा वस्तुओं आदि से ही की जाती होगी।

आठवाँ प्रकरण

कला

कला, व्यक्ति, समाज तथा समय की आन्तरिक भावनाओं का वाह्य प्रदर्शन है। यह तत्कालीन समाज की सभ्यता की ऐसी माप है जिसे मनुष्य अपने स्वर्थों की वेदी पर वाद-विवाद का विषय नही बना सकता। इसमे समाज के विभिन्न राशिभूत आदर्श केन्द्रित होकर साकार रूप धारण कर लेते हैं। यह केन्द्रित साकार रूप देश, काल तथा परिस्थितियों की अवहेलना करता हुआ तत्कालीन समाज के अनुभवों, भावनाओं तथा विचारों के उच्चतम स्तर का सतत् प्रदर्शन करता रहता है।

अशोक कालीन कला भी तत्कालीन समाज के अनुभवों, भावनाओं तथा विचारों का चित्रण करने मे पूर्ण सफल है। यह अवश्य है अशोक कालीन कला के प्रतिनिधि हमें पर्याप्त संख्या में प्राप्त नही होते, किन्तु जो भी प्राप्त हैं उनका अध्ययन ही समाज की सांस्कृतिक उच्चता का प्रदर्शन करने में पूर्ण समर्थ हैं। जिन प्रतिनिधियों को समय तथा मानवीय हिसक वृत्तियों ने नष्ट कर दिया है, उनके सम्बन्ध में यात्रियों के विवरण आज भी प्राप्य है और वे भी उन कृतियों को अप्रत्यक्ष रूप से हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर हमारे अध्ययन को सरलता तथा स्पष्टता प्रदान कर देते हैं।

(क) स्तूप :—

बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार अशोक ने सहस्रों स्तूपों तथा विहारों का निर्माण कराया था। दिव्यावदान तथा महावंश अशोक द्वारा ८४,००० स्तूपों तथा विहारों के निर्माण का उल्लेख करते हैं। ह्वेनसाँग ने भी अशोक द्वारा बनवाये ८४,००० विहारों का उल्लेख किया है। किन्तु ह्वेनसाँग ने अपने विवरण में केवल ८० स्तूपों तथा विहारों का जिन्हें उसने सम्भवतः स्वयं देखा था वर्णन किया है। ह्वेनसांग के विवरण के आधार पर अशोक के स्तूप निम्न स्थानों पर थे :—

धामेख स्तूप

(१) कपिसा (काफ़रिस्तान) (२) नागर (जलालाबाद) (३)उदयान (४) तक्षशिला (तीन स्तूप) (५) सिंहपुर (६) उरस (७) काश्मीर (चार स्तूप) (८) थानेश्वर (९) श्रुयन (१०) गोविसन (११) हयमुख (१२) प्रयाग (१३) कौशाम्बी (१४) कपिलवस्तु (१५) श्रावस्ती (१६) रामग्राम (१७) कुशीनगर (१८) सारनाथ (१९) गाजीपुर (२०) महाशाल (२१) वैसाली (२२) वज्जी (२३) बौद्ध गया (२४) गया (२५) पाटलिपुत्र (२६) राजगृह (२७) ताम्र लिप्त (२८) कर्नसुवर्न (यहाँ अनेकों स्तूप थे) (२९) उड़ीसा (१० से अधिक स्तूप थे) (३०) दक्षिण कोशल (३१) चोल प्रदेश (३२) द्राविड़ और काञ्ची प्रदेश (यहाँ अनेकों स्तूप थे) (३३) वल्लभी (अनेकों स्तूप) (३४) महाराष्ट्र (पाँच स्तूप) (३५) मुल्तान (निकट मे चार स्तूप) (३६) अफन्तु (सिन्ध के निकट) (३७) सिन्ध (अनेकों स्तूप) (३८) चीनपटी (३९) मथुरा (४०) पाटलिपुत्र (अशोकाराम या कुर्कुटाराम विहार था)।

उपर्युक्त स्तूपों में सबसे ऊँचा स्तूप लगभग ३०० फीट ऊँचा था। शेष ७० से २०० फ़ीट तक ऊँचे थे। अशोक कालीन स्तूप ईंटों के बने हुये हैं। सांचो तथा बरहुत में भी स्तूप प्राप्त हुये हैं किन्तु ये स्तूप अशोक द्वारा निर्मित ईंटों के स्तूपों के ऊपर उसके लगभग १०० वर्ष उपरान्त बनाये गये थे।

•

पाषाणवेष्टनी (रेलिंग) :—

स्तूपों के समान अनेकों अशोक कालीन पाषाणवेष्टनी आज भी भग्नावस्था में वर्तमान है। पाषाणवेष्टनी का प्रयोग स्तूपों के चारों ओर घेरा डालने के प्रति किया गया था। इन [illegible] के अवशेष सारनाथ, साँची, बरहुत, बोधि गया, पाटलिपुत्र तथा सांची के समीप भीलसा के पास बेसनगर नामक स्थानों में प्राप्त हुये हैं। इन पाषाणवेष्टनियों में साँची तथा बरहुत की वेष्टनियाँ अधिक महत्वपूर्ण हैं।

सांची की वेष्टनी पत्थर की बनी है। यह चार चतुष्कोण प्रकोष्ठों में, चार सुन्दर द्वारों द्वारा विभाजित है। चारों द्वारो पर सुन्दर मूर्तियाँ, उत्कीर्ण चित्रों तथा खचित पच्चीकारी से युक्त तोरण हैं। इस तोरणों पर कला की तूलिका से, चित्रों आदि के रूप में, बौद्ध धर्म से सम्बन्धित गाथायें व्यक्त की गई हैं। पाषाणवेष्टनी सादी तथा चिकनी है।

बरहुत की पाषाणवेष्टनी लगभग ७ फ़ीट से भी अधिक ऊँची थी। यह भी सुन्दर तोरणों से युक्त चार चतुष्कोण प्रकोष्ठों में विभाजित थी। सांची के

समान इसकी वेष्टनी सादी नहीं है, वरन् उस पर जातक ग्रन्थों की कथायें चित्रित हैं।

पाषाणवेष्टनियों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि ये दो प्रकार की थीं—सादी तथा चित्रित। तोरणों का प्रयोग इनकी सुन्दरता की वृद्धि करने के प्रति किया जाता था। वेष्टनियो की विशेषता उनके पाषाणों के चिकनेपन में है। वेष्टनियों तथा तोरणों पर अंकित चित्र एक अनोखी समस्या हैं। अशोक से पूर्व भारतीय अपनी कला का प्रदर्शन लकड़ी पर ही करते थे। यहाँ तक कि भवनों के निर्माण मे भी लकड़ी का ही प्रयोग होता था। मेगस्थनीज़ का विवरण इस सत्य की पुष्टि कर देता है। वह कहता है "राजप्रसाद लकड़ी का बना है"। यात्री के विवरणानुसार पाटलिपुत्र का परकोटा भी लकड़ी का बना था। जातकों में भी लकड़ी के भवनों का ही अधिकतर उल्लेख मिलता है। यह अवश्य है कि लकड़ी के साथ अशोक से पूर्व भी पाषाण का प्रयोग प्रारम्भ हो चुका था। जरासिंध की बैठक, परखम की ७ फ़ीट ऊँची पाषाण मूर्ति तथा पिपरावा स्तूप इसके प्रमाण हैं, किन्तु यह प्रयोग अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था। वास्तविक रूप में पाषाण का प्रयोग अशोक के समय से ही प्रारम्भ होता है। पाषाण के प्रयोग के साथ ही उन पर चित्रों का उत्कीर्ण करना तथा पाषाण मूर्तियों का निर्माण करना भी अवश्य प्रारम्भ हो गया था, और इस क्षेत्र में कलाकारों ने अनुपम निपुणता भी प्राप्त कर ली थी, किन्तु अभी वस्तुओं के निर्माण के लिये प्रयुक्त पाषाणों को पूर्ण रूपेण चित्रों से उत्कीर्ण करने की परम्परा न चली थी। पाषणों का आवश्यकीय कम से कम भाग ही चित्रों तथा मूर्तियों से अलंकृत किया जाता था। स्वयं अशोक के स्तम्भ इस सत्य के प्रमाण हैं। अशोक के उत्कीर्ण लेखों को धारण करने वाले स्तम्भों का केवल ऊपरी भाग ही अलंकृत है। पाटलिपुत्र के ध्वंसावशेषों से प्राप्त अशोक के महल के स्तम्भ भी सादे हैं। उनकी विशेषता उनकी अनुपम चिकनी तथा चमकदार पालिश अथवा वज्रलेप है। अशोक कालीन इन विशेषताओं को ध्यान में रखते हुये सांची तथा बरहुत के तोरणों तथा पाषाणवेष्टनियों पर अंकित चित्रों तथा बौद्ध गाथाओं को अशोक कालीन मानने में शंका होती है और फिर बरहुत की पाषाणवेष्टनी जहाँ चित्रों से अंकित हैं वहाँ साँची की वेष्टनी सादी है। साँची की वेष्टनी भी चित्रों से अंकित क्यों न की गई? सम्भवत: अशोक के समय में केवल सादी तथा चमकदार अनुपम वज्रलेप युक्त वेष्टनियों का ही निर्माण किया गया था। इन पर गाथाओं से सम्बन्धित चित्रों का उत्कीर्ण किया जाना अशोक के उपरान्त का प्रतीत होता है।
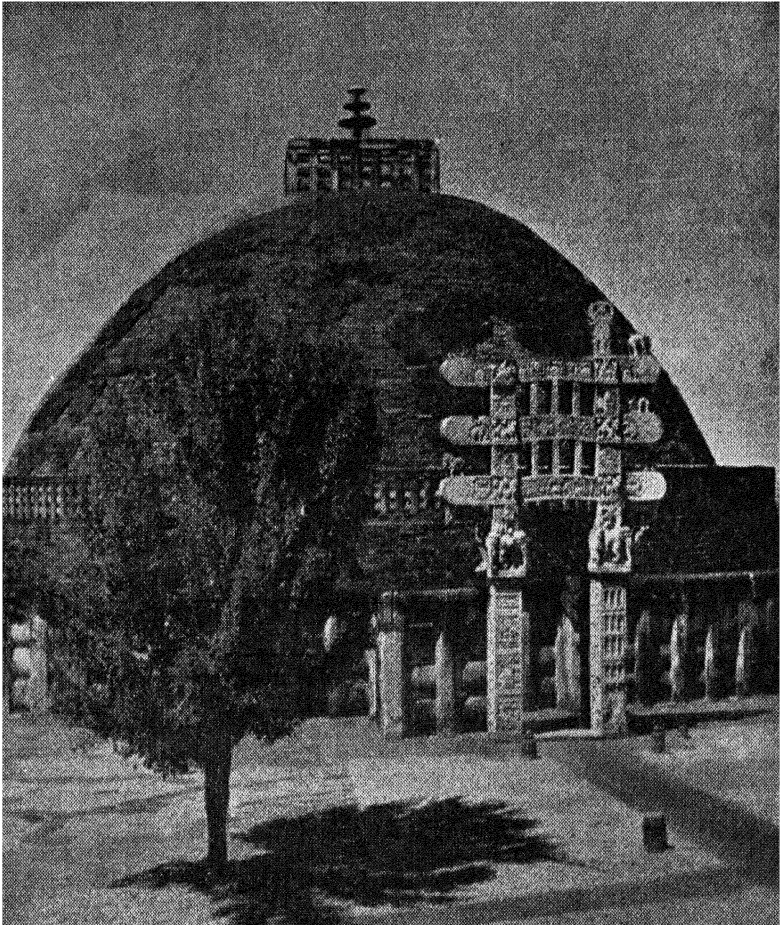
सांची स्तूप

(ग) गुहा-भवन :—

स्वयं अशोक के लेखों से प्रमाणित है कि अशोक ने अनेकों गुहा-भवनों का निर्माण कराया था। अशोक कालीन गुहा भवन गया के पास बराबर तथा नागार्जुन पहाड़ियों पर मिले हैं। प्राप्त सात गुहा भवनों में तीन अशोक के पौत्र दशरथ द्वारा बनवाये गये थे। इनमें सबसे बड़ा गुहा-भवन गोपिका-गुहा है जिसकी लम्बाई ४० फीट ५ इंच, चौड़ाई १७ फीट २ इंच तथा ऊँचाई १० फीट ६ इंच है। बराबर पहाड़ी पर कर्ण-चौपर, सुदामा गुहा तथा लोमस ऋषि गुहायें अशोक की बनवाई हुई हैं और उन पर अशोक के लेख भी उत्कीर्ण हैं। ये गुहा भवन पहाड़ियों को काटकर बनाये गये थे। इनकी विशेषता इनकी दीवालों तथा छतों पर किया गया वज्रलेप है। ये आज भी अपनी चिकनाहट तथा चमक से दर्शकों तथा कलाविदों को आश्चर्य में डाल देते हैं।

(घ) स्तम्भ :—

अशोक के स्तम्भ उसके समय की कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। इन स्तम्भों के अध्ययन से हमें न केवल समय की क्षमता तथा मौलिकता का ही परिचय मिलता है वरन् यह भी ज्ञात हो जाता है कि तत्कालीन कलाकारों में साँकेतिक रूप से भारतीय संस्कृति तथा समय की भावनाओं के प्रदर्शन की कितनी अपूर्व शक्ति थी। अशोक स्तम्भ ४० फीट से लेकर ५० फीट तक लम्बे हैं। इनका व्यास २ फीट ७ इंच से लेकर ४ फीट १½ इंच तक है। ये नीचे से ऊपर की ओर पतले होते चले गये हैं और ऊपरी भाग का व्यास १ फीट ६ इंच से लेकर २ फीट ११ इंच तक है। इन स्तम्भों का ऊपरी भाग विभिन्न मूर्तियों से अलंकृत किया गया है। ये निम्न है :—

स्तम्भ		अंकित चित्र
लौरिया-नन्दनगढ़	—	खाना चुगते हंसों से चित्रित अबेकस (अंड या गले) पर शेर की मूर्ति।
रामपुरवा तथा कोलुहा (बखर)	—	सिंह की मूर्ति
सांची तथा सारनाथ	—	सिंह की चार मूर्तियाँ। मूर्तियों के नीचे गोलाई पर चार चक्रों के मध्य हाथी, सिंह अश्व तथा बैल के चित्र अंकित हैं। नीचे का भाग उलटे कमल के आकार का है।
संकिसा	—	हाथी की मूर्ति

रामपुरवा	—	बैल की मूर्ति
लौरिया-अरराज	—	सिंह की मूर्ति

फाह्यान तथा ह्वेनसांग ने भी उपर्युक्त स्तम्भों के अतिरिक्त अशोक के अन्य स्तम्भ देखे थे। अभाग्यवश ये स्तम्भ अब प्राप्य नहीं हैं। ये निम्न थे :—

कपिल वस्तु (दो स्तम्भ)	—	सिंह की मूर्तियाँ
महासाल तथा वैसाली	—	सिंह की मूर्तियाँ
संकिसा	—	सिह की मूर्ति (आज जो मूर्ति भग्नावस्था में प्राप्त है वह हाथी की मूर्ति प्रतीत होती है। सम्भवतः यह मूर्ति सिंह की मूर्ति ही हो।
श्रावस्ती	—	बैल की मूर्ति
लुम्बनी	—	अश्व की मूर्ति
राजगृह	—	हाथी की मूर्ति

स्तम्भों की विशेषता :—

अशोक के स्तम्भों को उनकी सजावट के दृष्टिकोण से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है।

१. स्तम्भ शीर्ष; जिसपर सिंह, अश्व, हाथी तथा बृषभ की मूर्तियाँ एक अथवा कई एक साथ बनाई गई हैं।

२. अंड या गला; जो गोल है और चक्र, पशु, लता, पुष्प आदि से अलंकृत है।

३. ध्वज (स्तम्भ का तना); जो चिकना तथा चमकीला है और आधार की ओर से शीर्ष की ओर पतला होता चला गया है।

स्तम्भों के उपर्युक्त तीनों ही भागों के निर्माण मे अशोक के समय की उत्कृष्ट कला के दर्शन होते हैं।

१. स्तम्भ शीर्ष :—अशोक के स्तम्भों का शीर्ष अधिकतर सिह, हस्ति, बृपभ तथा अश्व मे से किसी एक पशु की मूर्ति से अलंकृत किया गया है। केवल सांची तथा सारनाथ के स्तम्भों पर ही चार सिहों की मूर्तियाँ निर्मित की गई हैं। उपर्युक्त चारों पशु महात्मा बुद्ध के जीवन की चार प्रमुख घटनाओं से सम्बन्धित हैं, यह प्रथम ही बताया जा चुका है। स्तम्भों पर इनकी उपस्थिति महात्मा बुद्ध के अस्तित्व को स्पष्ट करती है। महात्मा बुद्ध की आज्ञानुसार उनकी मूर्ति का निर्माण न कर, चिन्हों के द्वारा ही जिस प्रकार अशोक के कलाविदों ने बुद्ध के अस्तित्व का प्रदर्शन किया है, वह उनकी उत्कृष्ट विचार शीलता का

परिचायक है। पशु मूर्तियों के निर्माण में जिस कला की अनुपम निपुणता का प्रदर्शन किया गया है वह महान् है। सारनाथ स्तम्भ पर बनी चार सिंह-मूर्तियाँ तो अपनी स्वभाविकता में अद्वितीय हैं। इनकी पुष्ट नसों को अंकित करने तथा प्राकृतिक शौर्य के प्रदर्शन में कलाकार ने जिस कला का प्रदर्शन किया है वह अलौकिक हीं कहला सकती है। डा० स्मिथ तो इन सिह-मूर्तियों को विश्व की सर्वोच्च पशु-मूर्तियों में मानते हैं। इन मूर्तियों पर किया गया वज्रलेप आज भी आश्चर्य की वस्तु है। मूर्तियाँ आज भी उतनी ही चमकदार हैं जितनी आज से हजारों वर्ष पूर्व थीं। मूर्तियों का वज्रलेप इतना उच्च कोटि का है कि उसने मूर्तियों के पत्थर द्वारा निर्मित होने के सत्य में भी शंका उत्पन्न कर दी और अनेकों विद्वान् उन्हें बहुत काल तक धातु की बनी मानते रहे। आज बीसवी शताब्दी में भी कलाविदों तथा विद्वानों को भ्रम में डालने वाली मूर्तियों के कलाकार कितने महान् रहे होंगे इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है।

२. अण्ड या गला (एबेकस) :—अशोक के स्तम्भों का यह दूसरा महत्वपूर्ण भाग, अपनी कला और उसमें निहित विचार शीलता के साथ ही, उन समस्याओं के प्रति भी महत्वपूर्ण है जो पाश्चात्य विद्वानों की भ्रमात्मक धारणाओं के परिणाम स्वरूप उठ खड़ी हुई है। स्तम्भ के इस द्वितीय भाग का प्रयोग चक्र, पशु, पुष्प तथा लताओं के अंकित करने के लिये किया गया है। चक्र, महात्मा बुद्ध के प्रथम उपदेश का परिचायक है जिसे बौद्ध साहित्य मे धर्म-चक्र-परिवर्तन-सूत्र कहा गया है। पशुओं में हाथी, बैल, घोड़ा तथा सिह की महात्मा बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित मूर्तियाँ है। केवल लौरिया नन्दनगढ़ के स्तम्भ के अंड पर खाना चुगते हंसों की मूर्तियाँ अंकित हैं। चुगते हंस बौद्ध-सिद्धान्तों के अध्ययन में व्यस्त भिक्षुओं के परिचायक है। चक्र, पशु तथा पक्षी का चित्रण कर जैसे अशोक के कलाकारों ने संकेतों से तथा संक्षेप मे ही सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य तथा महात्मा बुद्ध की जीवन-घटनाओं को साकार रूप प्रदान कर दिया है। हंस का नीर-क्षीर विवेक भारतीय परम्पराओं में प्रसिद्ध ही है। वह नीर को त्याग क्षीर का पान कर ही अपनी क्षुधा की तृप्ति करता है। हंस के रूप में भिक्षु भी क्षीर के समान बौद्ध सिद्धान्तों को ग्रहण कर अपनी वास्तविक आध्यात्मिक क्षुधा शान्त करते हैं। इस भावना का चित्रण कर कलाकारों ने जहां बौद्ध धर्म की महत्ता का प्रदर्शन कर दिया है वहीं यह भी स्पष्ट कर दिया है कि बौद्ध धर्म का आधार वैदिक कालीन भारतीय संस्कृति ही है।

अशोक के स्तम्भों का यह दूसरा भाग घंटाकार प्रतीत होता है। यह घंटाकार आकृत परशिया के डेरियस कालीन स्तम्भों से मिलती है। परशिया के

स्तम्भों का सिरा घंटाकार है । इसी आधार पर पाश्चात्य विद्वान अशोक के स्तम्भों को परशिया की नकल मानते हैं । वे कहते हैं कि "अशोक के लेख परशिया के स्तम्भों पर अंकित हैं" । यह अवश्य है कि स्तम्भो के घंटाकार सिरों का निर्माण परशिया में प्रारम्भ हुआ किन्तु इसका यह अर्थ तो नही कि अशोक ने स्तम्भों का निर्माण कर परशिया का अनुकरण किया । अशोक ने स्तम्भों का निर्माण अपने उपदेशों को चिरञ्जीवी बनाने के हेतु किया था (स्त० ले० ७) । इस उद्देश्य की पूर्ति के प्रति जिन स्तम्भों का निर्माण किया गया उनपर उसने भारतीय संस्कृति को भी चित्रों में अंकित कर दिया । उसके स्तम्भों की अलंकार-विधि भी भारतीय है । स्तम्भ के अंड घंटाकार अवश्य प्रतीत होते हैं किन्तु वे घंटाकार हैं नहीं । घंटाकार आकृति वास्तव में उलटे कमल की आकृति है भारतीय परम्पराओं में कमल एक ऐसा स्वर्गीय उपहार है जो सरलता तथा पवित्रता से सम्बन्धित है । यह नारायण की नाभि से प्रस्फुटित माना गया है और इस पर विश्व-विधायक ब्रह्मा को बैठाया गया है । कमल को ही ब्रह्मा की पताका का चिन्ह माना जाता है । ब्राह्मण परम्पराओं के समान ही बौद्ध परम्पराओं में भी कमल को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । बौद्ध धर्मानुयायी कमल को महात्मा बुद्ध के उद्भव का लाक्षणिक मानते हैं । महात्मा बुद्ध ा कमल-सिंहासन भी नीचे की ओर झुकी पुष्प-पत्तियों से चित्रित किया गया है । बरहुत स्तूप के पूर्वी दरवाजे पर एक लोकपाल, गरुड़ की मूर्ति से अंकित एक पताका ले जाता हुआ दिखाया गया है । पताका पर कमल के फूल की पत्तियाँ नीचे की ओर झुकी हुई दिखाई गई है । नीचे की ओर झुकी पत्तियों के रूप में कमल पूर्णतया घंटाकार ही प्रतीत होता है । इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अशोक के स्तम्भ का अंड घंटाकार न होकर उलटे कमल की आकृति का है । किन्तु उलटे कमल से अभिप्राय क्या है ?

भारतीय परम्पराओं में उलटे कमल का अर्थ भी महत्वपूर्ण है । कमल स्वर्गीय पुष्प है । भारतीय परम्पराओं में आकाश स्वर्ग का परिचायक है । कमल सदैव आकाश की ओर मुख किये हुये खिलता है । उस पर ब्रह्मा का आसन है । इस आसन का निचला पीछे का भाग, जहाँ नाल से पंखुड़िया मिलती हैं, स्वर्ग से नीचे पृथ्वी का संकेत करता है । पृथ्वी माया से सम्बन्धित है । महायान बौद्ध तथा ब्राह्मण ग्रन्थ सदैव कमल की नाल से माया की समता करते है । अतः माया से सम्बन्धित पुष्प के निचले भाग की पृथ्वी से समता पूर्णतया न्याय-संगत है । पृथ्वी के प्राणियों को, प्रस्फुटित कमल के ऊपर ईश्वर का स्थान होने से-आसीन करना भारतीय परम्परा के विरुद्ध होता । अतः कमल को उलटा कर, पृथ्वी के परिचायक उसके इस निचले भाग पर ही, पृथ्वी की महान् विभूतियों

को आसीन करना, भारतीय परम्पराओं के अनुकूल ठहरता है। अशोक के कलाकारों ने इसी कारण उलटे कमल को पृथ्वी का परिचायक मानकर उसे अंड पर चित्रित किया और उसके ऊपर चिह्नों के रूप मे महात्मा बुद्ध को आसीन कर दिया। उलटे कमल पर महात्मा बुद्ध को आसीन करने में यह धारणा भी निहित है कि महात्मा बुद्ध माया-लिप्त पृथ्वी पर आसीन होकर भी माया से मुक्त है। अतः स्पष्ट है कि अशोक के स्तम्भों के अंड पर घंटाकार आकृति उलटा कमल है जो पूर्णतया भारतीय परम्पराओं से सम्बन्धित है। इस भारतीय भावना के प्रदर्शन को पाश्चात्य कला का अनुकरण मानना सत्य का गला घोंटना सा हो जाता है। वास्तव में भारतीय दर्शन तथा संस्कृति का जो कलात्मक प्रदर्शन हमे अशोक के स्तम्भों पर मिलता है वह अनूठा है। भारतीय भावनाओं का प्रदर्शन भी कलाकारों ने जिस प्रतीकवाद की शैली द्वारा किया है और उसमें जिस प्रकार जीवन डाल दिया है, वह कला के क्षेत्र में आज की शताब्दी में भी अनुकरणीय है। इस संबंध में श्री हवेल महोदय का मत महत्वपूर्ण है। वे कहते हैं कि यह प्रतीकवाद विशेषतया इतना भारतीय है और यह बौद्ध धर्म संबन्धित प्रारम्भिक कला में इतना अधिक विस्तृत है कि केवल (स्तम्भों की) घंटाकार आकृति (जो परशिया के स्तम्भों की भी है) के आकस्मिक साम्य से, अशोक के स्तम्भों को परशिया का अनुकरण मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता। सम्भवतः स्वयं परशिया ने यह भावना, कमलों के देश भारत से, कमलों के साथ प्राप्त की है। हवेल महोदय का यह मत इस मत की पूर्णतया पुष्टि कर देता है कि अशोक के स्तम्भ तथा उनकी कला पूर्णतया भारतीय है। इस कला की पूर्णता तथा सुन्दरता के संबन्ध में मार्शल महोदय का मत भी अपना विशेष स्थान रखता है। वे कहते हैं "शिल्पकला विज्ञान और कलात्मक शैली के रूप में (अशोक की कृतियाँ) सर्वसुन्दर शिल्प और चित्रकला के उत्कृष्ट प्रमाण हैं, जो भारत ने अब तक प्रसूत की और जिनका पार पाना कठिन है"।

ध्वज:—अशोक के स्तम्भों का यह तीसरा कलात्मक-अलंकार-विहीन भाग भी अपना अनोखा महत्व रखता है। यह भाग आधार से शीर्ष की ओर पतला होता चला गया है। आश्चर्य है कि स्तम्भ के बनावट की यह क्रिया, इतनी निपुणता है सम्पन्न की गई है कि कहीं पर लेश-मात्र भी अन्तर नहीं आने पाया है। उस काल की परिस्थितियों में जिस प्रकार कलाकारों ने, आज के युग में भी कठिन प्रतीत होने वाले इस कार्य को पूर्ण सफलता से सम्पन्न किया, वह उन के प्रति महानता की उपाधि हमसे बरबस छीन लेता है। स्तम्भ के इसी भाग पर

अशोक के अमर लेख उत्कीर्ण किये गये हैं। लेखों के उत्कीर्ण किये जाने का कार्य भी बड़ी निपुणता से सम्पन्न किया गया है। स्तम्भ शीर्ष तथा अंड के समान यह भाग भी वज्रलेप से मण्डित किया गया है। स्तम्भ का निचला भाग वज्र-लेप-विहीन है। यह वज्रलेप जितना स्वाभाविक है उतना ही दृढ़ भी। शताब्दियों से आँधी-पानी के आघात झेलता हुआ, यह वज्रलेप आज भी कल सा किया गया प्रतीत होता है। इसकी चमक आज के वैज्ञानिक युग को भी आश्चर्य चकित कर, उसके द्वारा निर्मित लेपों का, जैसे परिहास सा कर रही है।

अशोक के स्तम्भ एक ही पत्थर के टुकड़े के बने हुये हैं। इन स्तम्भों का निर्माण भी एक समस्या है। लगभग ५० फ़ीट लम्बे तथा लगभग ५० इञ्च व्यास के स्तम्भों के निर्माण के प्रति इससे कही अधिक बड़े टुकड़े की आवश्यकता पड़ती होगी। वर्तमान स्तम्भों का भार कनिघम महोदय के अनुसार लगभग ५० टन है। अत: स्पष्ट है कि स्तम्भ के निर्माण के प्रति इससे कहीं अधिकार भार का पत्थर का एक टुकड़ा रहा होगा। उस काल के सीमित वैज्ञानिक साधनों में, किस प्रकार इतना बड़ा पत्थर का टुकड़ा काटा जाता होगा, आज के युग में भी आश्चर्य की वस्तु है। और फिर किस प्रकार उसे गोल करते होंगे तथा नीचे से ऊपर की ओर सन्तुलित रूप से पतला करते होगे एवम् उसे अलंकृत करते होंगे, समझ में नही आता। इन समस्याओं की 'कठिनाई का अनुमान शम्स-ई-सिराज के वर्णन से लग जाता है।

शम्स–ई–सिराज ने फ़ीरोजशाह तुगलक द्वारा अशोक के एक स्तम्भ को टोपरा से दिल्ली ले जाने का विस्तृत वर्णन किया है। शम्स-ई-सिराज के अनुसार फ़ीरोजशाह ने स्तम्भ हटाने के प्रति दोआब के निवासियों तथा समस्त सैनिकों को टोपरा में एकत्र होने की आज्ञा दी थी। उसने वृहत मात्रा मे सेमल की रुई भी मंगवाई थी। यह रुई स्तम्भ के चारों ओर बिछा दी गई थी। स्तम्भ खोदने के उपरान्त उसे रुई पर लिटा दिया गया तथा उसके चारों ओर कच्ची खाल एवम् घास लपेट दी गई थी। स्तम्भ ले जाने के प्रति सुलतान ने ४२ पहियों की एक विशेष गाड़ी बनवाई थी। प्रत्येक पहिये पर रस्सियाँ बाँधी गई थीं। हजारों व्यक्तियों की सहायता से स्तम्भ गाड़ी पर रख दिया गया। गाड़ी खींचने के लिये प्रत्येक पहिये पर २०० व्यक्ति लगाये गये थे। (इस प्रकार गाड़ी खींचने के लिये ४२ × २०० = ८४०० व्यक्ति लगे थे)। स्तम्भ, गाड़ी द्वारा यमुना नदी तक ले जाया गया, जहाँ प्रथम ही २००० मन से ७००० मन तक नाज ढोने वाली बहुत सी नावें एकत्र थीं। नावों की सहायता से स्तम्भ फ़ीरोजा-बाद पहुंचाया गया। फ़ीरोजशाह की कठिनाइयों के विवरण से अशोक के समय

की कठिनाइयों का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। फ़ीरोजशाह को तो मैदान में ही स्तम्भ ले जाना पड़ा था, किन्तु अशोक को तो इन स्तम्भों के निर्माण के प्रति, स्तम्भ से बड़े पत्थर, पहाड़ों से लाने पड़े थे और सभी स्तम्भों को चुनार से जहाँ स्तम्भों का निर्माण होता था, भारत से विशाल देश के विभिन्न भागों में भेजना पड़ा था। अशोक के समय ने अपनी परिस्थितियों में जिस कुशलता तथा सफलता के साथ, इस असम्भव प्रतीत होने वाले कार्य को सम्भव बनाया उससे उसकी अपार क्षमता तथा परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने की आलौकिक दृढ़ता का सहज ही अनुमान लग जाता है। सम्भवतः इसी अपूर्व क्षमता तथा आलौकिक दृढ़ता की कल्पना कर अशोक से लगभग ६५० वर्ष उपरान्त फाह्यान पाटलिपुत्र में अशोक के राजप्रसाद की सुन्दरता पर मुग्ध हो अनायास ही कह उठा था "राजप्रसाद और कमरे जो अभी तक वैसे ही नगर के मध्य में स्थित हैं—यक्षों द्वारा बनाये गये थे······यह राजप्रसाद ऐसी सुन्दरता और सौन्दर्यता सहित बनाया गया है कि संसार की मानवीय कला इस प्रकार कभी नहीं बना सकती"। अतः स्पष्ट है कि अशोक कालीन कलाकार, जिनकी महान् कृतियों को ६५० वर्ष उपरान्त देखकर, फाह्यान, उन्हें देवता मानने की भूल कर बैठा था, वास्तव में महान् होंगे। उनकी क्षमता तथा भारतीय परम्पराओं एवम् विचारों को कला की तूलिका से व्यक्त करने की शक्ति आज के युग में भी अनुपम है।

नवाँ प्रकरण

महान् अशोक

महानता का आधार :—

श्री एच० जी० वेल्स महोदय अशोक को संसार का महानतम सम्राट् मानते हैं। किन्तु अशोक की यह महानतम की उपाधि न तो उसके सम्राट् के पद पर आधारित है और न उसके साम्राज्य की भौगोलिक सीमाओं पर। यह सत्य है अशोक ने फारस साम्राज्य की सीमा से लेकर मैसूर तक विस्तृत एक ऐसे विशाल भू-भाग पर राज्य किया, जिस पर अन्य किसी भारतीय सम्राट् ने शासन न किया, किन्तु अशोक के साम्राज्य की ये विशाल भौगोलिक सीमायें उसे महानता प्रदान करने के प्रति उत्तरदायी नहीं। उसकी महानता का आधार तो वे सिद्धान्त हैं जिनके द्वारा उसने इस विशाल साम्राज्य पर शासन किया तथा मानवीय स्तर पर लोक मंगलकारी कार्य किये। उसके स्वयं के कथनानुसार राजा का यश अथवा कीर्ति उसके साम्राज्य की सीमाओं पर निर्भर नहीं। उसका आधार और माप तो वह प्रगति है, जो लोग सुशासन के परिणाम स्वरूप प्राप्त करते हैं (शि० ले० १०)।

अशोक की शक्ति :—

अपने युग के अन्य शासकों की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं के विरुद्ध, साम्राज्य-विस्तार के प्रति अशोक की उदासीनता उसकी कायरता की प्रतीक नहीं। कलिंग की विजय इसका प्रमाण है। अपने शासन के प्रारम्भिक काल में अशोक भी एक कट्टर साम्राज्यवादी था। साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं की तृप्ति के प्रति उसे मानव का संहार करने में लेशमात्र भी संकोच न होता था। उसमें शक्ति थी, निश्चयात्मक दृढ़ता थी, चातुर्य था तथा सफल सैन्य-सञ्चालन की अपूर्व क्षमता थी। कलिंग की विजय में उसने अपने इन्ही गुणों का पूर्ण प्रदर्शन कर, सफलता पाई। यदि अशोक ने अपने इन्हीं गुणों का प्रदर्शन कर, विश्व-विजेता की उपाधि से अपने शौर्य को गौरवान्वित करने वाली

यवन सेनाओं को परास्त कर चरणों पर लोट दया की भिक्षा माँगने के प्रति वाध्य करने वाली मौर्य-वाहिनी का सञ्चालन किया होता, तो उसने सिकन्दर से भी विशाल साम्राज्य का निर्माण कर लिया होता। किन्तु कलिंग के रक्तपात ने उसके जीवन को ही बदल डाला। युद्ध के भीषण नर-संहार ने उसके हृदय मे छिपी मानवता को जागृत कर दिया और उसने सदैव के लिये साम्राज्य-विस्तार की लालसा से शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा कर ली (शि० ले० १३)। भेरी-घोष का स्थान धर्म-घोष ने ले लिया और अब सैनिक शक्ति के प्रदर्शन के स्थान पर धार्मिक उत्सवों का आयोजन प्रारम्भ हुआ (शि० ले० ४)। अशोक की मानवता धर्म-घोष की नीति को क्रियान्वित करने तथा इसके मंगलकारी भविष्य का निर्माण करने के प्रति इतनी व्यग्र हो उठी कि वह अशोक की वाणी में आदेश तथा प्रार्थना के मिश्रण से पुत्रों तथा पौत्रों की नीति का भी निश्चय करने का प्रयास करने लगी। अशोक ने स्पष्ट घोषणा की "कि मेरे पुत्र और पौत्र जो हों वे नया (देश) विजय करना अपना कर्त्तव्य न समझें। यदि कभी वे नया देश विजय करने में प्रवृत्त हों तो उन्हें शान्ति और नम्रता से काम लेना चाहिये और धर्म-विजय को ही यथार्थ विजय मानना चाहिये। उससे इस लोक और परलोक दोनों जगह सुख-लाभ होता है" (शि० ले० १३)।

क्या यह नीति घातक थी ?

अशोक द्वारा अहिसात्मक नीति की घोषणा तथा अपने पुत्रों एवम् पौत्रों के प्रति भी इसी नीति के पालन का उसका आदेश, अनेकों विद्वानों के मत में देश के प्रति घातक बना। श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल का मत है "यदि अशोक राजनीति में धर्म भीरु न बन जाता तो (बिन्दुसार के समय तक मौर्य साम्राज्य में शामिल होने से) बचे हुये (भारतीय) जनपदों का क्या होता यह अनुमान करना कठिन नही है। यदि वह अपने पूर्वजों की नीति को जारी रखता तो वह फ़ारस के सीमान्त से कन्याकुमारी तक समूचे जम्बूद्वीप को वस्तुतः एकक्षत्र राज्य के आधीन कर सकता था। वह आदर्श तब से आजतक चिरतार्थ नही हो पाया, इतिहास का एक विशेष सुयोग होने पर एक ऐसे मनुष्य के, जो स्वभाव से एक महन्त की गद्दी के लिये उपयुक्त था, अकस्मात् राजसिंहासन पर उपस्थित होने से (उस आदर्श की पूर्ति की) घटना शताब्दियों के प्रति नहीं सहस्राब्दियों के लिये पिछड़ गई"।

डा० देवदत्त रा० भण्डारकर भी अशोक की इस अहिंसात्मक नीति से सहमत नही हैं। उनकी धारणा है "यदि धर्म का भूत उसके मन पर सवार न

हो गया होता और उस भूत ने उसका पूर्णतया रूपान्तर न कर दिया होता तो मगध की अदम्य सामरिक वृत्ति और अद्भुत राजनीति ने भारत के दक्षिणी छोर के तामिल राज्यों और ताम्रपर्णी पर आक्रमण कर उन्हें आधीन कर ही दम लिया होता; और शायद वे तब तक शान्त न होती जब तक भारतवर्ष की सीमाओं के बाहर रोम की तरह एक साम्राज्य स्थापित न कर लेतीं।" भण्डारकर महोदय के अनुसार अशोक को अपनी शक्ति से लाभ उठाकर मगध साम्राज्य का संगठन दृढ़ तथा राजनीति को निश्चित कर देना चाहिये था। किन्तु उन्हें इसका बड़ा खेद है कि कलिंग-युद्ध के उपरान्त ही अशोक द्वारा नीति परिवर्तन का परिणाम "राजनीतिक दृष्टि से विनाशकारी हुआ......अशोक की नई नीति ने भारतवासियों की राष्ट्र निर्माण की कांक्षा और विश्व साम्राज्य के निर्माण की भावनाओं को मार दिया.........ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक की धर्म-चेष्टाओं से भारतवर्ष की राष्ट्रीयता और राजनीतिक गौरव नष्ट हो गया"।

श्री जायसवाल तथा श्री भण्डारकर, जैसा कि उनके मतों से स्पष्ट है अशोक पर निम्न दो प्रमुख आरोप लगाते हैं :—

(क) अशोक ने मगध की सामरिक वृत्ति तथा राजनीतिक प्रतिभा को रोम के सदृश एक साम्राज्य का निर्णय न कर नष्ट कर दिया। परिणाम स्वरूप सामरिक शक्ति के ह्रास के साथ राजनीतिक संगठन दृढ़ होने के स्थान पर छिन्न-भिन्न हो गया और विदेशी आक्रमणों के प्रारम्भ होने के साथ भारत की दासता का इतिहास प्रारम्भ हो गया।

(ख) अशोक की अहिंसात्मक नीति के परिणाम स्वरूप राजनीतिक दुर्बलता ने राष्ट्रीयता की भावना का विकास न होने दिया।

(क) श्री जायसवाल तथा श्री भण्डाकर का प्रथम आरोप इस धारणा पर आधारित है कि सेना का कार्य केवल नवीन देशों की विजय करना ही है और राजनीतिक संगठन की दृढ़ता केवल एक विशाल साम्राज्य के निर्माण पर आधारित है। सम्भवतः आदरणीय विद्वानों की यह धारणा उन परिस्थितियों का परिणाम है जिनका उन्होंने अनुभव किया और जिसकी प्रतिक्रिया ही इस आरोप में प्रतिबिम्बित प्रतीत होती है। उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की वेदी पर परतन्त्र भारत को घुटते देखा था। उन्होंने देखा था कि किस प्रकार ब्रिटिश सामरिक शक्ति ने अपने राजनीतिक प्रभुत्व की विश्व में इस प्रकार स्थापना कर रखी थी कि उस साम्राज्य में कभी सूर्यास्त ही न होता था और उनकी इस प्रतिभा के सामने समस्त विश्व आत्म समर्पण करने को सहज ही प्रस्तुत

रहता था। ब्रिटिश जाति के इतिहास में उनका यह युग उनके गौरव की पराकाष्ठा का युग है। ब्रिटिश जाति के इस गौरव को देखकर श्री जायसवाल तथा श्री भण्डारकर महोदय की आत्मा काँप उठती है और वे भी भारत के प्रति ऐसे ही गौरव की प्राप्ति के प्रति व्यग्र हो उठते हैं। उन्हें अतीत में अशोक का काल इस गौरव की प्राप्ति में समर्थ प्रतीत होता है किन्तु अशोक इस गौरव की प्राप्ति का प्रयास नही करता। उन्हें यह सत्य व्याकुल कर देता है और वे शीघ्र ही अपनी व्यथित आत्मा की तृप्ति के प्रति अशोक पर इस गौरव के प्राप्त न करने का भयंकर आरोप लगा देते हैं। किन्तु आरोप लगाते समय वे उन परम्पराओं को, उन परिस्थितियों को तथा वास्तविकताओं को भुला सा देते हैं जो अशोक के युग के साथ जुड़ी हुई हैं।

अशोक का युग राजतन्त्र का युग अवश्य था, किन्तु यह राजतन्त्र उन परम्पराओं से नियन्त्रित था जिन्हें वैदिक काल ने जन्म दिया था। राजा की शक्ति असीम अवश्य थी किन्तु प्रजा की शक्ति उसे भी नष्ट कर सकती थी। राजा को प्रजा की भावनाओ का प्रतिनिधित्व करने वाले आमात्यों की इच्छानुसार कार्य करना पड़ता था और ऐसा न करने पर उसका स्वयं नाश कर दिया जाता था। इतिहास इसका प्रमाण है। स्वयं अशोक को सिंहासन इसी कारण प्राप्त हो सका था कि उसके पक्ष में जनमत तथा आमात्य थे। जनमत के अभाव मे, बिन्दुसार की ज्येष्ठ पुत्र सुमन को सिंहासनारूढ़ करने की उत्कट इच्छा, भी सफल न हो सकी। स्वयं अशोक ने जब अपने दान से राजकोष रिक्त करना प्रारम्भ कर दिया, उस समय भी अशोक की इच्छा को आमात्यों की इच्छा के आगे झुकना पड़ा। आमात्यों ने युवराज द्वारा कोषाध्यक्ष को अशोक की दान सम्बन्धी आज्ञाओं की पूर्ति न करने का आदेश दिला दिया था और कोषाध्यक्ष ने भी वही किया जिसे आमात्य चाहते थे। जनमत तथा आमात्यों की यह शक्ति प्राचीन भारत के सम्पूर्ण काल मे विद्यमान दिखाई देती है। गुप्त काल मे रामगुप्त द्वारा साम्राज्य की प्रतिभा नष्ट होने पर, उसका आमात्यों द्वारा पदच्युत किया जाना और उसके स्थान पर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सिंहासन पर आरूढ़ किया जाना भी आमात्यों की शक्ति का परिचायक है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने भी समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी आमात्यों की अनुमति से ही बनाया था यद्यपि वह ज्येष्ठ पुत्र न होने के नाते इस पद का अधिकारी न था। प्राचीन काल के अंतिम चरण में भी हम इसी परम्परा को पाते हैं। प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के उपरान्त आमात्यों ने ही राज्यवर्धन को सिंहासन प्रदान किया था और फिर उसकी मृत्यु के उपरान्त उन्होंने ही हर्ष को सिंहा-

सनारूढ़ किया था। अत: स्पष्ट है कि प्राचीन काल में, किसी भी शासक में, अपनी इच्छानुसार राज्य की सामरिक वृत्ति तथा राजनीतिक प्रतिभा नाश करने की शक्ति न थी। यदि शासक ऐसा प्रयास करता तो युग की परम्परा स्वयं उसका नाश कर देती। अशोक की धार्मिक नीति से भी यदि साम्राज्य की सामरिक वृत्ति का ह्रास हुआ होता तथा राजनीतिक प्रतिभा को ठेस लगी होती, तो निश्चय ही चाणक्य के उत्तराधिकारियों ने नन्दवंश के समान ही अशोक तथा उसके वश का नाश कर डाला होता।

तो फिर क्या अशोक ने मगध की सामरिक शक्ति तथा राजनीतिक प्रतिभा का नाश न ी किया? निश्चय ही नहीं किया। यह अवश्य है कि उसने शक्ति होते हुये भी ब्रिटिश जाति के समान एक विश्व व्यापी साम्राज्य का निर्माण नही किया, किन्तु यदि वह ऐसा करता भी तो उस काल की परिस्थितियों में वह कभी सफल न होता। शक्तिशाली सेनाओं द्वारा वह स्वतन्त्र राज्यों का नाश कर सकता था, उन्हें आत्मसमर्पण करने के लिये वाध्य कर सकता था, किन्तु यातायात सम्बन्धी साधनों के अभाव में वह उन पर अधिकार बनाये रखने में सफल न होता। सिकन्दर के विशाल साम्राज्य के समान उसका साम्राज्य भी निर्मित होने के साथ ही विद्रोहों की अग्नि में जलकर भस्म हो जाता और आज जो स्थान भारत के इतिहास में यूनानियों का है वही स्थान विश्व के इतिहास मे भारत का होता। अशोक, समय की इन दुर्बलताओं से परिचित था। वह सैनिक विजय की निरर्थकता को भी जानता था। इसी कारण उसने अपने साम्राज्य का और अधिक विस्तार नहीं किया। और फिर रोम साम्राज्य से अशोक के साम्राज्य की तुलना करना पूर्णतया गलत है। रोम साम्राज्य अपने उत्कर्ष की पराकाष्ठा में भी अशोक के साम्राज्य से कम था। उसकी जन-संख्या तथा समृद्धि तो भारत के मुकाबले कही कम थी। रोम के इतिहासकार अपनी समृद्धि की पराकाष्ठा पर भी सदैव इस कारण रोते रहे कि भारत व्यापार द्वारा उनका सोना बटोरे लिये जाता है। अत: रोम के सदृश भारतीय साम्राज्य की लालसा अनुचित है। भारतीय साम्राज्य तो रोम से कहीं बड़ा तथा समृद्धिशाली था। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अशोक ने मगध की सामारिक वृत्ति का प्रयोग और अधिक सम्राज्य का विस्तार करने के प्रति न कर उसके नाश का मार्ग कुंठित कर दिया। उसने मगध की शक्ति को एक क्षणिक स्वप्निल आनन्द के प्रति बलिदान नहीं किया। किन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि उसने सेना के महत्व को अस्तित्वहीन मान उसे धर्म-प्रचारकों की सेना में परिणित कर दिया। यदि अशोक ने ऐसा किया होता तो अवश्य हम

उसे मगध की सामरिक वृत्ति के नाश के प्रति उत्तरदायी मानते। इतिहास साक्षी है कि अशोक ने अपनी सेना को धर्म-प्रचारकों में कभी परिवर्तित नहीं किया। वह उसके जीवन पर्यन्त शक्तिशाली बनी रही और उसे इसकी शक्ति पर गर्व भी था। वह शि० ले० १३ में निरन्तर विद्रोह करने वाली आटविक जातियों से कहता है कि वे उनके प्रति दया-दृष्टि रखते हैं, उन्हें धर्म में लाने का प्रयत्न करते हैं और उनके क्षमायोग्य अपराधों को क्षमा करने के प्रति भी प्रस्तुत हैं, किन्तु यदि वे धर्मानुशासन की अवहेलना करेंगे तो उससे सम्राट को बड़ा पश्चाताप होगा। सम्राट का यह कथन उसके पश्चाताप के परिणाम का द्योतक है। वे अप्रत्यक्ष रूप से यह कहते प्रतीत होते हैं कि यदि वे अपने विद्रोहात्मक कार्यों का त्याग न करेंगे, तो कलिंग को विजय करने वाली महान् सेना कलिग के समान ही उनके अस्तित्व का नाश कर देगी। यह भी सुप्रकाशित है कि अशोक के समय में तक्षशिला के पौरों ने विद्रोह किया था और अशोक ने तुरन्त ही एक विशाल सेना के साथ कुणाल को तक्षशिला-विद्रोह को दमन करने के लिये भेजा था। अशोक के शासन की यह घटना भी इस सत्य की पुष्टि कर देती है कि अशोक ने बौद्ध धर्मानुयायी होने के उपरान्त भी अपनी सैनिक शक्ति को बनाये रक्खा था। अन्तर केवल इस शक्ति के प्रयोग में हो गया था। जहाँ पहले इस शक्ति का प्रयोग नवीन देशों की विजय के लिये होता था वहाँ अब इसका प्रयोग साम्राज्य की रक्षा के लिये होने लगा था। यदि सेना का रक्षात्मक कार्य सैनिक शक्ति का पतन है तो अवश्य अशोक इस पतन के लिये उत्तरदायी है। इसी दृष्टिकोण से भारत की आज की नीति भी दूषित है। किन्तु आक्रमणात्मक नीति पर आधारित आज की शक्तियाँ किस प्रकार नष्ट हो रही हैं, किस प्रकार सैनिक वृत्ति, उनके देशों की आन्तरिक अशान्ति का कारण बन, उनके स्वतन्त्र अस्तित्व को परतन्त्रता की ओर अग्रसर कर रही हैं, देखते हुए यह मानने को विवश होना पड़ता है कि देश की समृद्धि तथा स्थायित्व के प्रति सेना की शक्ति का रक्षात्मक स्तर पर संगठन ही उचित है। अशोक ने भी इसी नीति को अपनाया था और वह भी उस समय, जब उसका साम्राज्य पर्याप्त रूप से विशाल हो चुका था और पराकाष्ठा की उस सीमा पर पहुंच चुका था जिसके आगे बढ़ना समय की माँग को ठुकराना होता और निश्चित था कि समय इस दुःसाहस को स्वयं ऐसी ठोकर मारता कि जो कुछ था भी वह भी शेष न रहता। भविष्य में भी जिसने समय की माँग को ठुकराने का साहस किया, समय ने उसे ही ठुकरा दिया। अलाउद्दीन, औरंगजेब तथा नेपोलियन ऐसे ही व्यक्ति हैं जिन्हें उनके दुःसाहस के परिणाम स्वरूप

समय ने ठुकराया और उनका साम्राज्य उनके जीकन काल में ही नष्ट हो गया, साथ ही उन सैनिकों का बलिदान भी व्यर्थ गया जिन्होंने उस साम्राज्य के निर्माण में अपना जीवन लगा दिया था। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अशोक ने एक विश्व-व्यापी साम्राज्य का निर्माण न कर मगध की सैनिक शक्ति का विनाश तो नहीं किया वरन् उसे विनाश के पथ पर अग्रसर होने से बचा अवश्य लिया।

राजनीतिक संगठन की समस्या पर विचार करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि राजनीतिक संगठन की दृढ़ता, शासनप्रणाली की मानवोचित पूर्णता के साथ, सेना के रक्षात्मक स्वरूप पर आधारित है न कि आक्रमणात्मक नीति पर। आक्रमणात्मक नीति का परिणाम युद्ध है और रक्तिम हत्यायों की नृशंस घटनाओं के प्रतीक युद्ध का परिणाम वह नैतिक पतन है जो मानव को दानव बना देता है। राजनीतिक संगठन राष्ट्र की मानवीय व्यवस्था का स्वरूप है। वह मानव की व्यवस्थित प्रतिभा का प्रदर्शन है। दानवत्व में यह मानवीय क्षमता नही। अशोक का राजनीतिक संगठन भी इसी मानवीय भावना पर आधारित था।

अशोक से पूर्व चन्द्रगुप्त तथा बिन्दुसार का शासन-काल मौर्य साम्राज्य के निर्माण का काल था। इस काल की राजनीति का स्वरूप एक ऐसी वैश्या का स्वरूप था जो अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिये समयानुसार शृंगार में परिवर्तन करती रहती है। मौर्य शसक भी अभी तक नवीन स्वतन्त्र प्रदेशों तथा प्रजातन्त्रात्मक राज्यों और उनके संघों को नष्ट करने में व्यस्त थे। इस कार्य के प्रति उन्हें जिन अमानुषिक और अनैतिक साधनों का प्रयोग करना पड़ा था, कौटिल्य का अर्थशास्त्र उसका प्रमाण है। इन परिस्थितियों में मौर्य-राजनीति का कोई निश्चयात्मक स्वरूप न था और जो कुछ था भी वह स्थायित्व विहीन था। यह दशा अधिक काल तक न चल सकती थी। कलिंग की विजय कर, अशोक ने मौर्य वंश की साम्राज्यवादी सिद्धान्तों पर आधारित राजनीति को और भी स्पष्ट कर दिया था। प्रथम तो पूर्व पराजित राज्य वैसे ही मौर्य शासकों की घृणित चाणक्य-भेद नीति से असन्तुष्ट थे और फिर कलिंग-विजय ने अविजित राज्यों को भी अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये सतर्क कर दिया था। भारत की सीमान्त यवन शक्तियाँ भी अवश्य सतर्क हो उठी होंगी। इस काल की परिस्थितियों में अविश्वास पर आधारित भय तथा आतंक का वही वातावरण उपस्थित हो गया होगा जो नेपोलियन के समकालीन यूरोप में उपस्थित था। नेपोलियन ने इस वातावरण को समझने की भयंकर भूल की। परिणाम-

स्वरूप विजित तथा अविजित सभी राज्यों ने सामूहिक रूप से मिलकर उसके अस्तित्व का नाश कर दिया। फ्रान्सीसी साम्राज्य का नाश तो हुआ ही साथ ही नेपोलियन को भी अपने जीवन के अन्तिम दिन बन्दी के रूप में काटने पड़े। किन्तु अशोक ने वातावरण की गम्भीरता का अनुभव कर लिया था। वह इस सत्य से परिचित हो गया था कि यदि राजनीतिक स्तर पर शान्ति और विश्वास का वातावरण शीघ्र ही निर्मित न किया गया तो विद्रोह अवश्यमभावी है और इन विद्रोहों की आँधी में मौर्य साम्राज्य भी डाँवाडोल हो सकता है। कलिंग-युद्ध में शक्ति के प्रदर्शन से जो नर-संहार हुआ था, उसने भी अशोक को मानवीय स्तर पर शक्ति की क्षमता के विषय में, सोचने के लिये बाध्य कर दिया था। अशोक कहता है "अढ़ाई वर्ष से अधिक हुये कि मैं उपासक हुआ हूँ पर अधिक उद्योग नही किया (पर) एक वर्ष से अधिक हुए जब से मै संघ मैं आया हूँ तब से मैने खूब उद्योग किया है" (मास्की लघु शि० ले० १)। अशोक के इस कथन से स्पष्ट है कि कलिग विजय के उपरान्त अशोक के दृष्टिकोण में जो परिवर्तन हुआ; वह अनायास ही न हो गया। बौद्ध उपासक बनने के उपरान्त भी उसने पराक्रम नहीं किया। क्यों? सम्भवतः उसके मस्तिष्क में शक्ति और शान्ति की नीति के प्रदर्शन की क्षमता पर संवर्ष उपासक बनने और पराक्रम करने के मध्य के काल में लगभग डेढ़ वर्ष तक चलता रहा। अंत में मानवता ने विजय पाई और उसने मानवता पर आधारित शान्ति तथा क्षमा की नीति की घोषणा कर, उसे व्यावहारिक रूप प्रदान करने के प्रति पूर्ण पराक्रम प्रारम्भ कर दिया। उसकी इस घोषणा के साथ ही अविश्वास के बादल फट गये। साम्राज्य की नीति निश्चित हो गई और वह दुर्बलता जो साम्राज्यवादी नीति के प्रतिपल परिवर्तित होते स्वरूप का परिणाम थी, दृढ़ता में परिणित हो गई। जो राज्य इस घोषणा से पूर्व सतर्क थे और मौर्य साम्राज्य को अपने शत्रु के रूप में देखते थे, वे अब मौर्य साम्राज्य के मित्र ही नहीं वरन् सम्राट् अशोक के धर्मानुशासन के अनुसार आचरण करने में गर्व अनुभव करने लगे। स्वयं अशोक का कथन इस सत्य की पुष्टि कर देता है। वह कहता है "यह धर्म विजय देवताओं के प्रिय ने यहाँ (अपने राज्य में) तथा ६ सौ योजन दूर पड़ोसी राज्यों में प्राप्त की है, जहाँ अन्तियोक नाम यवन राजा राज्य करता है और उस अन्तियोक के बाद तुरमय, अन्तिकिन, मक और अलिक सुन्दर नाम के चार राजा राज्य करते हैं और उन्होंने अपने राज्य के नीचे (दक्खिन में) चोड, पाण्डय तथा ताम्रपर्णी में भी धर्म विजय प्राप्त की है। उसी प्रकार हिदराज के राज्य में तथा राजविषयों में यवनों में काम्बोजों में, नाभक नाभपक्तियों में, भोजों में, पितिनिकों में, आन्ध्रों

में और पुलिन्दों में सब जगह लोग देवताओं के प्रिय का धर्मानुशासन अनुसरण करते हैं और अनुसरण करेगे। जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं पहुंच सकते वहाँ-वहाँ भी लोग देवताओं के प्रिय का धर्माचरण, धर्मविधान और धर्मानुशासन सुन कर धर्म के अनुसार आचरण करते हैं और भविष्य में आचरण करेंगे" (शि० ले० १३)। अशोक के इस कथन से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि उसकी बदली हुई नीति ने मगध का राजनीतिक प्रभुत्व सम्पूर्ण भारत पर ही नहीं वरन् भारत से बाहर ६०० सौ कोस तक स्थापित कर दिया। उसकी शान्त और अहिंसा की नीति ने विद्रोही तत्वों को भी जहाँ मौर्य साम्राज्य का शुभचिन्तक बना दिया, वही भारतीय संस्कृति विदेशों में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण कर, विदेशियों को भी अपने रंग में रंगने लगी। जब शान्तपूर्ण उपायों से ही अशोक ने अपने साम्राज्य मे शान्ति की स्थापना कर दी और वाह्य शक्तियों के समान भारत के अविजित राज्यों को भी अपने धर्मानुशासन के अनुसार आचरण करने के लिये स्वतः ही प्रेरित कर दिया, तो फिर इसी कार्य के प्रति युद्ध द्वारा अविजित राज्यों को जीतने की क्या आवश्यकता थी? भारत का राजनीति संगठन स्वतः ही दृढ़ हो गया था और यह दृढ़ता शक्ति द्वारा प्राप्त दृढ़ता से कही उच्च थी। शक्ति द्वारा प्राप्त राजनीतिक दृढ़ता शरीर पर ही अधिकार की स्थापना करती है, भावनाओं को विजय नहीं कर सकती। अशोक की राजनीति ने भावनाओं पर विजय प्राप्त की और शरीर तो स्वतः ही भावनाओं के अनुकूल अशोक द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुयायी बन गया। अतः स्पष्ट है कि अशोक की नीति से मगध के राजनीतिक प्रभुत्व का भी ह्रास नही हुआ वरन् वह पूर्णतया दृढ़ हो गया। इसने जहाँ भारत को एक दृढ़ राजनीतिक एकता प्रदान की वही इसने भारत के लिये एक ऐसे विशाल सांस्कृतिक अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्य का निर्माण किया जिसका प्रभुत्व न मिटा है और न कभी मिटेगा ही।

जहाँ तक अशोक के उपरान्त भारत पर विदेशी शक्तियों के आक्रमण का प्रश्न है, अशोक इन आक्रमणों के लिये उत्तरदायी नही माना जा सकता। जब तक वह जीवित रहा, किसी ने भी भारत की ओर आँख उठाने का साहस न किया। उसकी मृत्यु के उपरान्त यदि उसके उत्तराधिकारी उसकी नीति का कुशलता से संचालन न कर सके तो इसमें अशोक का क्या दोष हैं? दोष तो उसके उत्तराधिकारियों का है जिन्होंने अशोक की नीति को समझने का प्रयास न किया। अशोक ने क्षमा और दण्डके जिस संतुलित रूप की स्थापना की थी वह राजनीति का एक नया अध्याय था। अशोक के उत्तराधिकारियों ने क्षमा को मुख्यता प्रदान कर अशोक से भी आगे बढ़ना चाहा, किन्तु सन्तुलन नष्ट हो जाने

से अपना ही नाश कर बैठे। इसके अतिरिक्त अशोक का विशाल साम्राज्य अपने काल की यातायात सम्बन्धी परिस्थितियों में अधिक समय तक टिक भी न सकता था। अशोक की नीति ही उसे एकता के सूत्र में बाँधे रह सकी थी। और फिर भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर भी अशोक के उपरान्त ही अशान्ति के बादल मँडराने लगे थे। राजनीतिक वातावरण डांवाडोल हो गया था। मध्य-एशिया की बर्बर जातियाँ शक, हूण आदि बारी-बारी से पूर्व की ओर बढ़ती चली आ रही थीं। इन्होंने भारत पर आक्रमण किये, इन्हें आंशिक सफलता भी प्राप्त हुई किन्तु अन्त में इन्हें परास्त कर दिया गया। इन्होंने न केवल भारतीय शक्ति के आगे घुटने ही टेक दिये वरन् भारतीय संस्कृति को भी अपनाकर भारतीय बन गये। अतः शक, पल्लव, हूण तथा गुरजर जातियों के आक्रमण और उनकी विजय को भारत की दासता के इतिहास का प्रारम्भ नहीं माना जा सकता। यदि हम विदेशियों के आक्रमण और उनकी आंशिक सफलताओं को ही भारत की दासता के इतिहास का प्रारम्भ मान लेते हैं तो हमें इस इतिहास का प्रारम्भ सिकन्दर की भारतीय विजय से मानना चाहिये। सिकन्दर के आक्रमण से हम इस दासता के इतिहास का प्रारम्भ इसा कारण तो नहीं मानते हैं क्योंकि सिकन्दर के भारतीय उपनवेशों का मौर्यों ने अन्त कर दिया था। इसी प्रकार यवन शक तथा हूण आदि विदेशी आक्रमणकारियों का भी शुंग, सातवाहन तथा गुप्त आदि राजवंशों के शासकों ने अन्त कर भारत की स्वतन्त्र सत्ता को बनाये रक्खा था। इस प्रकार विदेशी शक्तियों के आक्रमण और उनकी प्रारम्भिक सफलताओं को ही—जब कि वे भारत की स्वतन्त्र सत्ता के अस्तित्व का नाश करना तो दूर वे स्वयं भारतीय संस्कृति में विलीन हो गये—दासता के इतिहास का प्रारम्भ मान लेना भयंकर भूल है। जहाँ तक अशोक के उपरान्त विदेशी शक्तियों की प्रारम्भिक अथवा आंशिक सफलता के कारणों का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में उन विद्वानों से जो अशोक की धार्मिक नीति को इसका कारण मानते हैं एक प्रश्न पूछना है—सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व तो भारत की नीति अशोक की अहिंसा पर आधारित न होकर शक्ति पर आधारित थी, फिर क्यों सिकन्दर के विरुद्ध भारतीय पराजित हुये? निश्चय ही इस प्रश्न का उत्तर होगा—सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत में एक दृढ़ तथा संगठित केन्द्रीय शक्ति का अभाव। तो क्या यही उत्तर अशोक के उपरान्त विदेशियों की विजय के कारणों के लिये उचित नहीं है? इतिहास प्रमाण है कि जैसे ही उत्तरी तथा दक्खिनी भारत में शुंग, सातवाहन तथा गुप्त आदि की

संगठित शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ, विदेशी शक्तियाँ जिन्होंने संगठित शक्तियों के अभाव में अपना अस्तित्व बना लिया था, नष्ट कर दी गईं।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि भारत पर यवन, शक, पल्लव, हूण, गुरजर आदि विदेशी शक्तियों के आक्रमण और उनकी सफलता का कारण भारत में एक दृढ़ तथा संगठित केन्द्रीय शक्ति का अभाव था। इस संगठित केन्द्रीय शक्ति के अभाव का कारण भी भारत की विशालता और इस विशालता पर विजय दिलाने वाले यातायात सम्बन्धी साधनों का अभाव था। इसके साथ ही भारत की दासता के इतिहास के प्रारम्भ का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण हमारी वह धार्मिक अनुदार तथा संकीर्ण नीति भी है जिसने हमें जातियों के कठोर बन्धन में जकड़कर ऊँच-नीच के भेद-भाव से हमारी एकता नष्ट कर दी। हमारा धर्म, जीवन के व्यावहारिक यथा प्रगतिशील नियमों पर आधारित न होकर, उन रूढ़ियों का दास हो गया जिन्होंने हमारे अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क का नाश कर, हमारे ज्ञान को ही सीमित कर दिया। परिणाम स्वरूप पुरानी लकीर के फकीर भारतीय न तो प्रगतिवादी मुसलमानों से देश की रक्षा ही कर सके और न उन्हें भारतीय संस्कृति का अनुयायी ही बना सके। यदि भारत ने अशोक के उपरान्त भी उसकी उदार धार्मिक नीति को अपनाया होता और उसके द्वारा स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क को बनाये रक्खा होता, तो भारत न तो जातियों की कटु दृढ़ता में अपनी धार्मिक एकता ही खो देता और न अपने ज्ञान को ही सीमित कर लेता। वास्तव में भारत की दासता के इतिहास का प्रारम्भ अशोक की अहिंसात्मक धार्मिक नीति के कारण नहीं वरन् उसकी नीति का त्याग करने से होता है।

(ख) श्री जायसवाल तथा श्री भण्डारकर का अशोक पर द्वितीय आरोप उसके द्वारा अपनी राजनीतिक दुर्बलता से राष्ट्रीयता की भावना का विकास न करना है। आदरणीय विद्वानों का यह आरोप भी इस धारणा पर आधारित है कि राष्ट्रीयता दृढ़ राजनीतिक संगठन पर आधारित है। किन्तु यह धारणा भ्रमात्मक है। यदि राष्ट्रीयता राजनीतिक दृढ़ता पर आधारित होती तो लगभग दो सौ वर्षों तक एक दृढ़ राजनीतिक सत्ता के अन्तर्गत, साथ-साथ रहने के उपरान्त भी, भारत राष्ट्रीयता के प्रश्न पर दो भागों में विभाजित न होता। इतिहास की यह घटना सिद्ध कर देती है कि राष्ट्रीयता की भावना के विकास का आधार राजनीतिक न होकर भावनाओं की एकता है। भावनाओं की एकरूपता धर्म तथा भाषा की एक रूपता पर बहुत अंशों में निर्भर करती है।

अशोक से पूर्व भारत में विभिन्न धर्म थे और विभिन्न बोलियाँ बोली

जाती थीं। यह विभिन्नता भावनाओं की एकरूपता के निर्माण में बाधक बन रही थी। धर्म के नाम पर जहाँ ब्राह्मणों ने मनुष्यों की जन्मजात मानवीय समानता का हरण कर ऊँच-नीच की भावना से मनुष्यों के हृदय में मनुष्यों के प्रति घृणा उत्पन्न कर दी थी, वहीं विभिन्न भाषाओं ने लोगों के पारस्परिक सम्पर्क को सीमित कर दिया था। अशोक ने बौद्ध धर्म का प्रचार कर जहाँ समस्त भारत को एक धर्म का अनुयायी बना दिया, वहीं उसने धर्म पर आधारित मानवीय असमानता को भी नष्ट कर दिया। अब भारतीय, भारतीय से घृणा नही प्रेम करने लगा। उसने अपने धर्म के प्रचार का मध्यम पाली को बनाया था। परिणाम स्वरूप सम्पूर्ण भारत में पाली का प्रचार हुआ और इस प्रचार के साथ पाली एक ऐसी भाषा बन गई जिसके माध्यम से समस्त भारत ही अपनी भावनाओं का आदान-प्रदान करने लगा। धर्म तथा भाषा की यह एकरूपता जो अशोक की नीति का परिणाम थी क्या राष्ट्रीयता के विकास की परिचायक नहीं? और फिर दण्डासमता तथा व्यवहार-समता की उसकी नीति ने तो इस राष्ट्रीयता की भावना के विकास को जो प्रेरणा दी होगी वह प्राचीन काल में अन्यत्र दिखाई नहीं देती। अतः स्पष्ट है कि अशोक की नीति ने राष्ट्रीयता की भावना को प्रेरणा प्रदान कर दृढ़ किया। इस प्रकार श्री जायसवाल तथा श्री भण्डारकर के दोनों ही आरोप निर्मूल सिद्ध हो जाते हैं। साथ ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि अशोक ने जिस अहिंसा की नीति को अपनाया था उसने भारत का विश्व में वह स्थान बना दिया, जिसे क्रूर समय कभी भी न मिटा सका और न मिटा सकेगा।

विश्व शान्ति का अग्रदूत :—

विश्व के इतिहास में अशोक प्रथम व्यक्ति है जिसने अपनी अहिंसात्मक नीति को व्यावहारिक रूप प्रदान करने का प्रयास किया। अशोक से पूर्व और बाद को आज तक, संसार अपनी समस्याओं को युद्ध द्वारा ही सुलझाने का प्रयास करता रहा है। किन्तु अपने इस प्रयास में उसने मानवता का संहार कर नवीन युद्धों का ही बीजारोपण किया है। वह आजतक निश्चयात्मक रूप से अपनी समस्याओं को सुलझाने का साधन न खोज पाया है। अशोक प्रथम व्यक्ति था। जिसने संसार की समस्याओं को सुलझाने के प्रति युद्ध को समाज से बहिष्कृत करने की सर्व प्रथम घोषणा की। अपने इस कार्य में वह अपने समय से कहीं आगे था और आज का विश्व भी उस उद्देश्य की प्राप्ति में अभी बहुत पीछे है। पहले लीग आफ नेशन्स और अब यू० एन० ओ० का निर्माण भी

युद्धों का बहिष्कार करने के लिये हुआ है । आज की भारतीय राजनीति भ अशोक के सिद्धान्तों पर ही आधारित है । अशोक की जिस नीति को ज्योतिर्षा वर्ग ने मूर्खतापूर्ण मानकर उसके सञ्चालक को भी मोहात्मा (मूर्ख) की उपाधि से आभूषित किया, आज उसी की नीति में युद्धों से जर्जर संसार शान्ति-स्थली के दर्शन कर रहा है । आज भी जो राष्ट्र "नित्यमुद्यतदण्डः स्यात्" (राजा अप ो पण्ड को सदा उद्यत रक्खे) के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं, मानवता उनसे घृणा करती है । वह तो चाहती है कि आज का विश्व युद्धों के बहिष्कार की घोषणा कर दे । यू० एन० ओ० भी इसी उद्देश्य की पूर्ति में संलग्न है । अशोक की महानता इस उद्देश्य को सर्व प्रथम विचारने और इसी के आधार पर भारतीय राजनीति का निर्माण करने में है । वास्तव में अशोक विश्व-शान्ति का अग्रदूत था ।

अशोक की व्यावहारिकता:—

अशोक केवल कोरा आदर्शवादी ही न था । वह समाज से युद्धों के बहिष्कार की घोषणा को ही पर्याप्त न मानता था । इस घोषणा द्वारा तो वह विश्व से "बसुधैव कुटुम्बकम्' के महान् आदर्श की मान्यता चाहता था । इसके उपरान्त उसकी अभिलाषा उन परिस्थितियों के उत्पन्न करने की थी जिनमें संसार युद्धों को सदैव के लिये भुला दे और मानवीय स्तर पर स्वार्थ-रहित सुख तथा शान्ति संसार को व्याप्त करले । इन परिस्थितियों को उत्पन्न करने के लिये उसने 'नस्ति हि क्रमतर सव्रलोक हितेन'. के आदर्श को संसार के सामने रखा । वह जानता था कि विश्वास देकर विश्वास प्राप्त करना कितना सुगम है । इसी कारण उसने अपने देश के समान ही विदेशों में भी अपनी लोक मंगलकारी योजनाओं को प्रस्तुत किया । उसने निःस्वार्थ भाव से चोड, पाण्डय, सत्यपुत्र, केरल-पुत्र, ताम्रपर्णी तथा अन्तियोक और उसके पड़ोसी राज्यों में निःशुल्क चिकित्सा की व्यवस्था की (शि० ले० २) । उसकी इस महान् विश्व बन्धुत्व की भावना में मनुष्यों के साथ पशुओं का भी समान स्थान था । उसने यही व्यवस्था पशुओं के प्रति भी की थी । संसार के इतिहास में मानवीय स्तर पर चिकित्सालयों की स्थापना का यह प्रथम महान् प्रयास था । अपने इस प्रयास द्वारा अशोक ने पशुओं को भी जो जीवन दान दिया और मानव की भावनाओं में उसने पशुओं के प्रति जिस करुणा तथा सहानुभूति का संचार किया, उसके प्रति पशु भी सदैव अशोक के ऋणी रहेंगे । अशोक की इस व्यावहारिकता ने पाश्चात्य भौतिकवादी विचार-धारा में भी क्रान्ति उत्पन्न कर दी । वे भी शक्ति के स्थान पर अहिंसा को

अपनी भावनाओं के अधिक निकट अनुभव करने लगे। इसी अहिंसा पर आधारित अशोक का धर्म भी उन्हें रुचिकर प्रतीत होने लगा। उन्होंने अशोक के धर्म में उस मानवीय धर्म के दर्शन किये जिसका उद्देश्य परिवार, सम्बन्धियों तथा मानव-जाति में उचित सम्बन्धों की स्थापना करना था। अशोक ने अपने धर्म को साम्प्रदायिकता के विष से विषाक्त न होने दिया। उसके अनुसार धर्म का आधार चरित्र है न कि पूजा पाठ का आडम्बर (शि० ले० ९)। उसका उपदेश था दानों में सर्वश्रेष्ठ दान चरित्र का दान है न कि भौतिक तथा नाशवान वस्तुओं का (शि० ले० ११)। अशोक के धर्म का यह व्यवहारिक रूप पश्चिम ने भी सहर्ष स्वीकार कर लिया। पश्चिम पर भारतीय दर्शन की यह महान् विजय थी। अपनी इस विजय द्वारा अशोक ने यह सिद्ध कर दिया कि अहिंसा में शक्ति के विरुद्ध कही अधिक क्षमता है और पूर्व तथा पश्चिम के अन्तर को सहज ही मानवीय स्तर पर मिटाया जा सकता है। आज भी अशोक की यह नीति अनुकरणीय है। यह अवश्य है आज यू० एन० ओ० अशोक द्वारा निर्देशित सिद्धान्तों को अपनाकर ही विश्व में स्थाई शांति की स्थापना का प्रयास कर रहा है, किन्तु अभी तक वह अशोक के समान सफलता प्राप्त करने में असफल सी रहा है। इस असफलता का कारण वह स्वार्थ है जो उसके शक्तिशाली सदस्य त्यागने में असमर्थ हैं। वे मानवीयता के स्तर पर जिस सहानुभूति का प्रदर्शन कर रहे हैं उसमें उस नैतिकता का अभाव है जो अशोक की नीति का आधार थी।

अशोक की नीति का नैतिक आधार—

(क) प्रशासनीय तथा

(ख) धार्मिक

(क) प्रशासनीय स्तर पर वह स्वयं को प्रजा का ऋणी मानता है (शि० ले० ६)। इस ऋण से उऋण होने के प्रति वह अधिक से अधिक परिश्रम करता है। इस कठिन परिश्रम के उपरान्त भी उसे सन्तोष नहीं होता। वह अपने असन्तोष के लिये प्रतिवेदकों की नियुक्ति करता है और आज्ञा देता है कि वे उसे प्रत्येक समय तथा प्रत्येक स्थान पर प्रजा की आवश्यकताओं से सूचित करें (शि० ले० ६)। वह नहीं चाहता कि उसकी प्रजा को लेशमात्र भी दुःख होने पावे। वह प्रजा का दुःख देख भी कैसे सकता था क्योंकि वह स्वयं को प्रजा का पिता मानता है। पुत्रवत् प्रजा के सुख के लिये वह जिन अधिकारियों की नियुक्ति करता है उन्हें भी वह धाय मानता है। वह कहता है "जिस प्रकार कोई

मनुष्य अपने पुत्र को निपुण धाई के हाथ में सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है (और सोचता है कि), यह धाय मेरे पुत्र को सुख पहुंचाने की भरपूर चेष्टा करेगी, उसी प्रकार लोगों के हित और सुख पहुंचाने के लिए मैंने रज्जुक नाम के कर्मचारी नियुक्त किये है" (स्त० ले० ४)। वह धर्ममहामात्रों की नियुक्ति भी इसी उद्देश्य से करता है। जातीयता तथा साम्प्रदायिकता उसके मार्ग में बाधक नहीं बनती। उसके धर्ममहामात्र उनके साम्राज्य तथा बाहर की स्वतंत्र शक्तियों के राज्यों में, सभी सम्प्रदाओं के हित के लिये नियुक्त किये गये थे। इस सम्बन्ध में अशोक कहता है "ये यवन, काम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिक पीतीनिक तथा पश्चिमी सीमा (पर रहने वाली अन्य जातियों के) हित और सुख के लिये सब सम्प्रदायों के बीच में नियुक्त हैं। वे स्वामी और सेवकों, ब्राह्मणों और धनवानों, अनाथों और वृद्धों के बीच उनके हित और सुख के लिये तथा धर्मयुक्त (नामक राजकर्मचारियों) की रक्षा के लिये नियुक्त है · ···(शि० ले० ५)।

अशोक के उपर्युक्त प्रशासनीय सुधारों तथा घोषणाओं से सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि उसका शासन, शासक और शासित के सम्बन्धों पर आधारित न होकर, पिता और पुत्र के सम्बन्धों पर आधारित था। इस सम्बन्ध में मानवीय स्तर पर विदेशियों का भी वही स्थान था जो उसकी प्रजा का। प्रशासनीय स्तर पर नैतिकता की यह ऐसी पराकाष्ठा थी जिसके प्रभुत्व से जातीयता तथा साम्प्रदायिकता की दीवालें जर्जर हो गई थीं और मानवीयता अपने अलौकिक रूप में निखर पड़ी थी। यह अशोक की नैतिकता का ही प्रभाव था कि उसके राज्याधिकारी भी अपने को शासक न मानकर प्रजा का सेवक मानने लगे थे।

(ख) धार्मिक क्षेत्र में अशोक की नीति धार्मिक सहिष्णुता की नीति थी। अशोक कट्टर बौद्ध धर्मानुयायी था और उसके जीवन का उद्देश्य भी इस धर्म का विश्व में प्रचार करना था। उसे अपने उद्देश्य में सफलता भी मिली। गंगा की घाटियों में सीमित बौद्ध धर्म उसके प्रयासों से राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बन गया। विश्व के इतिहास में धर्म, प्रचार के क्षेत्र में इतनी सफलता किसी भी सम्राट को नहीं प्राप्त हुई जितनी अशोक को और वह भी जब उसका प्रचार अहिंसात्मक ढंग से किया गया। अशोक की इस महान् सफलता का कारण भी नैतिक स्तर पर आधारित उसकी धार्मिक नीति है। उसने धर्म-प्रचार के लिये कभी अन्य धर्मावलम्बियों के साथ अनुचित व्यवहार नहीं किया। उसकी धारणा थी, जो व्यक्ति अन्य धर्मों की अकारण निन्दा करते है वे स्वयं अपने कार्यों से अपने धर्म को ठेस पहुंचाते हैं (शि० ले० १२)। उसकी तो इच्छा थी कि समस्त सम्प्रदाय मिलकर रहें। मिलकर रहने से अशोक के अनुसार चार गुणों की

प्राप्ति होती है । १—विभिन्न धर्मों का सार ज्ञात होता है २—विचार-हीन आलोचना से मुक्ति प्राप्त होती है ३—विभिन्न धर्मों के सिद्धांतों का ज्ञान प्राप्त होता है तथा ४—विभिन्न धर्मावलम्बियों के एक साथ मिलकर विचार करने से दृष्टिकोण विस्तृत होता है (शि० ले० १२) । अशोक का यह उदार दृष्टिकोण जितना ही मानवीय है उतना ही नैतिक भी । इसी नैतिक स्तर पर वह धर्मों से सम्बन्धित व्यर्थ की आडम्बरमय क्रियाओं का घोर विरोध करता है । धर्म के अन्तर्गत वह चाहता है कि लोग सच बोलें, चोरी न करें, हिंसा न करें, दीन दुखियों की सहायता करें, माता पिता तथा गुरु की आज्ञा मानें, मित्रों तथा सम्बन्धियों का उचित सत्कार करें, ब्राह्मणों तथा श्रमणों का आदर करें एवम् क्रोध, मोह आदि पापों से बचकर रहें (स्त० ले० ७ तथा लघु शि० ले० २) । अशोक के ये नियम, मानव के नैतिक जीवन से सम्बन्धित हैं और धर्म को मानव से ऊपर, उस पर शासन करने वाली वस्तु के स्थान पर उसके दैनिक व्यवहार में काम आने वाली वस्तु के रूप में परिणत कर देते हैं ।

अशोक ने प्रशासनीय तथा धार्मिक क्षेत्रों में जिस प्रकार मानव को अपना नैतिक स्तर ऊँचा उठाने की प्रेरणा दी वह विश्व के इतिहास में अन्यत्र दिखाई नही देती । अशोक की इन महान् भावनाओं और उसकी क्रियात्मकता के परिणामस्वरूप ही, अशोक का परिचित संसार उस बन्धुत्व, सुख तथा संतोष का अनुभव कर सका, जिसे आज हम प्राप्त करने की इच्छा होते हुये भी प्राप्त करने में असमर्थ है । हमारी असफलता का एक कारण भी है और वह है हमारा नैतिक दृष्टिकोण । क्या आज शासन का उद्देश्य प्रत्येक जाति तथा व्यक्ति का हित है ? क्या आज हमारी सहानुभूति का आधार मानवीयता है ? क्या हमने अपनी साम्राज्यवादी लिप्साओं का अन्त कर दिया है और नैतिक स्तर पर दुर्बलों तथा पददलित जातियों की रक्षा करने का उत्तरदायित्व स्वीकार कर लिया है और अन्त में क्या हमने साम्प्रदायिकता का नाश कर दिया है ? इन प्रश्नों का उत्तर है "नही "। यदि हमने इन नेत्रों में सफलता प्राप्त कर ली होती उस दशा में विश्व द्वितीय महायुद्ध में सहस्रों ही व्यक्तियों की आहुति देकर तीसरे महायुद्ध की तैयारी में संलग्न न होता, न ही काले-गोरे का प्रश्न मानवता को कलंकित करता और न ही उपनिवेशवाद मानव को दासता का रूप प्रदान करता और न ही हम सहानुभूति की ओट से स्वतन्त्र राज्यों में शांतिपूर्ण दखल प्राप्त करने की चेष्टा करते । आज के विश्व में होने वाली घटनायें इन सत्यों की पुष्टि कर देती हैं । वे मानो अप्रत्यक्ष रूप में यह भी कह देती हैं

कि आज का विश्व अपनी मानवीयता तथा नैतिकता में अशोक के समय से उतना ही पीछे है जितना हम समय के स्तर पर अशोक के समय से आगे हैं।

अशोक का स्थानः—

अशोक अपने शौर्य, त्याग, बलिदान, दानशीलना तथा उदारता के कारण विश्व के इतिहास की एक अनोखी समस्या बन गया है। संसार के महान् व्यक्तियों में उसके स्थान को लेकर मतों का एक संघर्ष सा उठ खड़ा हुआ है।

कान्स्टेनटाइन :—

अनेकों पाश्चात्य विद्वान अशोक की तुलना कान्स्टेटाइन से करते हैं। इन विद्वानों में रैपसन तथा हार्डी प्रमुख हैं। इन विद्वानों के अनुसार कान्स्टेनटाइन तथा अशोक दोनों ने ही अपने-अपने धर्मों को राजकीय संरक्षण प्रदान किया और उसका प्रचार भी किया। किन्तु इस बाह्य-रूप से ही हम दोनों को समान नहीं मान सकते। प्रथम तो जिस समय कान्स्टेटाइन ने ईसाई धर्म को संरक्षण प्रदान किया उस समय तक वह अत्यधिक उन्नति कर चुका था। इस उन्नति से प्रायः धर्म का प्रचार करने में उसे उन कठिनाइयों का अनुभव नहीं करना पड़ा जो अशोक को करना पड़ा था। अशोक नें जिस धर्म को संरक्षण प्रदान किया था वह अपने शैशव काल में था। उसकी सत्ता गंगा की घाटियों में सीमित थी। इस सीमित क्षेत्र को एक विशाल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में परिणित करके, अशोक ने बौद्ध धर्म को जो गौरव प्रदान किया, वह कान्स्टेटाइन ईसाई धर्म के प्रति कभी न कर सका। इसके अतिरिक्त अपने धर्म का प्रचार करने में कान्स्टेनटाइन के समान अशोक का कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं था। कान्स्टेटाइन ने ईसाई धर्म को संरक्षण राजनीतिक तथा सामाजिक कारणों से प्रदान किया था। ईसाई सम्प्रदाय के अतिरिक्त उसकी उदारता से अन्य सम्प्रदाय कोई भी लाभ न उठा सके। इसके विपरीत अशोक ने राजनीतिक तथा सामाजिक स्तर पर अपने किसी व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के प्रति बौद्ध-धर्म को संरक्षण प्रदान नहीं किया था और फिर उसने जीवन पर्यन्त जो भी पराक्रम किया उसका उद्देश्य मानव जाति का हित था। जहाँ जीवन के अन्तिम काल में कान्स्टेनटाइन की श्रद्धा अपने धर्म से विचलित सी हो गई थी और वह मूर्ति पूजा की ओर आकर्षित होने लगा था, वहाँ जीवन के साथ, अशोक की श्रद्धा अपने धर्म के प्रति दृढ़ होती गई थी, यहाँ तक कि अन्त में उसने अपना सम्पूर्ण साम्राज्य ही बौद्ध संघ को दान दे दिया था। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अपने

विशाल दृष्टिकोण, निस्वार्थ तथा दृढ़ श्रद्धा के कारण अशोक कन्स्टेनटाइन से कहीं ऊँचा उठ जाता है।

मार्कस औरिलियस :—

अनेकों विद्वान् अशोक की तुलना मार्कस औरिलियस से करते हैं। अशोक के समान मार्कस औरिलियस भी एक सम्राट था। रोमन सम्राट मार्कस औरिलियस भी अशोक के समान आदर्शवादी था। उसका जीवन भी अत्यन्त सरल था। इन गुणों के होते हुए भी रोमन सम्राट अशोक की समता नही कर सकता। जहाँ अशोक सब सम्प्रदायों के सार की वृद्धि को अपने जीवन का उद्देश्य मानता है, सभी सम्प्रदायों को समान रूप से सहायता करता है, मनुष्य तो क्या वह पशुओं तक की हिंसा का निषेध करता है, वहाँ मार्कस औरिलियस ईसाई धर्मानुयायियों के बध में सन्तोष अनुभव करता था। उसके प्रति रोमन साम्राज्य प्रमुख था और वह रोमन प्रभुत्व की स्थापना के लिये समस्त मानव जाति का सहज ही बलिदान कर सकता था। इसके विपरीत बौद्ध धर्मानुयायी अशोक के प्रति मानव का हित प्रमुख था। वह कहता भी है "नस्ति हि क्रमतर सव्रलोक हितेन" (समस्त विश्व का हित करने से बढ़कर अन्य करणीय कार्य कोई नहीं है)। जहाँ मार्कस औरिलियस अपने विरोधियों को शक्ति से नष्ट करना न्याय संगत मानता है, वही अशोक विद्रोहियों को दया, प्रेम, करुणा तथा क्षमा से सुधारने का आदेश देता है। अतः स्पष्ट है कि मार्कस-औरिलियस भी अशोक की समता करने में पूर्ण असमर्थ है।

एल्फ्रेड:—

मैकफ़िल महोदय एल्फ्रेड के साथ अशोक की तुलना करते हैं। वे कहते हैं कि न्याय, शिक्षा तथा धर्म के क्षेत्रों में अशोक तथा एल्फ्रेड समान हैं। यह सत्य है कि एल्फ्रेड एक महान् शासक था और उसने न्याय की स्थापना, शिक्षा की उन्नति तथा धर्म के प्रचार के प्रति अत्यधिक पराक्रम किया और इन क्षेत्रों में अपनी सफलताओं के लिये वह अंग्रेज़ जाति के एक महाकाव्य का नायक भी बन गया है। किन्तु उसका यह पराक्रम अशोक के पराक्रम की समता नहीं कर सकता। अशोक का पराक्रम समस्त मानव जाति के हित की भावना पर आधारित है। उसके द्वारा देश तथा विदेशों में चिकित्सालयों की स्थापना, इस सत्य का प्रमाण है। इसके विपरीत एल्फ्रेड का कार्य-क्षेत्र सीमित था। उसके जीवन का उद्देश्य अंग्रेज़ जाति का हित था। वह अपने को इस सीमित क्षेत्र से ऊपर मानवीय स्तर पर कभी न उठा सका। एल्फ्रेड तथा अशोक के

कार्य-क्षेत्रों का यह अन्तर उनके उद्देश्यों तथा कार्यो का अन्तर है। जहाँ अशोक मानव जाति का गौरव है वहाँ एल्फ्रेड केवल अंग्रेज जाति का। अतः न्याय, शिक्षा तथा धर्म के क्षेत्रों में एल्फ्रेड कभी भी अशोक की समानता नहीं कर सकता।

सैनिक-क्षेत्र में एक विजेता के रूप में भी एल्फ्रेड अशोक की समता नहीं कर सकता। यह अवश्य है कि एल्फ्रेड एक वीर सैनिक तथा कुशल सेनानायक था और उसने इन क्षेत्रों में महत्वपूर्ण सफलतायें प्राप्त की थीं, किन्तु इतना होने पर भी उसकी विजयों से मानव जाति को कोई लाभ न पहुंचा। मैकफ़िल के अनुसार एल्फ्रेड द्वारा ब्रिटिश जल सेना का निर्माण ही उसे स्थायी गौरव का पात्र बना देता है। किन्तु एल्फ्रेड का यह गौरव भी सीमित है। ब्रिटिश जल-सेना के निर्माण से संसार को क्या लाभ हुआ? इस शक्ति के निर्माण ने तो मानव-जाति की अत्यधिक हानि ही की। उपनिवेशवाद के इतिहास का प्रारम्भ जल-शक्ति के विकास के साथ ही हो जाता है। अंग्रेजों ने भी इस शक्ति के द्वारा उपनिवेशों की स्थापना की, किन्तु इस स्थापना के साथ ही मानव द्वारा मानव के शोषण का इतिहास भी प्रारम्भ हो गया। इस प्रकार मैकफ़िल के अनुसार जिस जल-शक्ति का निर्माण एल्फ्रेड का स्थायी गौरव है, वास्तव मे वह गौरव उन अमानुषिक घटनाओं का परिचायक है जिसे मानवता कभी भी क्षमा न करेगी।

एल्फ्रेड के समान अशोक भी एक वीर सैनिक तथा कुशल सेनानायक था, कलिंग की विजय उसके इन गुणों की परिचायक है। यह अवश्य है अशोक का सैनिक जीवन एल्फ्रेड की अपेक्षा शीघ्र समाप्त हो गया, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इस क्षेत्र में एल्फ्रेड अशोक से महान् था। अपने जीवन मे निरन्तर शस्त्र का प्रयोग करने के उपरान्त भी एल्फ्रेड ने जिस साम्राज्य का निर्माण किया वह अशोक के साम्राज्य से कहीं छोटा था। जहाँ एल्फ्रेड की सत्ता इग्लैण्ड तक ही सीमित थी वहाँ अशोक का आध्यात्मिक साम्राज्य समस्त विश्व में फैलता जा रहा था। अशोक को इस साम्राज्य के निर्माण के लिये शस्त्र नही उठाने पड़े थे। जल-शक्ति वैसे तो अशोक के पास भी थी, किन्तु अशोक ने इसके स्थान पर जो शक्ति भारत को प्रदान की थी, वह एल्फ्रेड की जल-शक्ति से कहीं महान् थी। उसकी यह शक्ति धर्म पर आधारित अहिंसा, प्रेम, करुणा तथा दया के सिद्धान्तों में निहित है। जहाँ ब्रिटिश जाति ने एल्फ्रेड के उपहार का प्रयोग मानव को दास बनाने के प्रति किया, वहीं भारत ने अशोक द्वारा प्रदान की गई शक्ति का प्रयोग मानव जाति के अंधकार का नाश कर उसे प्रकाश मे

लाने के लिये किया। एल्फ्रेड यथा अशोक की इन शक्तियों में कौन सी शक्ति महान् है इसका अनुमान इस सत्य से ही लग जाता है कि एल्फ्रेड की शक्ति पर आधारित इग्लैण्ड का गौरव अस्त सा होता जा रहा है, जबकि अशोक की शक्ति पर आधारित भारतीय संस्कृति के गौरव की पताका आज भी विश्व को अहिंसा, करुणा तथा प्रेम के सन्देश से आत्म-विभोर कर रही है। अतः स्पष्ट है कि अशोक एल्फ्रेड से कहीं अधिक उच्च था। अशोक की चिर-स्थायी महानता तथा गौरव के आगे तो एल्फ्रेड का गौरव नगण्य सा प्रतीत होता है।

कार्लिमेगन :—

पाश्चात्य विद्वान कार्लिमेगन से भी अशोक की तुलना करने का साहस कर बैठे है। यह अवश्य है कि कार्लिमेगन की शासन प्रणाली अशोक की प्रणाली से बहुत कुछ मिलती है, किन्तु इसी साम्य के आधार पर दोनों की तुलना नही की जा सकती। साम्राज्य के लिये शासन प्रणाली का महत्व अवश्य है, किन्तु वास्तविक महत्व तो उस नीति तथा भावना का है जिससे यह प्रणाली संचालित होती है। दोनों ही शासकों की शासन-प्रणाली लगभग समान होते हुये भी, दोनों की संचालन विधि का अन्तर इस सत्य से स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ अशोक के अधिकारी स्वयं को प्रजा का सेवक मानते हुये अहिंसात्मक उपायों द्वारा उनका हित-सम्पादन करने में प्रयत्नशील थे, वही कार्लिमेगन के अधिकारी सैनिक शक्ति द्वारा देश में व्यवस्था स्थापित कर रहे थे।

धर्म के क्षेत्र मे भी कार्लिमेगन अशोक की समता नही कर सकता। अशोक की धार्मिक नीति सहिष्णुता की नीति थी। इसके विपरीत कार्लिमेगन की नीति धर्मान्धता की नीति थी। जहाँ अशोक प्रेम और करुणा का सन्देश देकर विश्व में बौद्ध धर्म का प्रचार कर रहा था, वहीं कार्लिमेगन शस्त्र की हिसात्मक वृत्ति का प्रयोग कर लोगों को ईसाई धर्म का अनुयायी बना रहा था। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि धर्मान्ध तथा हिंसात्मक शक्तियों का पुजारी कार्लिमेगन अशोक की उदारता तथा मानवीयता के समक्ष किसी सीमा तक नहीं ठहर सकता। अशोक से उसकी तुलना करना अशोक का जैसे अपमान करना है।

ख़लीफ़ा ओमर :—

ख़लीफ़ा ओमर प्रथम से भी अशोक की तुलना नही की जा सकती। यह अवश्य है ओमर एक शक्तिशाली शासक था। उसकी शक्ति की धाक उसके साम्राज्यों की सीमाओं से बाहर भी शासकों को आंतकित करने के लिये पर्याप्त

थी। ओमर ने समय की माँग को ठुकराकर विशाल साम्राज्य का निर्माण नहीं किया था। उसका यह कार्य उसे एक दूरदर्शी शासक सिद्ध कर देता है। इन गुणों से ओत-प्रोत होते हुये भी ओमर अशोक के समान मानव जाति तो दूर रही अपनी प्रजा का भी विश्वास पात्र न बन पाया। राजनीति में उसका उद्देश्य कुलीनतन्त्र की स्थापना था। वह अमीरों के स्वार्थों पर मजदूरों तथा निर्धन व्यक्तियों के स्वार्थों का निःसंकोच बलिदान करता था। मजदूरों का धन छीनकर राजकोष भरना तो जैसे एक मामूली सा और न्यायसंगत कार्य था। ऐसा संकुचित दृष्टिकोण वाला व्यक्ति किस प्रकार अशोक से सम्राट् की समता कर सकता है ? अशोक, जिसके प्रति मूक पशु-पक्षी भी उतने ही महत्वपूर्ण थे जितने मनुष्य, अपनी तुलना में निश्चय ही ओमर को उसी प्रकार पीछे छोड़ जाता है जैसे वायु एक त्रण को।

अकबर :—

अनेकों पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने अकबर को अशोक की तुलना में खड़े करने का दुःसाहस किया है। अपने दुःसाहस की पुष्टि के लिये वे अकबर की उदार धार्मिक नीति तथा उसके द्वारा दीनइलाही की स्थापना का उदाहरण प्रस्तुत करते है। यह अवश्य है अकबर ने अपनी धार्मिक नीति के अन्तर्गत हिन्दुओं से लिया जाने वाला जज़िया बन्द कर दिया, उन्हें अपने धर्म-पालन के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की, साथ ही उसने हिन्दू-मुस्लिम-कटुता दूर करने के प्रति मानवीय स्तर पर दीन-इलाही नामक एक नये धर्म की स्थापना भी की, किन्तु उसके इन समस्त कार्यों का आधार क्या था ? क्या इनका आधार वह निर्मल प्रेरणा है जिसमें अशोक के विश्व-बन्धुत्व की भावना छिपी है ? उत्तर स्पष्ट है—'नही'। अकबर एक महत्वाकाँक्षी शासक था। वह भारत में एक दृढ़ मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना करना चाहता था। दिल्ली के सुल्तान अभी तक अमीरों और उलमाओं के हाथ के खिलौने रहे थे और उनका यह प्रभुत्व भी शासकों के अस्तित्व के प्रति सदैव घातक सिद्ध हुआ था। अकबर इस प्रभुत्व का भी नाश करना चाहता था। दूरदर्शी तथा कुशल राजनीतिज्ञ होने के नाते अकबर ने यह भी अनुभव कर लिया था कि देश के बहुसंख्यक हिन्दू और उनकी सैन्य शक्ति राजपूत जाति का समर्थन प्राप्त कर ही, वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति कर सकता है। इस समर्थन की प्राप्ति भी तभी सम्भव थी जब अकबर हिन्दुओं के प्रति उदार नीति का प्रयोग करे। उदार नीति के प्रयोग का अर्थ था हिन्दुओं को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करना। अपनी साम्राज्यवादी लिप्साओं की

पूर्ति तथा वंश के दृढ़ स्थायित्व के प्रति अकबर ने उदार धार्मिक नीति को अपनाया। धर्मान्ध उलमाओं ने अकबर के विरुद्ध विद्रोह खड़ा किया। विद्रोह राजपूतों की सहायता से दबा दिया गया, किन्तु अकबर के सामने उलमाओं का अस्तित्व एक समस्या बन गया। उसने कूटनीतिक स्तर पर इस समस्या का भी समाधान कर डाला। उल्माओं की शक्ति को तोड़ने के लिये उसने मानवीय स्तर पर दीन-इलाही नामक एक धर्म की स्थापना की जिसकी सदस्य-संख्या अन्त तक १८ से अधिक कभी नही हो सकी। यह अवश्य है कि अकबर अपनी उदारता में राजनीतिक महत्वाकाँक्षाओं के साथ, अपने सूफी तथा हिन्दू सभासदों एवम् कबीर, नानक तथा चैतन्य के उपदेशों द्वारा निर्मित वातावरण से भी प्रभावित हुआ था, किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि अशोक के समान उसका धर्म और उदारता मानवीयता की निर्मल प्रेरणा पर आधारित न थी। वह अपने व्यक्तित्व को, यश की अभिलाषा को तथा शक्ति के प्राप्त की बलवती स्पृहा को कभी भी अपने से अलग न कर सका। यही कारण है कि स्मिथ के अनुसार उसकी "मूर्खता का स्मारक दीन-इलाही" भी उसकी मृत्यु के साथ ही समाप्त हो गया। अकबर के विरुद्ध अशोक की उदारता न तो राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति का परिणाम थी और न वह उसकी यश की अभिलाषा पर आधारित थी। वह तो उस भावना का परिणाम थी जिसे मानवीयता ने लोक कल्याण के लिये उसके हृदय में जागृत कर दिया था। अतः स्पष्ट है कि अकबर से भी अशोक की तुलना नहीं की जा सकती।

सिकन्दर, सीज़र, तथा नेपोलियन :—

उपर्युक्त महान् पुरुषों के अतिरिक्त विद्वानों ने अशोक की तुलना सिकन्दर, सीज़र तथा नेपोलियन से करने का प्रयास किया है। सिकन्दर अशोक के समान वीर, साहसी तथा कुशल सेनानायक अवश्य था, किन्तु उसमें उस दूरदर्शिता, मानवीयता तथा लोकमंगलकारी भावनाओं का पूर्ण अभाव था जिनसे अशोक ओत-प्रोत था। समय की मांग के विरुद्ध उसने यूनान से भारत तक एक विशाल साम्राज्य की स्थापना अवश्य कर ली थी, किन्तु वह इस साम्राज्य के स्थायित्व के प्रति कोई भी शासन-प्रणाली प्रदान न कर सका। परिणाम स्वरूप उसका साम्राज्य निर्माण के साथ ही छिन्न-भिन्न हो गया और वह मानवीय रक्त जिस की आहुति इस साम्राज्य के निर्माण के लिये दी गई थी व्यर्थ ही गया। वह जीवन पर्यन्त संघर्षों में ही व्यस्त रहा और उसकी प्रत्येक हिंसात्मक सफलता के साथ उसका अभिमान तथा नृशंसता बढ़ती ही गई। उसने विश्व के इतिहास में

यूनानियों का एक नृशंस जाति के रूप में परिचय कराया । ऐसा व्यक्ति किस प्रकार अशोक की तुलना में पल भर भी रुक सकता है ? अतः स्पष्ट है कि अशोक की तुलना सिकन्दर से की ही नहीं जा सकती ।

सीज़र के साथ अशोक की तुलना करना तो अशोक का अपमान करना है । सीज़र भौतिक ऐश्वर्य की आंकाक्षाओं तथा काम-वासनाओं का दास था । मिश्र की रानी क्लिओपेटरा से उसका अनुचित संबन्ध उसमे काम-वासनाओं के अस्तित्व का प्रमाण है । संयम-हीन सीज़र नैतिकता का अर्थ कभी जान ही न पाया । उसकी मृत्यु भी उसकी आंकाक्षाओं का परिणाम थी । इसके विपरीत अशोक का जीवन पूर्णतया सयंमित जीवन था । नैतिकता तथा मानवीयता उस मे कूट-कूट कर भरी थी । ऐश्वर्य अशोक के लिये प्रजा का हित-साधन था और उसकी आकांक्षा यदि कोई थी तो यही कि वह अंत तक लोक-कल्याण करता रहे । इस प्रकार अशोक की तुलना सीजर से भी नही की जा सकती ।

नेपोलियन से अशोक की तुलना की कल्पना ही अनोखी है । नेपोलियन यूरोप का एक ऐसा अभागा नायक है जिसके जीवन का कोई भी क्षण उसकी महानता का प्रदर्शन नहीं करता । बिना जल-सेना के शक्तिशाली बनाये हुये इगलैण्ड-विजय के स्वप्न देखना, इगलैण्ड के व्यापार को कान्टीनेन्टल सिस्टम द्वारा नाश करने की योजना बनाना, मिश्र तथा भारत विजय की कल्पना करना, यदि उसके पागलपन के परिचायक नहीं तो क्या हैं ? उसका जाड़ों में रूस पर आक्रमण तथा स्पेन में स्पेन के सम्राट् के स्थान पर अपने भाई को सम्राट् बनाने की उसकी नीति, उसकी अदूरदर्शिता का ही परिचय देती है । उसमें दूरदर्शिता तथा राजनीतिज्ञता के अभाव के परिणामस्वरूप ही उसका विशाल साम्राज्य उसके जीवन-काल में ही नष्ट हो गया और यूरोप के इस महान् व्यक्ति को बन्दीगृह में अपने जीवन के अन्तिम दिन काटने पड़े । ऐसे व्यक्ति से दूरदर्शी, राजनीतिज्ञ तथा लोक-मंगलकारी भावनाओं से ओत-प्रोत सम्राट अशोक की तुलना करना इस विश्व की महान् विभूति का अपमान करना है । विश्व की मानवीयता इस दु:साहस को कभी क्षमा न करेगी ।

निष्कर्ष :—

उपर्युक्त विश्व के महान् सम्राटों के चरित्र तथा कार्यों के अध्ययन से सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि अशोक की तुलना में सभी पीछे छूट जाते हैं और अशोक सहज ही श्री एच० जी० वेल्स के शब्दों में "संसार का महानतम सम्राट्" की उपाधि प्राप्त कर लेता है । धर्म के क्षेत्र में मैकफिल जहाँ अशोक को दूसरा

बुद्ध कहता है और उसे उसकी आध्यात्मिकता, मानवीयता तथा उदारता के प्रति सेंट पौल के समीप खड़ा कर देता है, वहीं डाक्टर स्मिथ उपर्युक्त महान् विभूतियों को अशोक की तुलना में हेय मानते हुये स्पष्ट कह देते हैं कि यदि इन समस्त महान् विभूतियों के गुणों के चरम विकसित रूप को द्विगुणित कर एकत्र कर लिया जाय, तो सम्भवतः इन गुणों के एकत्रीकरण से निर्मित मानव से अशोक की तुलना की जा सके। डाक्टर स्मिथ की यह अनोखी कल्पना भी अशोक को संसार का महानतम सम्राट् घोषित कर देती है। वास्तव में मानवता का पुजारी अशोक मानवता की अमर निधि है। महानता उससे सम्मानित है और विश्व उसकी महानता की परम्पराओं से।